महावीर वाणी

श्रीचन्द रामपुरिया

महावीर वाणी

जैन विश्व भारती संस्थान प्रकाशन

महावीर वाणी

सपादक
श्रीचन्द रामपुरिया,
एडवोकेट

प्रकाशक : जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनूं - ३४१ ३०६
नागोर (राजस्थान)

द्वितीय आवृत्ति : १९९७

मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपए

मुद्रक : पंकज प्रिन्टर्स, दिल्ली-११० ०५३

आशीर्वचन

महावीर साधना काल में मौन रहे। उनका साधना काल साढ़े बारह वर्षों का था। उस अवधि में वे बोलने के रूप में नहीं बोले। क्योंकि वे भावी तीर्थंकर थे। वे तब तक बोलना नहीं चाहते थे जब तक उनका ज्ञान ही वाणी न बन जाए। उनकी साधना सफल हुई। अज्ञान का आवरण दूर हुआ। उनकी आत्मा ज्ञानमय बन गई। केवलज्ञान का सूर्य उगा। उनका आभामण्डल और अधिक आलोकित हुआ। उनकी वाणी स्फुरित हुई। पर उनकी अंतहीन ज्ञान रश्मियों को अभिव्यक्ति देना उनके लिए भी असंभव था। सत्य से पवित्र बनी और अनुभूतियों से छनकर निकली उनकी वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया। तीर्थंकर जितना बोले, उतना गणधर पकड़ नहीं पाए। उन्होंने जितना पकड़ा उतना सुरक्षित नहीं रह सका। जितना सत्य सुरक्षित रहा उसके आधार पर आगमों की रचना हुई। आज हमारे पास महावीर-वाणी का मूल स्रोत उनके गणधरों द्वारा गूंथे हुए आगम हैं।

महावीर-वाणी में निहित सत्य का आलोक लोक-जीवन तक पहुंचे, यह आवश्यक था। इसके लिए उसके सारभूत प्रसंगों को संकलित करने की योजना बनी। संकलनकर्त्ता की दृष्टि जितनी पारदर्शी होती है, संकलन उतना ही उपयोगी बन जाता है। संकलन करने वाला एक बार वाङ्मय बन जाए तो उसमें श्रेष्ठता लाई जा सकती है।

'जैन विद्या मनीषी' श्रीचंदजी रामपुरिया तेरापंथ समाज के गंभीर अध्ययनशील और विशिष्ट सूझ-बूझ वाले व्यक्ति हैं। स्वाध्याय और लेखन दोनों उनकी रुचि के विषय हैं। शोध परक दृष्टिकोण के साथ ये साहित्य के क्षेत्र में कार्यरत हैं। इन्होंने केवल जैन आगम और तेरापंथ साहित्य पर ही काम नहीं किया गीता, महाभारत, गांधी दर्शन आदि अनेक विषयों पर इन्होंने काफी काम किया है। दिन में सतत् स्वाध्याय करते हैं, रात्रि में एक बार सोकर उठने के बाद लगभग दो घंटे लिखते हैं। इनकी इस कार्य शैली को अवस्था भी प्रभावित नहीं कर सकी है।

भगवान् महावीर के २५सौवें निर्वाण महोत्सव पर रामपुरियाजी द्वारा संकलित महावीर वाणी पुस्तक का प्रकाशन हुआ। सरल भाषा में हिंदी अनुवाद साथ रहने से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई। पाठकों ने उसे पसंद किया। अब उसका दूसरा संस्करण सामने आने वाला है। पाठक महावीर-वाणी की गहराई में उतरकर अपने जीवन को नई दिशा देते रहें।

जैन विश्व भारती, लाडनूं
५ जनवरी १९९७

गणाधिपति तुलसी

भूमिका

भगवान महावीर का जन्म ई० पू० ५६६ में सुप्रसिद्ध वज्जी या लिच्छवी गणतंत्र की राजधानी वैशाली के क्षत्रिय कुण्डग्राम (बिहार) में हुआ। उनके पिता राजा सिद्धार्थ उस समय के वज्जी गणराज्य के शासकों में एक थे।

राजकीय परिवार में जन्म लेने तथा सभी प्रकार की सुख-सुविधा एवं साधन-सामग्री उपलब्ध होने के बावजूद महावीर ने तीस वर्ष की आयु में संसार-त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पाँच महाव्रतों को अंगीकार कर उन्होंने कठोर मुनि-जीवन की साधना की। आत्म-संयम, अप्रमाद (जागरूकता), अकषाय और समत्व की सतत् साधना उनके जीवन के अंग थे। साधना में आने वाले उपसर्ग और परीषहों को उन्होंने समभाव से सहन किया। भूख, प्यास, ठण्ड, गर्मी, दंश-मशक (मच्छर आदि के काटने) तथा अज्ञानी एवं अनार्य लोगों के द्वारा दी गई बर्बर यातनाओं को भी महावीर ने सम्पूर्ण समभाव के साथ सहन किया। बारह वर्षों की इस साधना के बाद में सर्वथा 'वीतराग' या 'जिन' बने तथा सम्पूर्ण निरावरण ज्ञान—केवलज्ञान (सर्वज्ञता) को उन्होंने प्राप्त किया। वे जैन धर्म के २४वें तीर्थंकर बने। जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म एक प्राग्ऐतिहासिक धर्म है तथा २३ तीर्थंकर भगवान महावीर से पूर्व हो चुके थे।

भारत की सर्वसाधारण जनता को तीस वर्ष तक धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों का उपदेश करने के बाद ७२ वर्ष की आयु में पावा में ई० पू० ५२७ में भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया। वे सभी बन्धनों और सांसारिक आवागमन से सदा-सदा के लिए मुक्त हो गये।

धर्म-सिद्धान्त

भगवान महावीर ने निम्न धर्म-सिद्धान्तों का अपने जीवन में पालन किया और लोगों को उनका उपदेश दिया—

अहिंसा : सभी प्राणियों और सभी जीवों को जीने का समान अधिकार है। सभी को जीवन पसंद है और मृत्यु नापसंद है। जब कोई किसी की हिंसा करता है, तो वह अपने-आप की ही हिंसा है। किसी भी प्राणी या जीव का हनन मत करो, किसी को घायल मत करो, किसी को दास मत बनाओ, किसी को पीड़ा मत दो, किसी का शोषण मत करो। सब के साथ मैत्री भाव रखो।

समानता : सभी मनुष्य समान हैं। कोई भी जाति अन्य जातियों से ऊंची नहीं है। कोई भी वर्ण अन्य वर्णों से ऊंचा नहीं है। कोई भी रंग अन्य रंग से ऊंचा नहीं है। जाति, वर्ण, रंग, लिंग के आधार पर किए जाने वाले सारे के सारे भेद मनुष्य-कृत हैं। किसी को भी अपने से हीन मत समझो।

सत्य की सापेक्षता और सह-अस्तित्व : सत्य अनेकान्तात्मक है—बहुपक्षी है। एक कथन किसी एक दृष्टि से सत्य है, तो उससे विपरीत कथन भी किसी अन्य दृष्टि से सत्य होता है। इसलिए दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों के बीच भी सामंजस्य की स्थापना का द्वार सदा खुला है। ऐकान्तिकदृष्टि को त्याग कर सभी के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व बनाए रखो।

आत्म-स्वातंत्र्य : तुम अपने भाग्य के निर्माता स्वयं हो। तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो। अपने सभी कर्मों तथा उनके फलों के उत्तरदायी तुम स्वयं हो। अपने पुरुषार्थ के द्वारा अपने-आप को बन्धनों से मुक्त करो।

आत्मवाद : आत्मा एक वास्तविकता है। उसका अस्तित्व शरीर से भिन्न है। अनादि काल से प्रत्येक आत्मा जन्म-मृत्यु के आवर्त में चक्कर लगा रही है। संसार-चक्र आत्मा के लिए दुःखमय है। जो आत्मा जन्म-मृत्यु रूपी संसार-चक्र से मुक्त हो जाती है, वह हमेशा के लिए सारे दुःखों को पार कर जाती है।

कषाय-मुक्ति : कषाय (राग और द्वेष) आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों के बन्ध का मूल हेतु है। ये कर्म-पुद्गल बहुत ही सूक्ष्म भौतिक पदार्थ रूप हैं। यह बन्ध ही आत्मा के दुःख का कारण है। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। इन वृत्तियों से विमुक्त होने वाला जीव, मोक्ष अर्थात् परमानन्द की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

साधना-मार्ग:

(१) सम्यग् ज्ञान—आत्म-तत्त्व का यथार्थ बोध।

(२) सम्यग् दर्शन—आत्मवाद के प्रति श्रद्धा।

(३) सम्यक् चारित्र—संयम-साधना अर्थात्—

(क) कषाय-जनित सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का परित्याग। हिंसा, असत्य, अप्रामाणिकता, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-आसक्ति—इन पांचों दुष्कर्मों का त्याग।

(ख) संयम के पालन में सतत् जागरूकता।

(ग) सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में सम्पूर्ण समता।

(घ) सम्यक् तप—ध्यान, स्वाध्याय, उपवास आदि शुभ प्रवृत्तियों द्वारा आत्मशुद्धि।

वर्तमान युग में सार्थकता

उक्त धर्म-सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए भगवान महावीर ने जिन प्रवृत्तियों के विरोध में आवाज उठाई, वे हैं—यज्ञ-याग में होने वाले प्राणी-वध, दास-प्रथा, जातिवाद, स्त्रियों को धर्म-साधना से वंचित रखना।

भगवान महावीर ने इस प्रकार की अनेक अमानवीय एवं अन्यायपूर्ण प्रवृत्तियों का विरोध किया, जो सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में प्रचलित थीं।

वर्तमान युग में निम्नलिखित मूल्यों की संस्थापना के संदर्भ में भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उक्त सिद्धान्तों की महत्ता व सार्थकता और भी अधिक है—

१. अहिंसा और निःशस्त्रीकरण द्वारा विश्व-मैत्री और विश्व-शान्ति की स्थापना।
२. शोषण और हिंसा-रहित सामाजिक-व्यवस्था।
३. परिग्रह-विसर्जन पर आधारित यथार्थ समाजवाद।
४. अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न धर्म-मतों, राजनैतिक दलों और जातीय (कौमी) विभागों के बीच सामंजस्य की स्थापना।
५. रागद्वेषरहित समता की साधना पर आधारित आध्यात्मिक विकास द्वारा मानसिक शान्ति की प्राप्ति।

भगवान महावीर की वाणी को संकलित करने के पिछले वर्षों में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयास हुए हैं। भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव महासमिति के प्रथम प्रकाशन के रूप में महावीर वाणी का यह संकलन प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। अपने ढंग के इस सुन्दर संकलन को तैयार करने में श्री श्रीचंद जी रामपुरिया ने जो अथक परिश्रम किया है, उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। यह ग्रन्थ दिगम्बर, श्वेताम्बर ग्रंथों से संकलित वाणी के आधार पर तैयार किया गया है; अतः इसका रूप सार्वजनीन है। मेरा विश्वास है कि संकलन अत्यन्त उपयोगी एवं लोक कल्याणकारी सिद्ध होगा।

महावीर निर्वाण दिवस
३ नवम्बर, १९७५
दीपावली
संवत् २०३२

शान्तिप्रसाद जैन
कार्याध्यक्ष
भगवान महावीर २५००वां निर्वाण
महोत्सव महासमिति, नई दिल्ली।

प्राक्कथन

भगवान महावीर के अनुसार आत्मा शाश्वत है। ज्ञान और दर्शन उसके लक्षण हैं। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख की शक्तियों से सम्पन्न है, पर कर्मों के आवरण के कारण सांसारिक प्राणी में वे प्रगट नहीं होतीं। भगवान् महावीर ने आवरण-विच्छिन्न सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा की सिद्धि—उपलब्धि का मार्ग बताया।

सांसारिक प्राणी के सुख-दुःख उसके स्वयंकृत हैं—उसके किये हुए अच्छे-बुरे कृत्यों के परिणाम हैं, अतः आत्मा को सत्प्रवृत्ति में नियोजित करना चाहिए और दुष्प्रवृत्ति से निवृत करना चाहिए। कण्ठछेद करनेवाला शत्रु भी वैसा अहित नहीं करता जैसा दुष्प्रवृत्त आत्मा अपने-आप का करती है। इस भूमिका में भगवान महावीर ने उपदेश दिया—अपने-आप के साथ ही युद्ध करो। बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या सिद्ध होगा? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतने से ही परमसुख की प्राप्ति होगी।

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ?
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए।।

आत्मा को शुद्ध रूप में उपलब्ध करने का मार्ग भगवान महावीर के अनुसार है—सर्व पापों का त्याग, अस्रवों का निरोध, संवर की साधना। उन्होंने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की युगपत् साधना से मोक्ष की उपलब्धि बताई है।

भगवान महावीर का उद्घोष था—"सच्चं भगवं"—सत्य भगवान् है। "सच्चं लोकम्मि सारभूयं"—सत्य लोक में सारभूत है। यहाँ उन्होंने वाचा-सत्य की बात नहीं कही है, परम सत्य की उपासना की चर्चा की है। उन्होंने मनुष्य-मात्र को सत्य के अन्वेषण में लगने की प्रेरणा दी—अप्पणा सच्चमेसेज्जा।"

सत्य की पूजा और भय विरोधी तत्त्व हैं। भगवान् महावीर ने सत्य की भावनाओं में कहा है—"न भाइयव्वं"—भय मत करो। "भीतो य भरं न नित्थरेज्जा"—भयभीत मनुष्य सत्य का भार नहीं ढो सकता। "सप्पुरिसनिसेवियं च मग्गं भीतो न समत्थो अणुचरिउं"—भयभीत मनुष्य सत्य के मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता।

भगवान् महावीर का उपदेश था—"मेत्तिं भूएसु कप्पए" प्राणिमात्र के साथ मैत्री साधो। "न विरुज्झेज्ज केणइ"—किसी के साथ वैर-विरोध मत करो। सब जीवों के प्रति संयम ही अहिंसा है—"अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।" "समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जगे"—शत्रु हो या मित्र—जगत् के सब जीवों के प्रति समभाव की साधना

करो। भगवान महावीर की अहिंसा मनुष्यों तक ही सीमित नहीं थी। उसकी परिधि में स्थावर प्राणी—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति तथा कीट-पतंग आदि क्षुद्र त्रस प्राणी भी समाहित थे। "अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए"—जीवों के जितने प्रकार हैं सबको आत्मा के समान मानो।

भगवान् महावीर ने कहा—"सव्वत्थ विरइं विज्जा, संति निव्वाणमाहियं"—त्रस, स्थावर सब जीवों की हिंसा से विरत होना अहिंसा है।

भयभीत प्राणी के लिए जैसे शरण-स्थल, पक्षी के लिए जैसे गगन, प्यासे के लिए जैसे जल, भूखे के लिए जैसे भोजन, समुद्र में डूबते हुए के लिए जैसे पोतवाहन, रोगी के लिए जैसे औषधि, अटवी में भटकते हुए के लिए जैसे सार्थवाह का साथ—उसी तरह अहिंसा मनुष्य के लिए कल्याणकारी है।

ब्रह्मचर्य के विषय में उन्होंने कहा—जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे मोक्ष पहुंचने में सबसे आगे रहते हैं—"इत्थिओ जे ण सेवंति आदिमोक्खा हु ते जणा।" ब्रह्मचर्य ध्रुव, नित्य और शाश्वत धर्म है—"एस धम्मे धुवे निअए सासए।"

उन्होंने धन-लिप्सा पर प्रहार करते हुए कहा था—प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में—"वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्था।" "जब तक मनुष्य कामिनी, कांचन आदि सचित्त, अचित्त पदार्थों में परिग्रह—आसक्ति रखता है या उसका अनुमोदन करता है तब तक वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।"

इस तरह भगवान् महावीर की वाणी में उन शाश्वत सत्यों का मार्मिक प्रतिपादन है, जो किसी भी युग में मानव-मात्र के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है।

भगवान महावीर की आस्था आन्तरिक शुद्धि पर थी, केवल बाह्य शुद्धि में उनको विश्वास नहीं था। उन्होंने कहा—जो मार्ग केवल बाह्य शुद्धि का है, उसे कुशल पुरुष सुदृष्ट नहीं कहते—"जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति।"

उन्होंने पशु-हिंसामय यज्ञादि का विरोध किया। जातिवाद के विरुद्ध उन्होंने कहा—"न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त (बड़ा)।" "जाति की विशेषता नहीं। विशेषता तप की है।" मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही वैश्य होता है और शूद्र भी कर्म से ही।" "जो दुराचारी है उसकी जाति व कुल शरणभूत—रक्षाभूत नहीं हो सकते। सुआचरित विद्या और आचरण—धर्म के सिवा अन्य कुछ भी रक्षा नहीं कर सकते।"

भगवान् महावीर अपने युग के बहुत बड़े दार्शनिक चिन्तक रहे। उनकी निरूपण शैली सम्पूर्णतः वैज्ञानिक रही। उन्होंने अनेकान्त दृष्टि का प्रसार कर सहिष्णुता और व्यापक दृष्टिकोण का पाठ पढाया।

इस ग्रंथ में भगवान् महावीर के मार्मिक उपदेशों का संग्रह है। प्रारंभ के १ से ३१ तक के परिच्छेदों में महावीर की सार्वभौम शिक्षाओं का संग्रह है, जो निर्विशेषरूप से मानव-मात्र के लिए आज भी उतनी ही मार्ग-दर्शक हैं जितनी २५०० वर्ष पूर्व रहीं। किसी भी जाति और धर्म के व्यक्ति के लिए, फिर वह गृहस्थ हो या गृह-त्यागी, ये उपदेश अमृतमय एवं कल्याणप्रद हैं।

३२ से ३५ तक के परिच्छेदों में उस वाणी का समावेश है जो जैन प्रव्रज्या की विशेषता—जैन श्रमण के महाव्रतों, उत्तर गुणों आदि पर प्रकार डालती है। जैन श्रमण-जीवन की अखण्ड, सूक्ष्म अहिंसा-साधना, दुर्धर संयम-उपासना और कठोर साधनचर्या का अंतरंग परिचय इससे प्राप्त होता है।

३६वें परिच्छेद में श्रमणों के लिए उपदेशों का संग्रह है, जिसमें सर्व-साधारण के लिए उपयोगी अनेक गंभीर शिक्षा-कण गर्भित हैं।

३७वें परिच्छेद से महावीर ने सर्वग्राही निरीश्वरवादी चिरंतन जैन दर्शन का जिस रूप में प्रतिपादन किया, उसका सहज बोध होता है।

अन्तिम ३८वें परिच्छेद में भगवान् महावीर ने अपने युग की बुराइयों और जड़ताओं के विरुद्ध जो तुमुल संग्राम किया, उसकी सहज झांकी है।

सन् १९५३ में प्रकाशित 'तीर्थंकर' नामक मेरी पुस्तक में भगवान महावीर के प्रवचनों का विस्तृत संग्रह प्रकाशित हुआ था, जिसे संत विनोबा ने सर्वोत्तम बताया था। वह केवल श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थों पर ही आधारित था। प्रस्तुत ग्रन्थ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों स्रोतों से संकलित वाणी से ग्रथित है, अतः अधिक व्यापक है।

इस ग्रन्थ के प्रस्तुत करने में जिन-जिन ग्रंथों का अवलोकन किया या आधार लिया है, उनकी सूची ग्रंथ के अन्त में दे दी गई है। मैं सभी लेखकों और प्रकाशकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूं।

स्वर्गीय मूर्धन्य विद्वान, जैन विद्या मनीषी डा० ए० एन० उपाध्ये—जिनके सद्य आकस्मिक निधन से जैन समाज की ही नहीं सारे विद्वान्-जगत की अपूर्ति-कर क्षति हुई है—के प्रति किन शब्दों में अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करूं ? उन्होंने तथा पंडित दलसुख भाई मालवणिया ने इस संकलन के प्रारूप का अवलोकन कर महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये, उसके लिए मैं इन दोनों महानुभावों का हृदय से कृतज्ञ हूं। भाई श्री यशपाल जैन ने भाषा सम्बन्धी सुझाव देकर संग्रह को परिमार्जित करने में सहयोग दिया। अन्त में भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव महासमिति के अध्यक्ष श्री कस्तूरभाई लालभाई ने सारी पाण्डुलिपि की छान-बीन कर अपने सुझाव एवं संशोधन भेजे तथा इस संकलन को प्रकाशित करने की स्वीकृति दी। इसके लिए मैं उनका भी हृदय से आभारी हूं।

कार्याध्यक्ष साहू श्री शांतिप्रसाद जी जैन की ओर से जो सौजन्य प्राप्त हुआ उसे नहीं भूल सकता।

महासमिति के महासचिव श्री अक्षयकुमार जैन एवं कार्यालय मंत्री श्री एल० एल० आच्छा के हार्दिक सहयोग बिना इस दुस्तर कार्य का पार पाना कठिन होता। उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद।

महासमिति द्वारा पाण्डुलिपि अक्टूबर के द्वितीय सप्ताह में ही प्रेस को दी जा सकी। पुस्तक के समय पर निकालने के लिए एक महीने से भी कम समय हाथ में रहा। अतः स्खलनाओं के लिए पाठक क्षमा करें और अपने सुझावों से उपकृत।

श्रीचन्द रामपुरिया

६बी, मदन चटर्जी लेन,
कलकत्ता ७।
महावीर निर्वाण दिवस
३ नवम्बर, १९७५
दीपावली सं० २०३२

विषय-सूची

१. अनुत्तर मंगल १-७
१. नमोक्कारो १
२. चत्वारि मंगल १
३. पंच परमेष्ठी स्वरूप २
४. पंच परमेष्ठी भक्ति २
२. उपदेश ८-१६
१. मा पमायए ८
२. असंस्कृतम् १०
३. रत्नत्रय का आदर करो १२
४. धर्म ही त्राण है १४
३. आत्मा : बंध और मोक्ष १७-२६
१. आत्मा १७
२. आत्मत्रय १८
३. बहिरात्मा २०
४. स्वद्रव्य : परद्रव्य २१
५. बंध और मोक्ष २२
६. बंधन और आत्मबोध २५
७. आत्म-जय : परम जय २६
८. आत्मा : रक्षित और अरक्षित २७
९. आराध्य और शरण : आत्मा ही २९
४. दुर्लभ संयोग ३०-४०
१. परम अंग ३०
२. ज्ञान और क्रिया ३२
३. संयम और तप ३४
४. त्रिरत्न ३७
५. समायोग ३८
५. धर्म ४१-४५
१. दस धर्म ४१
२. धर्म-स्थित ४३
३. आत्मार्थ : परार्थ ४४
६. कामभोग ४६-५३
१. कामभोग ४६
२. मृगतृष्णा ४९
७. विनय ५४-५९
१. विनय : मानसिक, वाचिक कायिक ५४
२. विनय के पाँच भेद ५५
३. विनय : धर्म का मूल ५६
४. विनीत-अविनीत ५८
८. शील ६०-६३
१. शील बनाम ज्ञान ६०
२. शील-महिमा ६१
३. कुछ शील ६३
४. दुःशील की गति ६४
९. भाषा-विवेक ६५-६६
१०. अनुस्रोत-प्रतिस्रोत ६७-६८
११. विजय-पथ ६९-८४
१. रहस्य-भेद ६९
२. तृष्णा-विजय ७१
३. काम-विजय ७३
४. मन-विजय ७४
५. इन्द्रिय-विजय ७६
६. कषाय-विजय ७८
७. इन्द्रिय-कषाय-विजय ८३

१२. वीर्य ८५-८६
१. बाल-वीर्य : पंडित-वीर्य ८५
२. ज्ञानी : अज्ञानी ८६
१३. दुःख-हेतु ६०-६७
१. तृष्णा और दुःख ६०
२. विषय और विनाश ६१
३. संसार-परम्पराः मोक्ष-साधना ६५
४. राग-द्वेष-मोह क्षय-विधि ६६
१४. दृष्टान्त ६८-१०५
१. एलक ६८
२. गली-गर्दभ ६६
३. दिग्मूढ़ १०१
४. हार-जीत (काकिणी, तीन् वणिक्, जुआरी) १०३
१५. समाधि १०६-१२२
१. चतुः समाधि १०६
२. स्वाध्याय १०७
३. तप ११०
४. ध्यान ११७
५. निष्पत्ति १२१
१६. पाप-विरति १२३-१२५
१. पाप १२३
२. आत्म-निरीक्षण : पाप वर्जन १२५
१७. ज्ञान-कण १२६-१३३
१. ज्ञान-कण १२६
२. शिक्षा-कण १३२
१८. हिंसा-विरति १३४-१४४
१. हिंसा की कसौटी १३४
२. हिंसा त्याज्य क्यों ? १३५
३. अहिंसा १३६
४. अहिंसा की महिमा १४१
५. यतना धर्म १४२
१६. मृषावाद-विरति १४५-१४८
१. मृषावाद १४५
२. सत्यवादी-असत्यवादी १४७
२०. अदत्तादान-विरति १४६-१५०
२१. अब्रह्मचर्य-विरति १५१-१५५
१. ब्रह्मचारी और उपलब्धियाँ १५१
२. ब्रह्मचर्य-साधना-सूत्र १५२
२२. परिग्रह-विरति १५६-१६१
१. धन का अभिशाप १५६
२. परिग्रही बनाम निष्परिग्रही १५८
२३. त्रिशल्य १६२-१६६
१. शल्य-दोष १३२
२. मिथ्यात्व-शल्य १६३
३. माया-शल्य १६५
४. निदान-शल्य १६६
२४. स्व-श्लाघा : पर-निन्दा १७०-१७४
१. आत्म-प्रशंसा १७०
२. पर-निंदा १७२
३. उपेक्षा धर्म १७३
२५. संगति १७५-१७८
१. संगति-फल १७५
२. संगति-योग्य १७६
२६. सुलभ-दुर्लभ १७६-१८०
१. बोधि : दुर्लभ-सुलभ १७६
२. सुगति : सुलभ-दुर्लभ १८०
२७. हेतु-विज्ञान १८१-१८४
१. पुण्य-बंध विज्ञान १८१
२. पर्याय-हेतु बोध १८२
३. कषाय-हेतु बोध १८३
४. हिंसा-हेतु बोध १८४
२८. लाक्षणिक १८५-२०७
१. त्यागी १८५
२. तीव्र-मंद कषायी १८६
३. मोक्षार्थी १८६
४. वीतराग १८८
५. योगी १६१
६. सम्यग्दृष्टि १६३

७. वन्दनीय १६७
८. स भिक्षु : स पूज्य १६६
९. अबहुश्रुत : बहुश्रुत २०२
१०. शिष्य : प्राज्ञ और अप्राज्ञ २०४
११. प्रव्रज्या २०६
२६. स्वगत-चिंतन २०८-२११
१. आत्मा और चिन्तन २०८
२. मृत्यु-भय और चिन्ता २१०
३०. साधक-चर्या २१२-२१६
१. हित-मित आहार २१२
२. निद्रा-जय २१३
३. समभाव २१५
४. कष्ट और चिन्तन २१६
३१. भावनायोग २२०-२४६
१. अनित्य भावना २२१
२. अशरण भावना २२३
३. संसार भावना २२६
४. एकत्व भावना २२६
५. अन्यत्व भावना २३१
६. अशुचि भवना २३२
७. आस्रव भावना २३५
८. संवर भावना २३८
९. निर्जरा भावना २३९
१०. लोक भावना २४१
११. दुर्लभबोधि भावना २४४
१२. धर्म भावना २४६
३२. श्रामण्य और प्रव्रज्या २५०-२७६
१. दुष्कर श्रामण्य २५०
२. प्रत्याख्यान और प्रवज्या २५६
३. प्रवचन माताएँ २६०
४. भिक्षाचर्या और आहारविधि २६७
५. परिपूर्ण श्रामण्य २७४
३३. विनय-प्रतिपत्ति २७७-२८५
१. आचार्य-सुश्रूषा २७७
२. विनय-संहिता २७९
३. गुरु-विनय और पूज्यता २८२
४. आशातना और दुष्परिणाम २८४
५. अन्यत्व भावना दुष्परिणाम २८४
३४. उपसर्ग और समाधि २८६-३००
१. परीषह २८६
२. उपसर्ग और कायरता २९३
३. स्नेह-पाश २९६
४. चित्त-समाधि सूत्र २९८
३५. मरण-समाधि ३०१-३१२
१. अकाम-मरण : सकाम-मरण ३०१
२. बाल-मरण : पण्डित-मरण ३०३
३. शरीर-आसक्ति-त्याग ३०५
४. आहार उपेक्षा ३०६
५. तीन पण्डित-मरण ३०८
३६. श्रमण-शिक्षा ३१३-३४७
१. अहिंसा और माधुकरी वृत्ति ३१३
२. अपरिग्रह और असंग्रह ३१६
३. ब्रह्मचर्य-समाधि ३१८
४. रात्रि-भोजन परित्याग ३२१
५. कौन संसार भ्रमण नहीं करता ? ३२२
६. समत्व-साधना ३२३
७. ण तस्स जाति व कुलं व ताणं ३२५
८. उपदेश और चर्चा विधि ३२७
९. मार्ग-स्थित भिक्षु ३३०
१०. ऋजुधर्मा ३३३
११. विमुक्त ३३५
१२. निर्मोह ३३७
१३. शैक्ष-बोध ३३८
१४. अनासक्ति ३३९
१५. बहु खु मुणिणो भद्दं ३४०

१६. निर्ग्रन्थ ३४२
१७. साधु-जीवन-समुच्चय ३४२
१८. सामायिक ३४५
१९. अनीश्वर ३४७
३७. दर्शन ३४८-३७५
१. सम्यक्त्व-सार ३४८
२. सम्यक्त्व का महत्त्व ३५०
३. सम्यग्दृष्टि : मिथ्यादृष्टि ३५२
४. द्रव्य परिभाषा ३५३
५. लोक और द्रव्य ३५५
६. अजीव ३५६
७. सिद्ध जीव ३५८
८. संसारी जीव ३५९
९. कर्मवाद ३६१
१०. लेश्या ३६३
११. मोक्ष-मार्ग ३६७
१२. अज्ञान क्षय-क्रम ३६९
१३. सिद्धि-क्रम ३७१
१४. सिद्ध और उनके सुख ३७३
१५. मुक्त आत्मा और निर्माण ३७५
३८. क्रान्त वाणी ३७६-३८२
१. जातिवाद ३७६
२. प्रशस्त यज्ञ और स्नान ३७८
३. परमार्थ ३८०
४. अनाथ ३८१
परिशिष्ट ३८३

संकेत-सूची

अनु०—अनुयोगद्वार
आ०—आचारांग
आ० चू०—आचाराङ्ग चूला
आव—आवश्यक
आ० नि०—आवश्यक निर्युक्ति
इसि०—इसिभासियम्
उ०—उत्तराध्ययन
औ० औपपातिक
कुन्द० अ०—कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा
गो० जी० गोम्मट्टसार जीव-कांड
द०—दशवैकालिक
द० पा०—दर्शनपाहुड
दश भ०—दशभक्ति
दशा०—दशाश्रुतस्कन्ध
द्रव्य सं०—द्रव्य-संग्रह
द्वा० अ०, द्वा० अनु०—द्वादशानुप्रेक्षा (कार्तिकेय)
ध०—धवला (षट्खंडागम)
नि० चू०—निशीथ चूर्णि
नि० सा०—नियमसार
पंच० प्र०—पंच प्रतिक्रमण
पंच० सं०—पंचसंग्रह
पंचा०—पंचास्तिकाय
प्रव०, प्र० सा०—प्रवचनसार
बो० पा०—बोधपाहुड
भ० आ०, भग० आ०—भगवती आराधना
भगवई—भगवती
भा०पा०—भावपाहुड
भक्त० परि०—भक्त-परिज्ञा
महा० नि०—महानिशीथ
मू०, मू० आ०—मूलाचार (वट्टकेर)
मूल०—मूलाचार (कुन्दकुन्द)
मो० पा०—मोक्षपाहुड
र० सा—रयणसार
वि० आव० भा०—विशेष आवश्यक भाष्य
शी० पा०—शीलपाहुड
स० सा०—समयसार
स० सु०—समणसुत्त
सू०—सूत्रकृतांग
सू० पा०—सूत्रपाहुड

महावीर वाणी

संकलनकर्त्ता : श्रीचन्द रामपुरिया
प्रकाशक : भगवान महावीर २५०० वीं निर्वाण महोत्सव महासमिति
२१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली।

भगवान् महावीर की पचीससौवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर जैन विद्या मनीषी श्री श्रीचन्द रामपुरिया द्वारा संकलित 'महावीर वाणी' का प्रकाशन एक अभाव की पूर्ति करने वाला सिद्ध हुआ है। विगत पांच दशकों में भगवान् महावीर की वाणी के अनेक संकलन प्रकाश में आए किन्तु उनमें से एक भी ऐसा नहीं था जो समग्र जैन समाज में व्यापक प्रसार पा सके। यही कारण है कि उन संकलनों की स्थिति उसी क्षेत्र के ईर्द-गिर्द रही जहां से उनका उद्‌गम हुआ था। स्वयं रामपुरियाजी का भी एतद्‌विषयक एक अन्य संकलन सन् १९५३ में 'तीर्थंकर वर्धमान' के नाम से प्रकाशित हुआ था। यद्यपि वह महत्त्वपूर्ण श्रम सम्पन्न और अधिकृत था एवं आचार्य विनोबाभावे ने उसे उस समय की एक सर्वोत्तम कृति के रूप में अभिहित किया था किन्तु वह मात्र श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों पर आधारित होने के कारण समग्र जैन समाज में सम्मत नहीं बन सका। भगवान् महावीर की पचीससौवीं निर्वाण शताब्दी पर जैनों के सभी सम्प्रदायों ने कुछ सर्व सम्मत कार्यक्रम निर्णीत किए। उन कार्यक्रमों में साहित्य लेखन और प्रकाशन भी एक अंग था। उसकी क्रियान्विति की निष्पत्ति ही प्रस्तुत कृति है। इसमें श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी ग्रन्थों का सार संकलित है अतः इसका समग्र जैन समाज में व्यापक प्रसार हो सकेगा, ऐसी आशा सहज ही की जा सकती है।

भगवान् महावीर जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। उन्होंने आत्मदर्शन-से अपनी अनुभूत वाणी में कहा—जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। जेण विजाणति से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए—जो आत्मा है वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

महावीर ने सत्य का सन्धान किया और अपनी अनुभव पुरस्सर वाणी में कहा—'सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरति'। जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है, वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है। इसके साथ उन्होंने यह भी कहा कि सत्य का भय से कोई अनुबन्ध नहीं होता। भयभीत व्यक्ति कभी सत्य को नहीं पा सकता। 'सप्पुरिसनिसेवियं च मग्गं भीतो न समत्थो अणुचरिउं'।

ज्ञान और शील में इतरेतर विरोधाभास नहीं है किन्तु यथार्थ की भाषा यह है–'णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति'–शील के बिना विषय ज्ञान का विनाश कर देते हैं। भगवान् महावीर ने इसीलिए कहा–'सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं'–जिनमें सुन्दरशील है, उनका मनुष्य जीवन सुजीवित है।

जातिवाद की अतात्विकता को व्यक्त करते हुए भगवान् महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व अपनी क्रान्तिवाणी में कहा था–

णीचो वि होइ उच्चो, उच्चो णीचत्तणं पुण उवेई।
जीवाणं खु कुलाइं, पधियस्स व विस्समंताणं।।

नीच उच्च हो जाता है और उच्च पुनः नीचत्व को प्राप्त कर लेता है। जीवों के लिए कुल (जाति) पथिकों के विश्राम-स्थल की तरह हैं।

जैन धर्म में विनय परम्परा को बहुमान प्राप्त है। गुरु के प्रति विनय शिष्य का आत्मधर्म है। भगवान् महावीर ने इस तथ्य को बहुत स्पष्टता से प्रकट करते हुए कहा–'न यावि मोक्खो गुरु हीलणाए'–गुरु की अवहेलना से मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

भगवान् महावीर ने जनता की बात को जनभाषा में प्रस्तुत किया। आमजनता रूपक और उदाहरण की शैली में ही किसी बात को अच्छे प्रकार से हृदयंगम करती है। जनभाषा के उदाहरण भी महावीर की वाणी में सुन्दर ढंग से निरूपित हुए हैं। विज्ञ और अज्ञ शिष्य के प्रति कहा गया है–

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए।।

विज्ञ शिष्यों पर शासन करता हुआ गुरु उसी प्रकार आनन्दित होता है, जिस प्रकार भद्र घोड़े पर शासन करने वाला वाहक। मूर्ख शिष्यों को शिक्षा देता हुआ गुरु उसी प्रकार कष्ट पाता है, जिस प्रकार गलि अश्व का वाहक।

प्रस्तुत संकलन के ३८ परिच्छेद हैं। इनमें धर्म, दर्शन, तत्त्व, व्यवहार, शील, चर्या आदि जीवनस्पर्शी मौलिक सूत्रों का संग्रह किया गया है। विषय और सामग्री दोनों का ही चयन मौलिक और अर्थपूर्ण है। उक्त संदर्भों से महावीर वाणी का गरिमा-वैशिष्ट्य प्रकट होता है। एक ही संकलन में इतनी अधिक सामग्री का उपलब्ध होना सचमुच ही रामपुरियाजी के पुरुषार्थ का द्योतक है। अब तक के प्रकाशित महावीर वाणी के अन्य संकलनों में यह सबसे बड़ा है। भगवान् महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव महासमिति की साहित्य प्रकाशन योजना के अन्तर्गत यही एक कृति है जो जनता के हाथों में पहुंच सकी। केवल जैन ही नहीं अपितु अन्य व्यक्तियों के लिए भी महावीर को समझने में यह कृति सहायक हो सकेगी ऐसी आशा है। श्री श्रीचंद रामपुरिया इस संकलन के लिए वास्तव में ही साधुवाद के पात्र हैं।

मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'

महावीर वाणी

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं।।

: १ :

अनुत्तर मंगल

१. नमोक्कारो

नमो अरिहंताणं। नमो सिद्धाणं। नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं। नमो लोए सव्वसाहूणं।।

(पंच० प्र० सू० १)

अरिहंतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार।

२. चत्वारि मंगल

१. चत्तारि मंगलं,—अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं।

(लोक में) चार मंगल रूप हैं—अर्हन्त भगवान् मंगल रूप हैं, सिद्ध भगवान् मंगल रूप हैं, साधु मंगल रूप हैं, केवलज्ञानी भगवान् द्वारा कहा गया धर्म मंगल रूप है।

२. चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

लोक में चार उत्तम हैं—अरिहंत भगवान् लोकोत्तम हैं, सिद्ध भगवान् लोकोत्तम हैं, साधु[1] लोकोत्तम हैं और केवलज्ञानी भगवान् द्वारा कहा गया धर्म लोकोत्तम है।

३. चत्तारि सरणं पवज्जामि— अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

(पंच० प्र० संथारा)

मैं चार की शरण स्वीकार करता हूं,—अरिहंत भगवान् की शरण लेता हूं, सिद्ध भगवान् की शरण लेता हूँ, साधु की शरण लेता हूं, केवलज्ञानी भगवान् द्वारा कहे गये धर्म की शरण लेता हूं।

---

१. यहाँ आचार्य और उपाध्याय 'साधु' शब्द में गर्भित हैं।

३. पंच परमेष्ठी स्वरूप

१. अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहू पंच परमेट्ठी। (मो० पा० १०४)

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पांच परमेष्ठी हैं।

२. मग्गे अविप्पणासो आयारे विणयया सहायत्तं।
पंचविहनमुक्कारं करेमि एएहिं हेऊहिं।। (आव० नि० ८६७)

अरिहंत भगवान् मोक्ष के सत्य मार्ग के दर्शक हैं, सिद्ध भगवान् अविनाशी हैं, आचार्य स्वयं आचार का पालन करते हुए अन्यों से आचार का पालन कराते हैं, उपाध्याय स्वयं विनीत हैं और दूसरों को विनीत बनाने वाले हैं, साधु मोक्ष के साधकों की सहायता करने वाले हैं—इन कारणों से मैं पंच परमेष्ठी को नमस्कार करता हूं।

३. अडवीइ देसिअत्तं तहेव निज्जामया समुद्दम्मि।
छक्कायरक्खणट्ठा महगोवा तेण वुच्चंति।। (आव० नि० ८६८)

संसार—रूप अटवी में अरिहतं भगवान् मार्ग बताने वाले हैं, संसार-रूप समुद्र में अरिहतं भगवान् निर्यामक (जीवन-रूप नैया को पार कराने वाले) हैं। छह जीवनिकाय के रक्षण करने वाले हैं, इसलिये अरिहतं भगवान् महागोप भी कहलाते हैं।

४. संसाराअडवीए मिच्छत्तऽन्नाणमोहिअपहाए।
जेहिं कय देसिअत्तं ते अरिहंते पणिवयामि।। (आव० नि० ६०६)

मिथ्यात्व और अज्ञान के अंधकार से जहाँ मार्ग का पता ही नहीं लगता, ऐसी संसार-रूप अटवी में जिन्होंने मार्ग प्रदर्शित किया उन अर्हन्तों को मैं नमस्कार करता हूं।

५. इंदिय-विसय-कसाये परीसहे वेयणाओ उवसग्गे।
एए अरिणो हंता अरिहंता तेण वुच्चंति।।
(आव० नि० ६१३)

विषयासक्त इन्द्रियाँ, विषय, कषाय-क्रोध-अहंकार-माया-लोभ, परीषह, वेदना और उपसर्ग—इन शत्रुओं का हनन करते हैं, इस कारण ये अरिहंत भगवान् कहलाते हैं।

६. अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति।। (आव० नि० ६१४)

आठ प्रकार का कर्म सर्व जीवों का बड़ा शत्रु है। आठ प्रकार के कर्मरूपी शत्रु को ये नष्ट करते हैं, अतः ये अरिहंत भगवान् कहलाते हैं।

७. अरिहंति वंदण-नमंसणाइं अरिहंति पूय-सक्कारं।
सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति[1]।। (आव० नि० ६१५)

जो वन्दना और नमस्कार के योग्य हैं, पूजा और सत्कार के योग्य हैं और मोक्ष जाने के योग्य हैं, वे अरहंत भगवान् कहलाते हैं।

८. अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए। (मू० आ० ५०५)

जो नमस्कार करने योग्य हैं, जो पूजा के योग्य हैं और जो देवों में उत्तम हैं, वे अर्हन्त हैं।

९. जियकोहमाणमाया जियलोहा तेण ते जिणा होंति ।
अरिणो हंता रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति।।[2]
(आव०नि० १०८३)

क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों को जीत लेने के कारण जिन हैं और रागद्वेषादि शत्रुओं, कर्मरूपी रज व संसार के नाशक होने के कारण अरिहंत या अरहंत कहलाते हैं।

१०. अरिहंतनमुक्कारो जीवं मोएइ भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो होइ पुणो बोहिलाभाए।। (आव० नि० ६१७)

अरिहंतो को भाव से किया हुआ नमस्कार जीव को अनन्त जन्म-मरणों की परंपरा से—संसार-परिभ्रमण से मुक्त करता है और पुनः बोधि (सम्यग् ज्ञान) की प्राप्ति का कारण बनता है।

११. अरिहंतनमोक्कारो धन्नाणं भवक्खयं कुणंताणं।
हिअयं अणुम्मुअंतो विसुत्तियावारओ होइ।। (आव० नि० ६१८)

धन्यवाद के पात्र जिन मनुष्यों का हृदय भगवान् अर्हन्तों के प्रति नमस्कार से निरंतर सुवासित है, उनके हृदय में दुर्ध्यान प्रवेश नहीं करता।

१२. अरिहंतनमुक्कारो एवं खलु वण्णिओ महत्थुत्ति।
जो मरणम्मि उवग्गे अभिक्खणं कीरए बहुसो।। (आव० नि० ६१९)

अरिहंत भगवान् को नमस्कार द्वादशांगी का सार होने से महान् अर्थ वाला है, क्योंकि मृत्यु उपस्थित होने पर इस नमस्कार का ही बार–बार स्मरण किया जाता है।

---

१. अरिहंति सिद्धिगमणं, अरहंता तेण वुच्चंति। (मू० आ० ५६२)
२. हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण वुच्चंति। (मू० आ० ५६१)

१३. अरिहंतनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।। (आव० नि० ६२०)

अरिहंत भगवान् को किया हुआ नमस्कार सर्व पापों का सर्वथा नाश करने वाला है और सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है।

१४. णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिहा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।। (नि० सा० ७२)

आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट किया है, आठ महागुणों सहित, परम, लोकाग्र में स्थित और नित्य ऐसे वे सिद्ध भगवान् होते हैं।

१५. निच्छिन्नसव्वदुक्खा जाइ-जरा-मरण-बंधण-विमुक्का।
अव्वावाहं सोक्खं अणुहवंती सया कालं।। (आव० नि० ६८२)

जिनके सर्व दुःख नष्ट हो चुके हैं, जन्म-जरा-मृत्यु और कर्मबंध से जो सर्वथा मुक्त हैं—ऐसे सिद्ध भगवान् सदा काल अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं।

१६. सिद्धाण नमुक्कारो जीवं मोएइ भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो होइ पुणो बोहिलाभाए।। (आव० नि० ६८३)

सिद्ध भगवान् को भाव से किया हुआ नमस्कार जीव को अनन्त भवों की परंपरा से मुक्त करता है, तथा पुनः बोधि की प्राप्ति का कारण बनता है।

१७. सिद्धाण नमुक्कारो धन्नाणं भवक्ख्यं कुणंताणं।
हिअयं अणुम्मुअंतो विसुत्तिआवारओ होइ।। (आव० नि० ६८४)

धन्यवाद के पात्र जिन मनुष्यों का हृदय सिद्धों के प्रति नमस्कार से सदा सुवासित है, उनके हृदय में दुर्ध्यान प्रवेश नहीं कर सकता।

१८. सिद्धाण नमुक्कारो एवं खलु वण्णिओ महत्थुत्ति।
जो मरणम्मि उवग्गे अभिक्खणं कीरए बहुसो।। (आव० नि० ६८५)

सिद्ध भगवान् को नमस्कार द्वादशांगी का सार होने से महान् अर्थ वाला है, क्योंकि मृत्यु उपस्थित होने पर इसी का बार-बार स्मरण करने में आता है।

१९. सिद्धाण नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं बिइयं हवइ मंगलं।। (आव० नि० ६८६)

सिद्ध भगवान् को किया हुआ नमस्कार सर्व पापों का सर्वथा नाश करने वाला है और सर्व मंगलों में दूसरा मंगल है।

२०. पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पभासंता।
आयारं देसंता आयरिया तेण वुच्चंति।। (आव० नि० ६८८)

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार—इन पाँच आचारों का जो स्वयं पालन करते हैं, दूसरों को कथन करते हैं और स्वयं आचरण द्वारा दूसरों को प्रदर्शित करते हैं, वे साधु आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं।

२१. पवयणजलहिजलोयरण्हायामलसुद्धबुद्धिसुद्ध छावासो।
मेरु व्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वण्णो।।
देस-कुल-जाइसुद्धो सोमंगो संगभंगउम्मुक्को।
गयण व्व निरुवलेवो आयरिओ एरिसो होइ।। (ध० १, १, १)[1]

प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् जिनागम के गंभीर अध्ययन और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु के समान निष्कंप है, जो शूरवीर हैं, जो सिंह के समान निर्भीक हैं, जो देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, जो सौम्यमूर्ति हैं, जो संग से रहित हैं, जो आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

२२. पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति।। (नि० सा० ७३)

पंचाचारों से परिपूर्ण, पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के मद का दमन करने वाले, धीर और गुणगंभीर ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

२३. आयरियनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं तइयं हवइ मंगलं।। (आव० नि० ६६२)

आचार्य परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार सर्व पापों का प्रकर्ष से नाश करने वाला है और सर्व मंगलों में तीसरा मंगल है।

२४. बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ देसिओ बुहेहिं।
तं उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चंति।। (आव० नि० ६६५)

बारह अंग जो जिन देव ने कहे हैं उनको पण्डित जन स्वाध्याय कहते हैं। उस स्वाध्याय का उपदेश करते हैं, इसलिए वे मुनि उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं।

२५. रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवझाया एरिसा होंति।। (नि० सा० ७४)

रत्नत्रय से संयुक्त, जिन-कथित पदार्थों के उपदेशक, शूरवीर और निराकांक्ष-भाव सहित ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

---

१. पृ० ४८।

२६. चोद्दसपुव्वमहोयहिमहिगम्म सिवत्थिओ सिवत्थीणं।
सीलंधराणं वत्ता होइ मुणीसो उवज्झायो।। (ध० १, १, १)[1]

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् जिनागम का अभ्यास करके मोक्ष-मार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।

२७. उवज्झायनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं च उत्थं हवइ मंगलं ।। (आव० नि० १००१)

उपाध्याय परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार सर्व पापों का प्रकर्ष से नाश करने वाला है और सर्व मंगलों में चौथा मंगल है।

२८. निव्वाणसाहए जोए जम्हा साहंति साहुणो।
समा य सव्वभूएसु तम्हा ते भावसाहुणो।। (आव० नि० १००४)

मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले योगों को—रत्नत्रय को जो साधु सर्वकाल अपनी आत्मा से जोड़े और सर्व जीवों में समभाव को प्राप्त हों, वे मुनि भाव-साधु कहलाते हैं।

२९. दंसण-नाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स।। (द्रव्य० सं० २२१)

जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण एवं मोक्ष के मार्गभूत सदा शुद्ध चरित्र को साधते हैं वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं। उनको मेरा नमस्कार हो।

३०. विसयसुहाणिअत्ताणं विसुद्धचारित्तनिअमजुत्ताणं।
तच्चगुणसाहयाणं सहाय[2] किच्चुज्जयाण नमो।।(आव० नि० १००६)

विषय-सुख से जो निवृत्त हो गये हैं, विशुद्ध चारित्र और अभिग्रह आदि नियमों से जो युक्त हैं, क्षमा आदि तात्त्विक गुणों के जो साधक हैं और दूसरे साधकों को सहाय करने में एवं मोक्ष के साधक कर्तव्यों में जो निरंतर उद्यमी हैं, ऐसे साधु परमेष्ठी को मेरा नमस्कार हो।

३१. साहूण नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पंचमं हवइ मंगलं।। (आव० नि० १०११)

साधु परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार सर्व पापों का सर्वथा नाश करने वाला है और सर्व मंगलों में पाँचवाँ मंगल है।

---

१. पृ० ३२।

२. साहण—पाठान्तर।

४. पंच परमेष्ठी-भक्ति

१. ते अरिहंता सिद्धाऽऽयरिओवज्झायसाहवो नेया।
जे गुणमयभावाओ गुणा व पुज्जा गुणत्थीणं।। (वि० आव० भा० २६४२)

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये ज्ञानादि गुण सहित हैं। अतएव गुणाभिलाषी भव्यात्माओं के लिए ये मूर्तिमान गुणों की तरह पूज्य हैं।

२. संवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिक्कंपा।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भवं णत्थि संसारे।। (भग० आ० ७४५)

जिसकी जिन-भक्ति संवेग (संसार-भय) से उत्पन्न, माया, मिथ्यात्व और निदान (फल पाने की कामना)—इन तीन प्रकार के शल्यों से रहित और सुमेरु पर्वत की तरह निष्कंप है, उसको संसार में भय नहीं है।

३. एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेउं।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं।। (भग० आ० ७४६)

अकेली ही वह जिन-भक्ति दुर्गति के निवारण करने में समर्थ है। वह प्रचुर पुण्य को उत्पन्न करती है और मुक्ति की प्राप्ति तक सुखों का कारण बनी रहती है।

४. विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स।।
(भग० आ० ७४८)

विद्या भी भक्ति-सम्पन्न के ही सिद्ध होती है और फल देती है, फिर भक्तिरहित मनुष्य के निर्वाण के बीजरूप ज्ञानादि की कैसे सिद्धि हो सकती है?

५. तेसिं आराधणणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्तिं।
धत्तिं पि संजमंतो सालिं सो ऊसरे ववदि।। (भग० आ० ७४६)

जो मनुष्य संयम में दृढ़ होते हुए भी सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं के नायक पंच-परमेष्ठी की भक्ति नहीं करता वह ऊसर जमीन में चावल के बीज बोता है।

६. विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं।
तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं।।
(भग० आ० ७५१)

विधिपूर्वक बोये हुए बीज की जैसे वर्षा से फल रूप में उत्पत्ति होती है, वैसे ही अरहंत इत्यादि की भक्ति से ज्ञान, चारित्र, दर्शन और तपरूपी फल की उत्पत्ति होती है।

: २ :

उपदेश

१. मा पमायए[1]

१. दुमपत्तए पण्डुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : १)

जैसे रात्रि-समूह के बीतने पर वृक्ष का पक्का पीला पत्ता झड़ जाता है, उसी तरह मनुष्य-जीवन भी (आयु शेष होने पर समाप्त हो जाता है)। इसलिए हे गौतम! समय[2]-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

२. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : २)

जैसे कुश की नोक पर लटका हुआ ओस-बिन्दु थोड़ी ही देर टिकता है, वैसे ही मनुष्य-जीवन भी। इसलिए हे गौतम! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

३. इइ इत्तरियम्मि आउए जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं समयं गोयम! मा पमायए।। (उ० १० : ३)

आयु स्वल्प है और जीवन बहुत विघ्नों से भरा है। अतः तू पूर्व-संचित कर्म-रूपी रज को शीघ्र दूर कर। हे गौतम! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

४. दुलहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो समयं गोयम! मा पमायए।। (उ० १० : ४)

निश्चय ही मनुष्य-भव बहुत दुर्लभ है और सभी प्राणियों को बहुत दीर्घकाल के बाद मिलता है। कर्मों के फल बड़े गाढ़ होते हैं। इसलिए हे गौतम! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

५. एवं भवसंसारे संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो समयं गोयम! मा पमायए।। (उ० १० : १५)

---

१. भगवान महावीर का अपने मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम को संबोधित यह उपदेश सभी साधकों के लिए अत्यन्त मननीय और उपादेय है।

२. जैन दर्शन के अनुसार काल का सूक्ष्मतम विभाग 'समय' कहलाता है। काल की यह इकाई 'क्षण' से अति सूक्ष्म है।

इस प्रकार प्रमादबहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा जन्म-मृत्युमय संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए हे गौतम! तू समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

६. धम्मं पि हु सद्दहन्तया दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया समयं गोयम्! मा पमायए।। (उ० १० : २०)

उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण करने वाले दुर्लभ हैं। इस लोक में बहुत सारे लोक काम-गुणों[1] में मूर्च्छित रहते हैं। इसलिए हे गौतम! तू समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

७. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले[2] य हायई समयं गोयम! मा पमायए।। (उ० १० : २१)

दिन-दिन तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे केश पक-पक कर श्वेत होते जा रहे हैं और श्रोत्र (आँख, नाक, जीभ और स्पर्श) का पूर्व बल घटता जा रहा है। इसलिए हे गौतम! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

८. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई समयं गोयम! मा पमायए।। (उ० १० : २६)

जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे केश पक-पक कर श्वेत होते जा रहे हैं और पूर्व सर्व-बल क्षीण होता जा रहा है। इसलिए हे गौतम! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

९. अरई गण्डं विसूइया आयंका विविहा फुसन्ति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं समयं गोयम! मा पमायए।।
(उ० १० : २७)

अरति, फोड़ा-फुन्सी, विसूचिका तथा नाना प्रकार के घातक रोग तेरे शरीर को आक्रांत कर रहे हैं। उनसे तेरा शरीर बल-हीन होकर ध्वंस को प्राप्त हो रहा है। इसलिए हे गौतम! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१०. वोछिन्द सिणेहमप्पणो कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए समयं गोयम! मा पमायए।। (उ० १० : २८)

जैसे शारद-कमल अपने ऊपर से जल को गिरा देता है, वैसे ही तू ही अपने स्नेह (मोह) को व्युच्छिन्न कर। पूर्व सारे स्नेह से मुक्त हो निर्लिप्त बन। हे गौतम! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

---

१. इन्द्रिय-विषय।

२. 'सोयबल'—श्रोत्रेन्द्रिय बल। इसके आगे की २२ से लेकर २५ तक की गाथाओं में क्रमशः चक्षु, नाक, जिह्वा और शरीर बल के द्योतक शब्दों का प्रयोग है। संक्षेप के लिए इस २१वीं गाथा के अनुवाद में उपलक्षण रूप से सर्व इन्द्रियों के नाम दे दिए हैं।

११. अवसोहिय कण्टगापहं ओइण्णो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया समयं गोयम ! मा पमायए।।(उ० १० : ३२)

कण्टकाकीर्ण पथ को छोड़कर तू महापथ पर आया है। इस महामार्ग का ध्यान रखते हुए चल। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१२. अबले जह भारवाहए मा मग्गे विसमे वगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : ३३)

जैसे निर्बल भारवाहक विषम मार्ग में प्रवेश कर बाद में पछताता है, वैसा तेरे साथ न हो। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१३. तिण्णो हु सि अण्णवं महं किं पुण चिट्ठसि तीर मागओ।
अभितुर पारं गमित्तए समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : ३४)

महान् समुद्र तो तू तैर चुका। अब किनारे आकर क्यों स्थिर है ? पार पहुँचने के लिए त्वरा कर। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१४. अकलेवरसेणिमुस्सिया सिद्धिं गोयम लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : ३५)

सिद्ध पुरुषों की श्रेणी[1] के अनुसरण से तू क्षेम, कल्याणयुक्त और श्रेष्ठतम सिद्धिलोक को प्राप्त करेगा। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

१५. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे गामगए नगरे व संजए।
सन्तिमग्गं च बूहए समयं गोयम ! मा पमायए।। (उ० १० : ३६)

तू गाँव में या नगर में संयत, बुद्ध और उपशान्त होकर विचरण कर, शान्ति-मार्ग को बढ़ा। हे गौतम ! समय-भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

२. असंस्कृतम्

१. असंखयं जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति।।

(उ० ४ : १)

जीवन (आयुष्य) साँधा नहीं जा सकता, अतः प्रमाद मत करो। निश्चय ही जरा-प्राप्त मनुष्य का कोई त्राण नहीं होता। प्रमादी, हिंसक और असंयत मनुष्य किसकी शरण में जायेंगे—यह सोचो।

---

१. *क्षपक-श्रेणी—कर्मों का विशिष्ट रूप से क्षय करने वाली विशुद्ध विचार-श्रेणी।*

२. सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध-जीवी न वीससे पंण्डिए आसु-पन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं शरीरं भारुण्ड-पक्खी व चरप्पमत्तो।।

(उ० ४ : ६)

आशुप्रज्ञ पंडित सोये हुए व्यक्तियों के बीच में जागृत रहे। आयुष्य में विश्वास न करे। मुहूर्त्त बड़े निर्दय हैं, शरीर दुर्बल है, अतः मनुष्य भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त रहे।

३. चरे पयाइं परिसंकमाणो
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो। (उ० ४ : ७ क, ख)

आत्मार्थी पुरुष पद-पद पर पापों से शंकित रहता हुआ तथा यत्किंचित् पाप को भी पाश मानता हुआ चले।

४. छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं
आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी। (उ० ४ : ८ क, ख)

जैसे शिक्षित और तनुत्राण—कवच को धारण करने वाला अश्व युद्ध में विजय प्राप्त करता है, वैसे ही आत्मार्थी मनुष्य स्वच्छन्दता के निरोध से मोक्ष को प्राप्त करता है।

५. स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा एसोवमा सासय-वाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयंमि कालोवणीए सरीरस्स भेए।।

(उ० ४ : ६)

(धर्म के प्रति) जो अप्रमाद पूर्व में प्राप्त नहीं हुआ वह बाद में प्राप्त हो जायेगा—ऐसा कथन शाश्वतवादियों का है। पहले प्रमत्त रहने वाला मनुष्य आयुष्य के शिथिल होने और काल के आ पहुँचने पर शरीर-भेद के समय विषाद को प्राप्त होता है।

६. खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्चं लोयं समया महेसी अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो।।

(उ० ४ : १०)

आसक्ति के त्यागरूप विवेक को शीघ्र प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः हे मोक्षार्थी! उठो। कामभोगों को छोड़ो। लोक को—जीवों को अच्छी तरह जानो और उनके प्रति समभाव पूर्वक व्यवहार करते हुए आत्म-रक्षक होकर अप्रमत्त भाव से विचरो।

७. मन्दा य फासा बहु-लोहणिज्जा तह-प्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं।।

(उ० ४ : १२)

स्त्री आदि के अनुकूल स्पर्श बहुत लुभावने होते हैं। वे विवेक को मन्द कर देते हैं। आत्मार्थी साधक वैसे स्पर्शों में मन न करे। क्रोध का वर्जन करे, मान को जीते, माया का सेवन न करे और लोभ को छोड़ दे।

८. जे संखया तुच्छ परप्पवाई ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो कंखे गुणे जाव सरीर-भेओ।।
(उ० ४ : १३)

जो अन्य प्रवादी 'जीवन साँधा जा सकता है'—ऐसा मानने वाले हैं, वे निस्सार कथन करने वाले हैं। वे राग और द्वेष से ग्रस्त होने के कारण पराधीन हैं, अधर्मी हैं, ऐसा सोचकर दुर्गुणों से घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-भेद सद्गुणों की आराधना करता रहे।

३. रत्नत्रय का आदर करो

१. भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव !।। (भा० पा० ८)

हे जीव ! तूने भयंकर नरक, तिर्यञ्च, कुदेव और कुमनुष्यों की गति में जन्म ग्रहण कर तीव्र दुःख का अनुभव किया है। अब जिन-भावना को भा।

२. असुईवीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि।
वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर।। (भा० पा० १७)

हे पुरुष ! तू अनेक माताओं की अशुचि, वीभत्स और गन्दे मैल से भरी हुई गर्भवसति में चिर काल तक रहा है।

३. तुह मरणे दुक्खेणं अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं।। (भा० पा० १६)

हे पुरुष ! तुम्हारे मरने पर दुःख से व्याप्त भिन्न-भिन्न माताओं के रोने से उत्पन्न आँखों का जल समुद्र के पानी से भी अधिक है।

४. भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी।
पुंजइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी।। (भा० पा० २०)

हे पुरुष ! इस अनन्त संसार-समुद्र में तुम्हारे शरीरों के काट कर फेंके हुए केश, नख, नाल और हड्डियों को यदि कोई देव जगत में इकट्ठा करे तो मेरु पर्वत से भी ऊँचा ढेर हो जाय।

५. गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर।। (भा० पा० २४)

हे धीर पुरुष ! तूने इस अनन्त संसार-समुद्र में जो अनेक शरीर ग्रहण किये और छोड़े हैं, उनकी कोई गिनती नहीं है।

६. रयणत्ते सुअलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह।। (भा० पा० ३०)

रत्नत्रय—सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति न होने से हे जीव ! तू ने इस प्रकार दीर्घ काल तक संसार में भ्रमण किया है। अतः तू रत्नत्रय का आचरण कर, ऐसा जिन भगवान ने कहा है।

७. अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गुत्ति।। (भा० पा० ३१)

आत्मा में लीन आत्मा निश्चय रूप से सम्यक् दृष्टि है। आत्मा को यथार्थ रूप में जानता है, वह सम्यक्ज्ञान है और आत्मा में तन्मय होकर आचरण करता है, वह चारित्र है। इस प्रकार यह मोक्ष का मार्ग है।

८. रयणं चउप्पहे पिव मणुयत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय।
मिच्छो हवेइ जीवो तत्थ वि पावं समज्जेदि।। (द्वा० अ० २६०)

जैसे चौराहे में गिरा हुआ रत्न बड़े भाग्य से हाथ लगता है, वैसे ही (अन्य गतियों से निकल कर) मनुष्य गति पाना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी जीव मिथ्यादृष्टि म्लेच्छ होकर पाप का उपार्जन करता है।

९. अह होदि सील-जुत्तो, तह वि ण पावेइ साहु-संसग्गं।
अह तं पि कह वि पावदि सम्मत्तं तह वि अइदुलहं।।
(द्वा० अ० २६४)

मनुष्य शील-सम्पन्न हो जाने पर भी साधु पुरुषों का संसर्ग नहीं पाता। यदि वह भी कभी पा जाता है तो सम्यक्त्व का पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

१०. सम्मत्ते वि य लद्धे चारित्तं णेव गिण्हदे जीवो।
अह कह वि तं पि गिण्हदि, तो पालेदुं ण सक्केदि।।
(द्वा० अ० २६५)

सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने पर भी जीव चारित्र ग्रहण नहीं करता। यदि कभी चारित्र ग्रहण कर लेता है तो उसका पालन नहीं कर पाता।

११. रयणत्तये वि लद्धे तिव्व-कसायं करेदि जइ जीवो।
तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ठ-रयणत्तओ होउं।। (द्वा० अ० २६६)

रत्नत्रय पा लेने पर भी यदि जीव तीव्र कषाय करता है तो रत्नत्रय का नाश कर दुर्गतियों में जाता है।

१२. रयणु व्व जलहि-पडियं मणुयत्त त पि होदि अइदुलहं।
एवं सुणिच्छइत्ता मिच्छ-कसाए य वज्जेह।।
(द्वा० अ० २६७)

समुद्र के जल में गिरे हुए रत्न की प्राप्ति के समान मनुष्यत्व की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा निश्चय करके मिथ्यात्व और कषाय को छोड़ो।

१३. अहवा देवो होदि हु तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं।
तो तव-चरणं ण लहदि देस-जमं सील-लेसं पि।।
(द्वा० अ० २६८)

अथवा यह जीव देव भी हो जाय और वहाँ कदाचित् समयक्त्व भी पा ले तो भी तप और चारित्र नहीं पाता, देशव्रत और शीलव्रत की लेशमात्र भी प्राप्ति नहीं करता।

१४. मणुव-गईए वि तओ मणवु-गईए महव्वय सयलं।
मणुव-गदीए ज्झाणं मणुव-गदीए वि णिव्वाणं।। (द्वा० अ० २६६)

इस मनुष्य-गति में ही तप का आचरण होता है, इस मनुष्य-गति में ही समस्त महाव्रत होते हैं, इस मनुष्य-गति में ही शुभ ध्यान होता है और इस मनुष्य-गति में ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

१५. इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे रमन्ति विसएसु।
ते लहिय दिव्व-रयणं भूइ-णिमित्तं पजालंति।। (द्वा० अ० ३००)

ऐसा यह दुर्लभ मनुष्यत्व पाकर भी जो इन्द्रियों के विषयों में रमण करते हैं वे दिव्य रत्न को पाकर उसे जलाकर राख कर डालते हैं।

१६. इय सव्व-दुलहं-दुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च।
मुणिऊएण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि।।
(द्वा० अ० ३०१)

इस प्रकार संसार में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को सब दुर्लभों से भी दुर्लभ जानकर इन तीनों का महान् आदर करो।

४. धर्म ही त्राण है

१. इह जीविए राय ! असासयम्मि धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए धम्मं अकाऊण परंसि लोए।।
(उ० १३ : २१)

हे राजन् ! यह जीवन अशाश्वत है। जो इस जीवन में प्रचुर सत्कृत्य नहीं करता वह मृत्यु के मुख में जाने पर पश्चात्ताप करता है तथा धर्म न करने के कारण परलोक में भी दुःखित होता है।

२. मरिहिसि रायं ! जया तया वा मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं न विज्जई अन्नमिहेह किंचि।।
(उ० १४ : ४०)

हे राजन् ! इन मनोरम कामभोगों को छोड़कर तू जब-तब मरण को प्राप्त होगा। हे नरदेव ! एकमात्र धर्म ही त्राण है। इस संसार में अन्य कोई नहीं, जो त्राण हो सके।

३. अभओ पत्थिवा ! तुब्भं अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि ?।। (उ० १८ : ११)

पार्थिव ! तुझे अभय है। जैसे तू अभय चाहता है, वैसे ही तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक में तू हिंसा में क्यों आसक्त है ?

४. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए।। (उ० ६ : ६)

सारे सुख सब प्रकार से जैसे स्वयं को इष्ट है वैसे ही दूसरे जीवों को हैं तथा सब प्राणियों को अपना आयुष्य प्रिय है, यह देखकर भय और वैर से उपरत मुमुक्षु प्राणियों के प्राणों का हनन न करे।

५. जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं मणसा वयसा कायसा चेव।। (उ० ८ : १०)

जगत् के आश्रित जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन और काया–किसी भी प्रकार से दण्ड (घातक शस्त्र) का प्रयोग न करे।

६. अपुच्छिओ न भासेज्जा भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा मायामोसं विवज्जए।। (उ० ८ : ४६)

बिना पूछे न बोले । बातचीत कर रहे हों, उनके बीच में न बोले। चुगली न खाये और कपटपूर्ण झूठ से दूर रहे।

७. आयाणं नरयं दिस्स नायएज्ज तणामवि। (उ० ६ : ७ क, ख)

धन-धान्यादि परिग्रह नरक (का हेतु) है, यह देखकर मुमुक्षु न दिया हुआ तृण-मात्र भी ग्रहण न करे।

८. पाणे य णाइवाएज्जा अदिण्णं पि य णातिए।
सातियं ण मुसं बूया एस धम्मे वुसीमओ।। (सू० १, ८ : २०)

प्राणियों का अतिपात—हनन न करे, न दी हुई कोई वस्तु न ले, कपटपूर्ण झूठ न बोले। यही आत्मजयी पुरुषों का धर्म है।

९. मुसावायं बहिद्धं च उग्गहं च अजाइयं।
सत्थादाणाइं लोगंसि तं विज्जं ! परिजाणिया।।(सू० १, ६ : १०)

मृषावाद, मैथुन, परिग्रह, अदत्तादान—ये सब लोक में प्राणियों को परिताप के हेतु होने के कारण शस्त्र के समान हैं और बंधन के कारण हैं। विद्वान् यह जानकर इनका त्याग करे।

१०. णो तासु चक्खु संधेज्जा णो वि य साहसं समणुजाणे।
णो सिद्धियं हि विहरेज्जा एवमप्पा सुरक्खिओ होइ।।
(सू० १, ४ (१) : ५)

स्त्रियों पर आँख न साँधे। विषय-सेवन के साहस को अच्छा न माने। उनके साथ विहार न करे। इस प्रकार आत्मा सुरक्षित होती है।

११. सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए।। (उ० १६ : १०)

मुमुक्षु शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के कामभोगों का सदा परिवर्जन करे।

१२. पलिउंचणं च भयणं च थंडिल्लुस्सयणाणि य।
धुत्तादाणाणि लोगंसि तं विज्जं ! परिजाणिया।। (सू० १, ६ : ११)

माया, लोभ, क्रोध और मान संसार में बंधन के हेतु हैं। विज्ञ उन्हें जानकर उनका त्याग करे।

१३. प्रभु दोसे णिराकिच्चा ण विरुज्झेज्ज केणइ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो।। (सू० १, ११ : १२)

दोषों को दूर कर जितेन्द्रिय पुरुष किसी के साथ जीवन पर्यन्त मन, वचन, काया से विरोध न करे।

१४. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहा वए।। (उ० ३० : ३५)

आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानों का वर्जन कर सुसमाहित मुमुक्षु धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान का अभ्यास करे। ज्ञानी इसे ही ध्यान-तप कहते हैं।

: ३ :

आत्मा : बंध और मोक्ष

१. आत्मा

१. जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया।
जेण विजाणति से आया तं पडुच्च पडिसंखाए।।
(आ० १, ५ (५) : १०४)

जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

२. सव्वे सरा णियट्टंति
तक्का जत्थ ण विज्जइ
मई तत्थ ण गाहिया। (आ० १, ५ (६) : १२३-२५)

आत्मा का वर्णन करते हुए सब शब्द समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की गति नहीं है, न बुद्धि ही उसे पूरा ग्रहण कर पाती है।

३. से ण दीहे ण हस्से
ण वट्टे ण तंसे ण च उरंसे ण परिमण्डले। (आ० १, ५ (६) : १२७)

न वह दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चौरस है और न मंडलाकार ही है।

४. ण इत्थी ण पुरिसे ण अण्णहा। (आ० १, ५ (६) : १३५)

आत्मा न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक।

५. से ण सद्दे ण रूवे ण गंधे
ण रसे ण फासे इच्चेताव। (आ० १, ५ (६) : १४०)

आत्मा न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है।

६. अरूवी सत्ता। अपयस्स पयं णत्थि। (आ० १, ५ (६) : १३८-३६)

आत्मा अरूपी सत्ता है। उसको कहने के लिए कोई शब्द नहीं है (वह वास्तव में अवाच्य है)।

७. अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। (भा० पा० ६४)

जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त, चैतन्य गुण से युक्त, शब्द-रहित, इन्द्रियों से अगोचर और अनियत आकार वाला जानो।

८. उत्तम-गुणाण धामं सव्व-दव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परम-तच्चं जीव जाणेह णिच्छयदो।। (द्वा० अ० २०४)

जीव ज्ञान आदि उत्तम गुणों का धाम है, चैतन्य-स्वरूप होने से सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और आराध्य होने से सब तत्त्वों में परम तत्त्व है, यह निश्चयपूर्वक जानो।

९. अंतर-तच्चं जीवो बाहिर-तच्चं हवंति सेसाणि।
णाण–विहीणं दव्व हियाहियं णेय जाणेदि।। (द्वा० अ० २०५)

जीव अंतरतत्त्व है, अवशेष सारे बाह्यतत्त्व हैं। वे द्रव्य ज्ञानविहीन होने से हिताहित को नहीं जानते।

१०. एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं।। (प्र० सा० २ : १००)

मैं आत्मा को ज्ञानप्रमाण, दर्शनयुक्त, अतीन्द्रिय, महातत्त्व, ध्रुव, अचल, अनालम्ब और शुद्ध मानता हूं।

२. आत्मत्रय

१. तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा।। (मो० पा० ४)

शरीरधारियों की आत्मा तीन प्रकार की होती है—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। बहिरात्मा को त्याग कर अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मा का ध्यान किया जाता है।

२. अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।। (मो० पा० ५)

इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं (इन्द्रियों को ही आत्मा मानने वाला प्राणी बहिरात्मा है)। आत्मा में ही आत्मा का संकल्प करने वाला अन्तरात्मा है। कर्म-कलंक से विमुक्त आत्मा परमात्मा है। उसे ही देव कहा है।

३. मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा।। (द्वा० अ० १६३)

जिसकी आत्मा मिथ्यात्व में परिणमन करती है, जो तीव्र कषाय से अत्यन्त आविष्ट है और जो जीव और देह को एक मानता है, वह बहिरात्मा है।

४. जे जिण-वयणे कुसला भेयं जाणंति जीव-देहाणं।
णिज्जिय-दुट्ठट्ठ-मया अंतरअप्पा य ते तिविहा।। (द्वा० अ० १६४)

जो जीव जिन-वचन में कुशल हैं, जीव और शरीर के भेद को जानते हैं और जिन्होंने आठ दुष्ट मदों[1] को जीत लिया है वे अन्तरात्मा हैं। (साधना के तारतम्य से) वे तीन प्रकार के होते हैं।[2]

५. स-सरीरा अरहंता केवल-णाणेण मुणिय-सयलत्था।
णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुक्ख-संपत्ता।। (द्वा० अ० १६८)

जिन्होंने केवलज्ञान से सकल पदार्थों को जान लिया है, वे सदेह अर्हत एक प्रकार के परमात्मा हैं। और, जिन्हें सर्वोत्तम सुख प्राप्त हो गया है तथा ज्ञान ही जिनका शरीर है, वे दूसरे देहरहित सिद्ध परमात्मा हैं।

६. मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो।। (मो० पा० ६)

सिद्ध परमात्मा मैल से रहित है, शरीर से रहित है, इन्द्रियों से रहित है, केवल ज्ञानमय है, विशुद्ध आत्मा है, परमपद में स्थित है, परम जिन हैं, मोक्ष को देने वाला है और शाश्वत है।

७. आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं।। (मो० पा० ७)

अन्तरात्मा को अपनाकर और मन, वचन, काया से बहिरात्मा को छोड़कर परमात्मा का ध्यान करो, ऐसा जितेन्द्र देव ने कहा है।

८. परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।। (मो० पा० ४८)

परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी कर्मरूपी महामल के ढेर से मुक्त हो जाता है तथा नये कर्मों को ग्रहण नहीं करता, ऐसा जिनवर देव ने कहा है।

---

१. जाति, कुल, बल, रूप तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य—इनके सम्बन्ध से मद आठ हैं।

२. जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। देखिए द्वा० अनु०, १६५-६७

३. बहिरात्मा

१. देह-मिलिदो वि जीवो सव्व-कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पयट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे दोण्हं।। (द्वा० अ० १८५)

क्योंकि देह से मिला हुआ ही जीव समस्त कर्म करता है, इसलिए उन कर्मों में प्रवर्त्तमान बहिरात्मा को दोनों (देह और जीव) का एकत्व प्रतीत होता है।

२. राओ हं भिच्चो हं सिट्ठी हं चेव दुब्बलो बलिओ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि।। (द्वा० अ० १८७)

मैं राजा हूँ, मैं भृत्य हूँ, मैं श्रेष्ठी हूँ, मैं दुर्बल हूँ—मैं दरिद्र हूँ, मैं बलवान हूँ—इस प्रकार शरीर और आत्मा के एकत्व में आविष्ट यह जीव शरीर और आत्मा के भेद को नहीं समझता।

३. बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ।। (मो० पा० ८)

मूढ़दृष्टि बहिरात्मा इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों में मन को लगाता हुआ अपने स्वरूप से च्युत हो अपने शरीर को ही आत्मा मानने का अध्यवसाय (संकल्प) करता है।

४. णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण।। (मो० पा० ६)

मूढ़दृष्टि बहिरात्मा अपने शरीर के समान दूसरे के शरीर को देखकर यद्यपि वह अचेतन है तथापि उसका प्रयत्नपूर्वक और परमभाव से ध्यान करता है।

५. सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो।। (मो० पा० १०)

इस प्रकार देह को ही अपना और पर का आत्मा मानने से पदार्थों के स्वरूप को न जानने वाले मनुष्यों का स्त्री, पुत्र आदि के विषय में मोह बढ़ता है।

६. मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ।। (मो० पा० ११)

मिथ्याज्ञान में लीन हुआ और मिथ्याभाव की भावना रखता हुआ मनुष्य मोह के उदय से पुनः शरीर को आत्मा मानता है।

७. परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो।। (मो० पा० ६६)

मोह के कारण जिस मनुष्य की परद्रव्य में परमाणु के बराबर भी रति होती है, वह मूर्ख अज्ञानी है, आत्मा के स्वभाव से विपरीत है।

८. परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमोक्खस्स।। (मो० पा० १३)

जो परद्रव्य में राग करता है, वह अनेक प्रकार के कर्मों का बंध करता है और जो परद्रव्य में राग नहीं करता है वह अनेक प्रकार के कर्म-बंधन से मुक्त हो जाता है, यह जिनेन्द्र भगवान् ने संक्षेप में बन्ध और मोक्ष का उपदेश दिया है।

४. स्वद्रव्य : परद्रव्य

१. परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि।। (मो० पा० १६)

परद्रव्य में राग करने से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य में राग करने से सुगति होती है। ऐसा जानकर स्वद्रव्य में राग करो, परद्रव्य में राग मत करो।

२. आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं।। (मो० पा० १७)

आत्मस्वभाव से भिन्न जो सचेतन (स्त्री, पुत्र आदि), अचेतन (धन-धान्य आदि) सचेतन-अचेतन (आभूषण सहित स्त्री आदि) पदार्थ हैं, सर्वज्ञ देव ने उन सब को वास्तव में परद्रव्य कहा है।

३. दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं।। (मो० पा० १८)

दुष्ट कर्मों से रहित, अनुपम, ज्ञान-शरीरी और नित्य शुद्ध आत्मा को जिनेन्द्र देव ने स्वद्रव्य कहा है।

४. जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं।। (मो० पा० १६)

जो परद्रव्य से विमुख और सम्यक् चारित्र से युक्त होकर आत्मद्रव्य का ध्यान करते हैं, वे जिनवर भगवान् के मार्ग में लगे रहकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

५. बंध और मोक्ष

१. जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा।। (पंचा० १०६)

जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। दोनों ही प्रकार के जीव चैतन्यस्वरूप और उपयोग-लक्षण वाले होते हैं; परन्तु संसारी जीव देह-सहित होता है और मुक्त जीव देह-रहित।

२. ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवंति।। (पंचा० १२१)

संसारी जीव की इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं। छः प्रकार के शरीर कहे गए हैं वे भी जीव नहीं हैं; किन्तु उन इन्द्रियों और शरीरों में जो ज्ञानवान् द्रव्य है, उसी को जीव कहते हैं।

३. जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं।।(पंचा० १२२)

जीव सबको जानता और देखता है, सुख की इच्छा करता है, दुःख से भयभीत होता है, हित अथवा अहित करता है और उनके फल को भोगता है।

४. जीवो त्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।। (पंचा० २७)

वह जीव चेतयिता है, उपयोग से विशिष्ट है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, अपने शरीर-प्रमाण है, अमूर्त है पर कर्मों से संयुक्त है।

५. पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो।। (पंचा०.३०)

जो चार प्राणों के द्वारा वर्तमान में जीवित है, भविष्य में जीवित रहेगा और पूर्वकाल में जीवित था, वह जीव है। वे चार, घ्राण हैं—बल (मन बल, वचन बल, काय बल), इन्द्रिय (श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसन स्पर्शन), आयु और श्वासोच्छ्वास।

६. जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमेत्तं पभासयदि।। (पंचा० ३३)

जैसे दूध में रखा हुआ पद्मराग नामक रत्न दूध को अपनी प्रभा से प्रकाशित करता है, वैसे ही जीव शरीर में रहता हुआ अपने शरीर मात्र को प्रकाशित करता है।

७. अप्पा उवओगप्पा उपओगो णाणदंसणं भणिदो।
सोहि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।।(प्र० सा० २ : ६३)

जीव उपयोगस्वरूप है और उपयोग जानने और देखनेरूप कहा गया है। जीव का वह उपयोग भी शुभ अथवा अशुभ दो प्रकार का होता है।

८. कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं।
सो तस्स तेण कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढिदं।। (पंचा० २७)

कर्म का अनुभव करता हुआ जीव जैसे भाव को करता है, वह उसके द्वारा उस भाव का कर्त्ता होता है, ऐसा जैन शासन में कहा है।

९. ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं।। (पंचा० ६४)

यह लोक सब जगह अनेक प्रकार के अनन्तानन्त सूक्ष्म और स्थूल पुद्गल-स्कन्धों से ठसाठस भरा हुआ है।

१०. अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा।। (पंचा० ६५)

जीव अपने रागादिरूप भावों को करता है। जब जहाँ वह इन भावों को करता है, उन भावों का निमित्त पाकर उसी समय वहीं स्थित कर्म-योग्य पुद्गल जीव के प्रदेशों में परस्पर एक क्षेत्र अवगाहरूप से दूध-पानी की तरह मिलकर कर्मरूप हो जाते हैं।

११. रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तध बंधो तेण जाणीहि।।(प्र० सा० २ : ८२)

आत्मा रूप, स्पर्श आदि गुणवाला नहीं है, किन्तु जैसे वह रूप आदि गुणवाले पुद्गल द्रव्यों को और उनके रूपादि गुणों को जानता-देखता है, वैसे ही पुद्गल द्रव्य के साथ आत्मा का बन्ध जानो।

१२. उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो।।
(प्र० सा० २ : ८२)

जीव उपयोगमय है। वह अनेक प्रकार के इष्ट-अनिष्ट विषयों को पाकर उनमें मोह करता है—आसक्ति करता है अथवा द्वेष करता है। वह उन राग, द्वेष और मोह के द्वारा बन्ध को प्राप्त होता है।

१३. भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदंए विसए।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवएसो।।
(प्र०सा० २ : ८४)

जीव प्राप्त हुए विषयों को जिस राग, द्वेष या मोहरूप भाव से जानता-देखता है, उसी भाव से रंग जाता है और फिर उसी भाव से पौद्गलिक कर्म बंधते हैं।

१४. जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिवद्धा।
काले विणुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजंति।। (पंचा० ६७)

इस तरह जीव और पुद्गल-स्कंध परस्पर में सघन रूप में बद्ध होकर रहते हैं। उदयकाल आने पर जब वे जुदा होने लगते हैं तो पुद्गल-कर्म सुख-दुःख देते हैं और जीव उनको भोगता है।

१५. एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो।। (पंचा० ६६)

इस प्रकार यह जीव अपने कर्मों के द्वारा कर्त्ता-भोक्ता होता हुआ मोह में डूबकर अनन्त संसार में भ्रमण करता है।

१६. उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो।। (पंचा० ७०)

वही धीरात्मा जीव जिन भगवान के द्वारा कहे हुए मार्ग को अपनाकर मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय करके, सम्यग्ज्ञान का अनुसरण करनेवाले मार्ग पर चलता हुआ मोक्षनगर को जाता है।

१७. कंखिदकलुसिदभूदो कामभोगेसु मुच्छिदो संतो।
अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झइ।। (मू० ८१)

जो सुखाकांक्षी होता है, राग-द्वेषादि से मलिन और काम-भोगों में मूर्च्छित होता है, वह भोगों को न भोगता हुआ भी परिणामों के कारण कर्मों से बँध जाता है।

१८. णेहो उप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे।
तह रागदोससिणिहोलिदस्स कम्मं मुणेयव्वं।। (मू० २३६)

जैसे स्नेह से स्निग्ध शरीर के रेणु चिपट जाती है, वैसे ही राग-द्वेषरूपी स्नेह से भीगी हुई आत्मा को कर्मपुद्गलों का बंधन होता है।

१९. रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणेवएसो समासदो बंधमोक्खाणं।। (मू० २४७)

रागी जीव कर्मों का बंधन करता है। वैराग्ययुक्त पुरुष कर्मों से मुक्त होता है। यही उपदेश बंध-मोक्ष के विषय में जिनेन्द्रदेव ने संक्षेप में दिया है।

६. बन्धन और आत्मबोध

१. अज्झत्थहेउं नियय‌ऽस्स बन्धो।
संसारहेउं च वयन्ति बन्धं।। (उ० १४ : १६ ग, घ)

यह निश्चय है कि आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं, और यह बंधन ही संसार का हेतु है—ऐसा कहा है।

२. अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्प मे नन्दणं वणं।। (उ० २० : ३६)

(मन में चिंतन कर—) "मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और यही कूटशाल्मली वृक्ष। मेरी आत्मा ही कामदुधा (इच्छानुसार दूध देने वाली) धेनु है और आत्मा ही नंदन वन।"

३. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।। (उ० २० : ३७)

"मेरी आत्मा ही दुःख और सुख की कर्त्ता—उनको उत्पन्न करने वाली है और वही दुःख और सुख की विकर्त्ता—क्षय करने वाली है। सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र है और दुराचार में प्रवृत्त आत्मा शत्रु।"

४. न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।। (उ० २० : ४८ क, ख)

अपना दुराचार मनुष्य का जो अनिष्ट करता है, वैसा अनिष्ट कण्ठ-छेदन करने वाला शत्रु भी नहीं करता।

५. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं किं वहिया मित्तमिच्छसि ?
(आ० १,३ (३) : ६२)

हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर सें मित्र पाने की इच्छा क्यों करता है ?

६. से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे।
बंध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव।। (आ० १,५ (२) : ३६)

मैंने सुना है और अनुभव भी किया है कि बंधन से मुक्ति आन्तरिक गुणों से होती है।

७. आत्म-जय : परम जय

१. इमेणं चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ?
जुद्धारिहं खलु दुल्लहं। (आ० १,५ (३) : ४५, ४६)

हे प्राणी ! अपनी आत्मा के दुर्गुणों के साथ ही युद्ध कर। दूसरों से युद्ध करने से क्या प्रयोजन ? दुष्ट आत्मा के साथ युद्ध करने योग्य समग्री का पुनः-पुनः मिलना दुर्लभ है।

२. अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा-दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य।। (उ० १ : १५)

आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योंकि वास्तव में आत्मा ही दुर्दम है। जो अपनी आत्मा का दमन कर चुका, वह इहलोक तथा परलोक में सुखी होता है।

३. वरं मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मन्तो बन्धणेहि वहेहि य।। (उ० १ : १६)

दूसरे लोगों द्वारा वध और बन्धनादि से दमन किया जाऊँ—ऐसा न हो। दूसरों के द्वारा दमन किया जाऊँ, उसकी अपेक्षा संयम और तप के द्वारा मैं ही अपनी आत्मा का दमन करूँ—यह अच्छा है।

४. पुरिषा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ।
एवं दुक्खा पमोक्खसि।। (आ० १,३ (३) : ६४)

हे पुरुष ! आत्मा को ही नियन्त्रण में कर। ऐसा करने से तू सर्व दुःखों से मुक्त होगा।

५. जो सहस्सं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ।। (उ० ६ : ३४)

जो व्यक्ति दुर्जय संग्राम में सहस्र-सहस्र शत्रुओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो केवल अपनी एक आत्मा को जीतता है, उसकी यह विजय श्रेष्ठ है।

६. अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ?।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए।। (उ० ६ : ३५)

अपनी आत्मा के साथ युद्ध कर। बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या प्रयोजन? आत्मा द्वारा आत्मा को जीतकर ही मनुष्य सुख प्राप्त करता है।

७. पंचिदियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं।। (उ० ६ : ३६)

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और अपनी दुर्जय आत्मा—ये दस शत्रु हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर सब जीत लिए जाते हैं।

८. आत्मा : रक्षित और अरक्षित

१. बालस्स मंदयं बीयं जं च कडं अवजाणई भुज्जो।
दुगुणं करेइ से पावं पूयणकामो विसण्णेसी।।
(सू० १,४ (१) : २६)

मूर्ख मनुष्य की दूसरी मूर्खता यह होती है कि वह कृत पाप-कर्म को बाद में अस्वीकार करता है। इस तरह निन्दा से बचने की कामना करने वाला विषण्णैषी—असंयमी मनुष्य दुगुना पाप करता है।

२. से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं बीयं तं न समायरे।। (द० ८ : ३१)

विवेकी पुरुष जान या अजान में कोई अधर्म कृत्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को शीघ्र उससे हटा ले और फिर दूसरी बार वह कृत्य न करे।

३. अणायारं परक्कम नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे असंसत्ते जिइंदिए।। (द० ८ : ३२)

अनाचार का सेवन कर लेने पर उस पर पर्दा न डाले और न अस्वीकार करे परन्तु सदा पवित्र, प्रगट, अनासक्त और जितेन्द्रिय रहे।

४. जो पुव्वरत्तावरत्तकाले संपिक्खई अप्पगमप्पएणं।
कि मे कडं किं च मे किच्चसेसं किं सक्कणिज्जं न समायरामि।।
किं मे परो पासइ किं व अप्पा किं वाहं खलियं न विवज्ज्यामि।
(द० चू० २ : १२, १३)

मुमुक्षु रात्रि के प्रथम और पिछले प्रहर में अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा का संप्रेक्षण करता है—मैंने क्या करने योग्य कार्य किया है, क्या कार्य करना शेष है, वे कौन से कार्य हैं जिन्हें करने की शक्ति तो है किन्तु कर नहीं रहा हूं, मुझमें दूसरे क्या दोष देखते हैं, मेरी आत्मा मुझमें क्या दोष पाती है, मैं अपनी किस स्खलना को नहीं छोड़ रहा हूँ।

५. जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं।।
(द० चू० २ : १४)

जब कभी अपने-आप को मन, वचन, काया से कहीं भी दुष्प्रवृत्त होता देखे तो धीर पुरुष लगाम से खींचे गए घोड़े की तरह उसी क्षण अपने-आप को उस दुष्प्रवृत्ति से हटा ले।

६. जस्सेरिया जोग जिइंदियस्स धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी सो जीवइ संजमजीविएणं।।
(द० चू० २ : १५)

जिस धृतिमान, जितेन्द्रिय सत्पुरुष के मन, वचन, काया के योग इस प्रकार नित्य वश में रहते हैं, उसे ही लोक में सदा जाग्रत कहा जाता है। सत्पुरुष हमेशा संयमी जीवन जीता है।

७. अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ।।
(द० चू० २ : १६)

सर्व इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में कर आत्मा की (पापों से) अवश्य ही सतत् रक्षा करनी चाहिए। जो आत्मा सुरक्षित नहीं होती, वह जाति-पथ में (भिन्न-भिन्न योनियों में) जन्म-मरण ग्रहण करती है। जो आत्मा सुरक्षित होती है, वह सर्व दुःखों से मुक्त हो जाती है।

८. जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा।।
(प्र० सा० : २१०४)

जिसने मोहरूपी कालुष्य को नष्ट कर दिया है और जो विषयों से विरक्त है, वह पुरुष अपने मन का निरोध कर अपने स्वभाव में अच्छी तरह स्थित होता है। ऐसा पुरुष अपनी आत्मा का ध्याता होता है।

९. आगतिं गतिं परिण्णाय दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे।
से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण डज्झइ ण हम्मइ कंचणं सव्वलोए।।
(आ० १, ३ (३) : ५८)

आगति और गति को जानकर जिसने दोनों ही अन्तों—राग और द्वेष को छोड़ दिया है वह सारे लोक में न किसी के द्वारा छिन्न होता है और न भिन्न। न दग्ध होता है और न निहत।

६. आराध्य और शरण : आत्मा ही

१. जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स रुद्दाओ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं।। (मो० पा० २६)

जो संसाररूपी महावन के विस्तार से निकलना चाहता है, वह कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

२. णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहि अणवरयं।
थुव्वंतेहि थुणिज्जइ देहत्थं किं तं मुणह।।
(मो० पा० १०३)

नमस्कार योग्य जिसको नमस्कार करते हैं, ध्यान करने योग्य जिसका निरंतर ध्यान करते हैं और स्तुति करने योग्य जिसका स्तवन करते हैं वह शरीर में स्थित आत्मा ही है, अन्य नहीं। उसे ही जानो।

३. अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। (मो० पा० १०४)

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये जो पांच परमेष्ठी हैं, वे भी आत्मा में ही स्थित हैं अर्थात् आत्मा ही अर्हन्त, सिद्ध आदि पदों को प्राप्त करता है। इसलिए निश्चय से आत्मा ही मेरा शरण है।

४. सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। (मो० पा० १०५)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप—ये चारों आत्मा में ही स्थित हैं। अतः आत्मा ही निश्चय से मेरा शरण है।

५. एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। (भा० पा० ५६)

ज्ञान और दर्शन लक्षण वाला एक मेरा आत्मा ही शाश्वत है। शेष सभी मेरे भाव बाह्य हैं। वे सभी पर द्रव्य के संयोग से प्राप्त हुए हैं।

६. जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं।। (भा० पा० ६१)

जो जीव शुभ भावों से संयुक्त होता हुआ आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करता है, वह जरा और मरण का विनाश करके निश्चय से मोक्ष प्राप्त करता है।

: ४ :

दुर्लभ संयोग

१. परम अंग

१. चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं।। (उ० ३ . १)

संसार में प्राणियों के लिए चार परम अंग (उत्तम संयोग) अत्यन्त दुर्लभ है[1]: (१) मनुष्य-भव, (२) धर्म-श्रुति—धर्म का सुनना, (३) श्रद्धा—धर्म में रुचि और (४) संयम—धर्म में वीर्य—पराक्रम।

२. समावन्नाण संसारे नाणा-गोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणा-विहा कट्टु पुढो विस्संभिया पया।। (उ० ३ : २)

संसारी जीव संसार में नाना प्रकार के कर्म कर विविध जाति और विविध गोत्रों में उत्पन्न होते हैं। पृथक्-पृथक् रूप से इन प्राणियों ने इस विश्व को भर रखा है।

३. एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छई।। (उ० ३ : ३)

अपने कर्मों के अनुसार जीव कभी देवलोक में, कभी नरक में और कभी असुर योनि में जन्म ग्रहण करता है।

४. एगया खत्तिओ होइ तओ चण्डाल-वोक्कसो।
तओ कीड—पयंगो य तओ कुन्थु—पिवीलिया।। (उ० ३ : ४)

जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल और कभी वोक्कस। कभी कीट-पतंग और कभी कुन्थु-चींटी होकर जन्म लेता है।

---

१. उत्तराध्ययन के १०वें अध्ययन की १६वीं और १७वीं गाथाओं में क्रमशः 'आर्यत्व' और 'अहीन-पंचेन्द्रियता'—पाँचों इन्द्रियों की सम्पूर्णता को भी दुर्लभ बताया गया है और इनको 'मनुष्य-भव के बाद और 'धर्म-श्रुति' के पहले स्थान दिया है। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

लद्धूण वि माणुसत्तणं आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलेक्खुया समयं गोयम! मा पमायए।।
लद्धूण वि आरियत्तणं अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा।
वगलिंदियया हु दीसई समयं गोयम! मा पमायए।।

५. एवमावट्ट-जोणीसु पाणिणो कम्म-किब्बिसा।
न निविज्जन्ति संसारे सव्वट्ठेसु व खत्तिया।। (उ० ३ : ५)

कर्म द्वारा मलिनता प्राप्त जीव एक के बाद एक योनि में भ्रमण करते हुए भी संसार के प्रति उसी प्रकार निर्वेद को प्राप्त नहीं होते जिस प्रकार (हर तरह से सम्पन्न) क्षत्रिय सर्व प्रकार के अर्थ (धन, कनक, भूमि, वनिता आदि के और अधिक संग्रह) से।

६. कम्मसंगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो।। (उ० ३ : ६)

कर्म-संग से मूढ़, दुःखित और अत्यन्त वेदना-प्राप्त प्राणी मनुष्येतर योनियों में पतित होकर पीड़ित होते हैं।

७. कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सयं।। (उ० ३ : ७)

कर्मों के क्रमशः क्षय से शुद्धि को प्राप्त हुए जीव कदाचित् बहुत लम्बे काल के बाद मनुष्य-भव को पाते हैं।

८. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं।।[1] (उ० ३ : ८)

मनुष्य देह पाकर भी उस धर्म का सुनना दुर्लभ है, जिस धर्म को सुनकर मनुष्य तप, संयम और अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

९. आहच्च सवणं लद्धुं सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई।।[2] (उ० ३ : ९)

कदाचित् धर्म सुन लेने पर भी उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है, क्योंकि मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग को सुनकर भी अनेक जीव उससे भ्रष्ट हो जाते हैं।

१०. सुइं च लद्धुं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि नो एणं पडिवज्जए।।[3] (उ० ३ : १०)

---

१. मिलावें : उ० १० : १८
अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे समयं गोयम ! मा पमायए।।

२. मिलावें : उ० १० : १९
लद्धूण वि उत्तमं सुइं सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे समयं गोयम ! मा पमायए।।

३. मिलावें : उ० १० : २० पृ० ६ पर उद्धृत।

कदाचित् धर्म को सुनकर उसमें श्रद्धा भी प्राप्त हो जाय तो धर्म में पुरुषार्थ होना और भी दुर्लभ होता है। धर्म में रुचि होने पर भी बहुत से लोग धर्म को स्वीकार नहीं करते।

११. माणुसत्तंमि आयाओ जो धम्मं सोच्च्य सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं संवुडे निद्धुणे रयं।। (उ० ३ : ११)

मनुष्य-जन्म पाकर जो धर्म को सुनता है और श्रद्धा करता हुआ उसके अनुसार पुरुषार्थ करता है वह तपस्वी नये कर्मों को रोकता हुआ संचित कर्मरूपी रज को धुन डालता है।

१२. सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घयसित्त व्व पावए।। (उ० ३ : १२)

ऋजु आत्मा की ही शुद्धि होती है। धर्म शुद्ध आत्मा में ही ठहरता है। जिस तरह घी से सींची हुई निर्धूम अग्नि दिव्य प्रकाश को प्राप्त होती है, उसी तरह शुद्ध आत्मा परम निर्वाण को प्राप्त होता है।

२. ज्ञान और क्रिया

१. जावन्तऽविज्जापुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा संसारंमि अणंतए।। (उ० ६ : १)

जो भी विद्याहीन—तत्त्व को नहीं जानने वाले पुरुष हैं, वे सब दुःखों के पात्र होते हैं। इस अनन्त संसार में मूढ़ मनुष्य बार-बार पीड़ित होते हैं।

२. इहमेगे उ मन्नंति अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं सव्वदुक्खा विमुच्चई।। (उ० ६ : ८)

इस संसार में कई ऐसा मानते हैं कि पापों का त्याग किए बिना ही केवल आचार को जान लेने-मात्र से जीव सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

३. भणन्ता अकरेन्ता य बन्धमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं।। (उ० ६ : ९)

ज्ञान से ही मोक्ष बतलाने वाले, पर किसी प्रकार की क्रिया का अनुष्ठान न करने वाले, ऐसे बन्ध-मोक्ष के व्यवस्थावादी लोग, केवल वचनों की वीरतामात्र से अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं।

४. न चित्ता तायए भासा कओ विज्जाणुसासणं ?।
विसन्ना पावकम्मेहिं बाला पंडिय माणिणो।। (उ० ६ : १०)

नाना प्रकार की भाषाएँ जीव को दुर्गति से नहीं बचातीं। विद्याओं का अनुशासन (आधिपत्य) भी कहाँ से रक्षक होगा ? आश्चर्य है कि अपने-आप को पण्डित मानने वाले अज्ञानी मनुष्य पाप कर्म में निमग्न हैं।

५. सम्मिक्ख पंडिए तम्हा पासजाईपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए।। (उ० ६ : २)

इसलिए पण्डित पुरुष अनेक प्रकार के बंधन और नाना जाति-पथ (एकेन्द्रिय आदि जीव-योनियों) की समीक्षा कर आत्मा द्वारा सत्य की गवेषणा करे और सर्व प्राणियों के प्रति मैत्री का आचरण करे।

६. जे केइ सरीरे सत्ता वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं सव्वे ते दुक्खसंभवा।। (उ० ६ : ११)

जो भी मनुष्य मन, वचन, काया से सर्व प्रकार से शरीर, वर्ण और रूप में आसक्त होते हैं, वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

७. बहिया उड्ढमादाय नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मखयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे।। (उ० ६ : १३)

आत्मिक सुख—जो इन्द्रिय सुख से परे और ऊँचा है—उसकी अभिलाषा करे। कभी भी बाह्य अर्थात् विषय-सुखों की कामना न करे। इस देह का पालन-पोषण पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही करे।

८. णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि।। (भग० आ० ७७१)

जो ज्ञान के प्रकाश के बिना मोक्ष-मार्ग पर चलना चाहता है, वह उस अंधे की तरह है, जो अंधकार में दुर्गम जंगल में चलने की इच्छा करता है।

९. जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं।।
(मूल० १० : १५)

जिसके हाथ में दीपक है वही पुरुष यदि कुएँ में गिर जाय तो दीपक हाथ में लेने से क्या लाभ हुआ ? इसी तरह ज्ञान प्राप्त करने पर भी मनुष्य यदि अन्याय का आचरण करे तो उसके शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ ?

१०. संजोग-सिद्धीय उ गोयमा फलं न हु एग-चक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समेच्चा ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा।।
(महा० नि० १ : ३६)

गौतम ! ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही सिद्धि-रूप फल मिलता है। एक चक्के से रथ नहीं चलता। अंधा और पंगु जंगल में मिले एवं दोनों एक-दूसरे से संयुक्त होकर नगर में प्रविष्ट हुए।

११. जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। (मूल० ५ : ८५)

जिससे तत्त्व जाना जाय, जिससे चित्त का निरोध हो, जिससे आत्मा की विशुद्धि हो, उसे ही जिन-शासन में ज्ञान कहा है।

१२. जेण रागा से विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। (मूल० ५ : ८६)

जिससे जीव राग से विरक्त हो, जिससे श्रेय में रक्त हो, जिससे मैत्री-भाव की वृद्धि हो, उसे ही जिन-शासन में ज्ञान कहा गया है।

१३. मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण वाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स।। (बो० पा० २३)

जिसके पास मतिज्ञानरूपी दृढ़ धनुष है, श्रुतज्ञानरूपी डोरी है, रत्नत्रयरूपी अच्छे बाण हैं और जिसने परमार्थ को निशान बनाया है, वह मोक्ष-मार्ग से नहीं चूकता।

३. संयम और तप

१. पाणवहमुसावाया अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासओ।। (उ० ३० : २)

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत जीव अनास्रव (नए कर्मार्जन से रहित) हो जाता है।

२. पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो।।[1] (उ० ३० : ३)

---

१. मिलावें : मू० ७४१

मणवयणदायगुत्तिंदियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स।
आसवदारणिरोहे णवकम्मरयासवो ण हवे।।

जो जीव पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, चार कषायों से रहित, जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकार के गौरव और तीन प्रकार के शल्य से रहित होता है, वह अनास्रव हो जाता है।

३. जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे।।
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।। (उ० ३० : ५, ६)

जिस तरह जल आने के मार्गों को रोक देने पर बड़ा तालाब पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है, उसी तरह आस्रव—पाप-कर्म के प्रवेश-मार्ग को रोक देने वाले संयमी पुरुष के करोड़ों भवों के संचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं।

४. तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे।
ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं।।
(भ० आ० १८५४)

तालाब में स्रोत से जल प्रवेश करते रहने पर जैसे वह तालाब पूरा नहीं सूख पाता वैसे ही जिन वचन के अनुसार संवररहित मनुष्य को केवल तप से मोक्ष नहीं होता।

५. संजमजोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे जीवो।। (मू० ५ : ५५)

संयम और योग से युक्त जो पुरुष अनेक (बारह) भेदरूप तप में प्रवृत्ति करता है, वह विपुल कर्मों की निर्जरा करता है।

६. जह धाऊ धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो।
तवसा तधा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं वा।।[1] (मूल० ५ : ५६)

जैसे सुवर्ण धमाने और अग्नि द्वारा तपाने पर मलरहित होकर शुद्ध हो जाता है, उसी तरह यह जीव भी तपरूपी अग्नि से तपाया जाने पर कर्मों से रहित होकर शुद्ध हो जाता है।

७. णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो।
दहइ तवो भववीयं तणकट्ठादी जहा अग्गी।। (मू० ७४७)

ज्ञानरूपी प्रचंड पवन से युक्त, शील, उत्तम समाधि और संयम से प्रज्वलित तप संसार के कारणभूत कर्मों को वैसे ही भस्म कर देता है, जैसे अग्नि तृण, काष्ठ आदि को।

---

१. मू० २४३।

८. चिरकालमज्जिदंपि य विहुणदि तवसा रयति णाऊण।
दुविहे तवम्मि णिच्चं भावेदव्वो हवदि अप्पा।। (मू० ७४८)

बहुत काल का भी संचित कर्म-रज तप से नष्ट हो जाता है, ऐसा जानकर दो प्रकार के तप में आत्मा को निरन्तर भावित करना चाहिए।

९. जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थति।
एवं अत्त-समाहिए अणिहे। (आ० १,४ (३) : ३३)

जिस तरह अग्नि पुरानी सूखी लकड़ी को शीघ्र जला डालती है, उसी तरह आत्मनिष्ठ ओर स्नेहरहित जीव तप से कर्मों को शीघ्र जला डालता है।

१०. सउणी जह पंसुगुंडिया विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे।।
(सू० १,२ (१) : १५)

जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई रज को अपना शरीर कँपाकर झाड़ देती है, उसी तरह से जितेन्द्रिय अहिंसक तपस्वी अनशन आदि तप द्वारा अपने आत्मप्रदेशों से कर्म-रज को झाड़ देता है।

११. खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो।। (उ० २८ : ३६)

सर्व दुःखों का क्षय करने की कामना वाले पुरुष संयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय कर सिद्धि गति को प्राप्त करते हैं।

१२. तवनारायजुत्तेण भेत्तुणं कम्मकंचुयं।
मुणि विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चए।। (उ० ६ : २२)

तपरूपी वाण से संयुक्त हो, कर्मरूपी कवच का भेदन करनेवाला ज्ञानी पुरुष संग्राम का अंत ला, संसार से (जन्म-जन्मान्तर से) मुक्त हो जाता है।

१३. पंडिए वीरियं लद्धुं णिग्घायाय पवत्तगं।
धुणे पुव्वकडं कम्मं णवं चावि ण कुव्वइ।। (सू० १,१५ : २२)

पंडित पुरुष, कर्मों को विदारण करने में समर्थ वीर्य को पाकर नवीन कर्म न करे और पूर्वकृत कर्मों को धुन डाले।

४. त्रिरत्न

१. रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो।
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं।। (मो० पा० ३४)

रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आराध्य है, जीव आराधक है, अनुष्ठान आराधना है। आराधना करने का फल केवलज्ञान की प्राप्ति है।

२. सिद्धे सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य।
सो जिणपरेहिं भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं।। (मो० पा० ३५)

जिनवर भगवान ने सिद्ध पद को प्राप्त शुद्ध आत्मा को सर्वज्ञ और सर्वलोकदर्शी कहा है, उसे ही तुम केवलज्ञान जानो। (केवलज्ञान आत्मरूप है। उसकी प्राप्ति शुद्धात्मा की प्राप्ति है।)

३. रयणत्तयं पि जोइ आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाणं पिरहरदि परं ण संदेहो।। (मो० पा ३६)

जो योगी जिनवर भगवान के द्वारा बताए हुए मार्ग के अनुसार रत्नत्रय की आराधना करता है, वह आत्मा का ध्यान करता है और परवस्तु का त्याग करता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

४. जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं।। (मो० पा० ३७)

जो जानना है वह ज्ञान है, जो देखना है (श्रद्धा करना है) वह दर्शन है और जो पुण्य और पाप का परित्याग है वह चारित्र है।

५. तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं।
चारित्तं परिहारो पयंपियं जिणवरिंदेहिं।। (मो० पा० ३८)

तत्त्वों में रुचि होने का नाम सम्यग्दर्शन है। तत्त्वों के स्वरूप को ठीक-ठीक ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है। कर्मों को लाने वाली क्रियाओं को त्यागना सम्यक्चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

६. दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं।। (मो० पा० ३९)

जो दर्शन से शुद्ध है वह शुद्ध है। जो दर्शन से शुद्ध है वह निर्वाण को प्राप्त करता है। जो पुरुष सम्यग्दर्शन से रहित है वह ईप्सित लाभ—मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता।

७. इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि।। (मो० पा० ४०)

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का यह उपदेश ही सारभूत है, यही जरा और मरणादि का हरने वाला है, जो ऐसा मानता है उसे ही सम्यग्दर्शन की उपलब्धि कही है। यह सम्यग्दर्शन मुनि और श्रावक दोनों के लिए है।

८. जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं।। (मो० पा० ४१)

जिनवर भगवान के द्वारा बतलाए हुए मार्ग के अनुसार जो योगी जीव और अजीव को जानता है, उसे सर्वदर्शी परमात्मा ने यथार्थ सम्यग्ज्ञान कहा है।

९. जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण।। (मो० पा० ४२)

उस जीव और अजीव के भेद को जानकर जो योगी पुण्य और पाप का त्याग करता है, उसे कर्मों से रहित जिनेन्द्र देव ने निर्विकल्प चारित्र कहा है।

१०. जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो, पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं।' (मो० पा० ४३)

जो संयमी रत्नत्रय से युक्त होता हुआ अपनी शक्तिपूर्वक तप करता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद—मोक्ष को प्राप्त करता है।

५. समायोग

१. णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो।। (द० पा० ३०)

ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्ररूपी संयम गुण से अर्थात् इन चारों के समायोग से जिन-शासन में मोक्ष कहा गया है।

२. तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।। (मो० पा० ५६)

तपरहित ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञानरहित तप भी व्यर्थ है। अतः ज्ञान और तप से संयुक्त मनुष्य ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

३. अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेदि निरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धि संसारत्थो पुणो भणिदो।। (सू० पा० १५)

जो आत्मा को नहीं चाहता और समस्त धर्माचरण करता है उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ऐसे मनुष्य को संसारी ही कहा है।

४. एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण।। (सू० पा० १६)

इस कारण हे मनुष्य! तू मन, वचन, काया से उस आत्मा का श्रद्धान कर तथा प्रयत्नपूर्वक उस आत्मा को जान, जिससे तू मोक्ष को प्राप्त कर सके।

५. ण हि आगमेण सिज्सदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।।
(प्र० सा० ३ : ३७)

यदि जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं है तो आगम के जानने से भी मुक्ति नहीं होती। इसी तरह जीवादि पदार्थों का श्रद्धान होते हुए भी यदि मनुष्य असंयमी है तो उसे भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

६. बहुगंपि सुदमधीदं किं काहदि अजाणमाणस्स।
दीवविसेसो अंधे णाणविसेसोवि तह तस्स।।[1] (मूल० १० : ६५)

जो आचरण रहित है वह बहुत से शास्त्रों को भी पढ़ ले तो उसका वह शास्त्रज्ञान क्या कर सकता है? जैसे अंधे के हाथ में दीपक की कोई विशेषता नहीं होती, उसी प्रकार आचरणहीन के ज्ञान की कोई विशेषता नहीं होती।

७. णाणं करणविहूणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि।।
(भग० आ० ७७०)

ऐसा ज्ञान, जिसके साथ चारित्र नहीं है; ऐसा वेश-ग्रहण, जिसके साथ दर्शन नहीं है; ऐसा तप, जो संयम से रहित है—जो इनकी साधना करता है वह निरर्थक साधना करता है।

८. धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं।। (मूल० ६ : ३)

---

१. सुबहुं पि सुयगहीयं किं काठी चरणविप्पमुक्कस्स।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्स कोडी वि।। (आ० नि०)

जो पुरुष धीर और वैराग्यपरायण है वह थोड़ा पढ़ा हो तो भी सिद्धि से युक्त होता है।। सब शास्त्रों को पढ़ लेने पर भी जो वैराग्यहीन है उस पुरुष की सिद्धि नहीं होती।

६. थोवह्मि सिक्खिदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण।। (मूल० ६ : ६)

जो चारित्र से सम्पूर्ण होता है वह थोड़ा-सा पढ़ा होने पर भी बहुश्रुत को जीत लेता है। जो चारित्र से हीन है उसके बहुत शास्त्र पढ़ लेने से भी क्या लाभ?

१०. णाणं करणविहीणं लिंगग्गहणं च संजमविहीणं।
दंसणरहिदो व तवो जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ।। (मूल० १० : ६)

जो पुरुष क्रियारहित ज्ञान, संयमरहित साधु-वेष, सम्यक्त्वरहित तप को धारण करता है वह उन्हें निरर्थक ही धारण करता है।

११. सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि।। (मूल० १० : १२)

सम्यक्त्व से ज्ञान—सम्यग्ज्ञान होता है, ज्ञान से सब पदार्थों के स्वरूप की पहचान होती है और जिसने पदार्थों का स्वरूप अच्छी तरह जान लिया है वही हित और अहित को जानता है।

१२. बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति।
(मूल० १० : २६ ग, घ)

मूलगुणरहित पुरुष के सब बाह्य योग क्या कर सकते हैं?

१३. घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स।
अब्भंतरह्मि कुहिदस्स तस्स दु कि बज्झजोगेहिं।। (मू० ६६४)

बाह्य में बगुले के समान निश्चल हाथ-पाँव वाले और घोड़े की लीद के सामान चिकने और अभ्यंतर में कुत्सित साधक के बाह्य योगों से क्या लाभ?

१४. भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी।। (मू० ६६५)

जो भाव—अंतरंग में विरक्त है, वास्तव में वही विरक्त है। केवल बाह्य विरक्त की सुगति नहीं होती। इसलिए विषय-वन में क्रीड़ालंपट मनरूपी हाथी को रोकना चाहिए।

: ५ :

धर्म

१. दस धर्म

१. उत्तमखम-मद्दवज्जव-सच्च-सउच्चं च संजमं चेव।
तव-चागमकिंचण्हं बह्मा इन्दि दसविहं होदि।।(कुन्द० अ० ७०)

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य—ये धर्म के दस भेद हैं।

२. कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचि वि कोहो तस्स खमा होदि धम्मो त्ति।।
(कुन्द० अ० ७१)

क्रोध की उत्पत्ति का साक्षात् बाह्य कारण होने पर भी जो किंचित् भी क्रोध नहीं करता, उसके क्षमा धर्म होता है।

३. कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु तव-सुद-सीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स।।
(कुन्द० अ० ७२)

जो कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील का किंचित् भी मद नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है।

४. जे चिंतेइ ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपए वंकं।
ण य गोवदि णिय-दोसं अज्जव-धम्मो हवे तस्स।। (द्वा० अ० ३६६)

जो मन में वक्र चिन्तन नहीं करता, जो काय से वक्र आचरण नहीं करता, जो वचन से वक्र नहीं बोलता और अपने दोषों को नहीं छिपाता, उसके उत्तम आर्जव धर्म होता है।

५. परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं।। (कुन्द० अ० ७४)

दूसरों को सन्ताप पहुँचाने वाले वचनों का त्याग कर जो अपना और दूसरों का हित करने वाला वचन बोलता है, उसके चौथ सत्य धर्म होता है।

६. कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं।। (कुन्द० अ० ७५)

जो आकांक्षा-भाव को दूर करके वैराग्य भावना से युक्त रहता है, उसके शौच धर्म होता है।

७. सम-संतोस-जलेणं य जो धोवदि तिव्व-लोह-मल-पुंजं।
भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं।।
(द्वा० अ० ३६७)

जो समभाव और सन्तोषरूपी जल से तृष्णा और लोभरूपी मल के समूह को धोता है, जो भोजन की गृद्धि से रहित है, उसके निर्मल शौच धर्म होता है।

८. जो जीव-रक्खण-परो गमणागमणादि-सव्व-कम्मेसु।
तण-छेदं पि ण इच्छदि संजम-भावो हवे तस्स।। (द्वा० अ० ३६६)

जीवों की रक्षा में तत्पर जो मनुष्य गमनागमन आदि सब कार्यों में तृण का भी छेद नहीं चाहता, उसके संयम धर्म होता है।

९. इह-परलोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो।
विविहं काय-किलेसं तव-धम्मो णिम्मल्लो तस्स।।
(द्वा० अ० ४००)

जो इहलोक-परलोक के सुख की अपेक्षा से रहित होता हुआ सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण-कंचन, निन्दा-प्रशंसा आदि से राग-द्वेष रहित समभावी होता हुआ अनेक प्रकार के काय-कलेश करता है, उसके निर्मल तप धर्म होता है।

१०. विसय-कसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण।। (कुन्द० अ० ७७)

विषय और कषाय भाव का निग्रह कर, जो ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना भाता है, उसके नियम से तप धर्म होता है।

११. णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं।। (कुन्द० अ० ७८)

जो समस्त द्रव्यों से मोह का त्याग कर तीन प्रकार के निर्वेद की भावना करता है, उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

१२. जो चयदि मिट्ठ-भोज्जं उवयरणं राय-दोस-संजणयं।
वसदिं ममत्त-हेदुं चाय-गुणो सो हवे तस्स।।(द्वा० अ० ४०१)

जो मिष्ट भोजन को छोड़ता है, राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को छोड़ता है, ममत्व के हेतु वास-स्थान को छोडता है, उसके त्याग नामक धर्म होता है।

१३. होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं।।(कुन्द० अ० ७६)

जो समस्त परिग्रह को छोड़कर और सुख-दुःख देने वाले आत्म-भावों का निग्रह कर निर्द्वन्द्व रहता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

१४. जो परिहरेदि संगं, महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।
कामकहादिणियत्तो णवहा बंभं हवे तस्स।। (द्वा० अ० ४०३)

जो स्त्रियों की संगति नहीं करता, उनके रूप को नहीं देखता, काम-कथादि से रहित होता है तथा जो मन, वचन, काया तथा कृत, कारित, अनुमति से ऐसा करता है, उसके ब्रह्मचर्य धर्म होता है।

१५. एसो दह-प्पयारो धम्मो दह-लक्खणो हवे णियमा।
अण्णो ण हवदि धम्मो हिंसा सुहमा वि जत्थत्थि।। (द्वा० अ० ४०५)

यह दस प्रकार का धर्म ही नियम से दसलक्षणरूप धर्म है। इससे अन्य जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा हो, वह धर्म नहीं है।

१६. एदे दह-प्पयारा पाव-कम्मस्स णासया भणया।
पुण्णस्स य संजणया पर पुण्णत्थं ण कायव्वा।। (द्वा० अ० ४०६)

ये दस प्रकार के धर्म के भेद पाप-कर्म का नाश करने वाले और पुण्य-कर्म को उत्पन्न करने वाले कहे गए हैं, परन्तु पुण्य के प्रयोजन से इनको अंगीकार करना उचित नहीं है।

२. धर्म-स्थित

१. जो धम्मत्थो जीवो सो रिउ-वग्गे वि कुणइ खम-भावं।
ता पर-दव्वं वज्जइ जणणि-समं गणइ पर-दारं।।
(द्वा० आ० ४२६)

जो जीव धर्म में स्थित है वह शत्रुओं के समूह पर भी क्षमा भाव करता है, दूसरे के द्रव्य का वर्जन करता है और परस्त्री को माँ के समान समझता है।

२. धुट्टिय रयणाणि जहा रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि।
माणुसभवे वि धुट्टिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा।।(भग० आ० १८३१)

जो व्यक्ति मनुष्य-भव में भी धर्म को छोड़कर भोगों की अभिलाषा करता है, वह वैसा ही है जैसा वह जो रत्नद्वीप पहुँचकर भी रत्नों को छोड़कर लकड़ियों को इकट्ठा करता है।

३. गंतूण णंदणवणं अभयं छंडिय विसं जहा पियइ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा।।(भग० आ० १८३२)

जो व्यक्ति दुर्लभ मनुष्य-भव में भी धर्म को छोड़कर भोगों की चाह करता है, वह वैसा ही है जैसे वह जो नंदन वन में जाकर भी अमृत को छोड़ विषपान करे।

४. हिंसारंभो ण सुहो देव-णिमित्तं गुरूण कज्जेसु।
हिंसा पावं ति मदो दया-पहाणो जदो धम्मो।। (द्वा० अ० ४०६)

चूँकि हिंसा पाप कही गई है और धर्म को दयाप्रधान कहा गया है, इसलिए देव के निमित्त अथवा गुरु के कार्य के निमित्त हिंसा करना शुभ नहीं है।

५. देव-गुरूण णिमित्तं हिंसारम्भो वि होदि जदि धम्मो।
हिंसा-रहिओ धम्मो इदि जिण-वयणं हवे अलियं।। (द्वा० अ० ४०७)

यदि देव और गुरु के निमित्त हिंसा का आरम्भ भी धर्म हो तो 'धर्म हिंसा रहित है' ऐसा जिनेन्द्र वचन असत्य सिद्ध होगा।

६. मरणभयभीरूआणं अभयं जो देदि सव्वजीवाणं।
तं दाणाणवि दाणं तं पुण जोगेसु मूलजोगंपि।। (मू० ६३६)

मरण-भय से भयभीत सब जीवों को जो अभयदान देता है वही दान सब दानों में उत्तम है और वह दान सब आचरणों में प्रधान आचरण है।

७. आरंभे पाणिवहो पाणिवहे होदि अप्पणो हु बहो।
अप्पा ण हु हंतव्वो पाणिवहो तेण मोत्तव्वो।। (मू० ६२१)

आरम्भ में जीवघात होता है। जीवघात होने से आत्मघात होता है। चूँकि आत्मघात करना ठीक नहीं, अतः आरम्भ–हिंसा का त्याग करना ही उचित है।

३. आत्मार्थ : परार्थ

१. आतं परं च जाणेज्जा सव्वभावेण सव्वधा।
आयट्ठं च परट्ठं च पियं जाणे तहेव य।। (इसि० ३५ : १२)

साधक 'स्व' और 'पर' का सर्वभाव से सर्वथा परिज्ञान करे, साथ ही आत्मार्थ और परार्थ को भी जाने।

२. सए गेहे पलित्तम्मि किं धावसि परातकं ?।
सयं गेहं णिरित्ताणं ततो गच्छे परातकं।। (इसि० ३५ : १३)

अपना घर जल रहा है तब दूसरे के घर की ओर क्यों दौड़ रहे हो ? स्वयं के घर का बचाव कर लेने के बाद दूसरे के घर की ओर जाओ।

३. आतट्ठे जागरो होही नो परट्ठाहि धारए।
आतट्ठो हावए तस्स जो परट्ठाहि धारए।। (इसि० ३५ : १४)

आत्मार्थ के लिए जागृत बनो। परार्थ को धारण न करो। जो परार्थ को अपनाता है, वह आत्मार्थ को खो बैठता है।

४. जइ परो पडिसेवेज्ज पावियं पडिसेवणं।
तुज्झ मोणं करेंतस्स के अट्ठे परिहायति?।। (इसि० ३५ : १५)

यदि दूसरा कोई पाप सेवन कर रहा है तो तुझे मौन में क्या हानि होती है।

५. आतट्ठो णिज्जरायंतो परट्ठो कम्मबंधणं।
अत्ता समाहिकरणं अप्पणो य परस्स य।। (इसि० ३५ : १६)

आत्मार्थ निर्जरा का हेतु है और परार्थ कर्म-बन्धन का हेतु। आत्मा ही स्व और पर के लिए समाधि का करने वाला है।

६. अण्णातयम्मि अट्टालकम्मि किं जग्गिएण वीरस्स?।
णियगम्मि जग्गियव्वं इमो हु बहुचोरतो गामो।।(इसि० ३५ : १७)

अज्ञात अट्टालिका में वीर के जागने से क्या होगा? स्वयं को जागना होगा। क्योंकि यह ग्राम बहुत चोरों का है।

७. जग्गाहि मा सुवाहि माते धम्मचरणे पमत्तस्स।
काहिंति बहुं चोरा संजमजोगे हिडाकम्मं।। (इसि० ३५ : १८)

जाग्रत रहो। सोओ मत। धर्माचरण में प्रमत्त होने पर तुम्हारे संयम-योग को बहुत से चोर लूट लेंगे।

८. जागरह णरा णिच्चं जागरमाणस्स जागरति सुत्तं।
जे सुवति न से सुहिते जागरमाणे सुही होति।।(इसि० ३५ : २२)

मनुष्यो! सदा जाग्रत रहो। जाग्रत रहने वाले कि लिए सूत्र भी जाग्रत रहता है। जो सोता है वह सुख प्राप्त नहीं करता। जाग्रत रहने वाला सुखी होता है।

९. जागरंतं मुणिं वीरं दोसा वज्जेंति दूरओ।
जलंतं जातवेथं वा चक्खुसा दाहभीरुणो।। (इसि० ३५ : २३)

जाग्रत वीर पुरुष को दोष वैसे ही दूर से ही छोड़ देते हैं जैसे आँखों से देखते ही दाह-भीरु मनुष्य ज्वलित अग्नि को दूर से ही छोड़ देते हैं।

: ६ :

कामभोग

१. कामभोग

१. उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई।। (उ० २५ : ३६)

भोग में कर्मों का उपलेप—बन्धन—होता है। अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी को जन्म-मरण रूपी संसार में भ्रमण करना पड़ता है, जबकि अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है।

२. उल्लो सुक्को य वो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोतत्थ लग्गई।।
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरात्ता उ न लग्गंति, जहा सुक्को उ गोलओ।।
(उ० २५ : ४०, ४१)

जिस तरह सूखे और गीले दो मिट्टी के गोलों को फेंकने पर दोनों दीवार पर गिरते हैं, किन्तु गीला ही दीवार के चिपकता है; उसी प्रकार जो काम-लालसा में आसक्त और दुष्ट बुद्धि वाले मनुष्य होते हैं, वे संसार में बन्धन को प्राप्त होते हैं। जो कामभोगों से विरक्त होते हैं, वे बन्धन को प्राप्त नहीं होते, जैसे सूखा गोला दीवार के नहीं चिपकता।

३. खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।।
(उ० १४ : १३)

कामभोग क्षणिक (इन्द्रिय) सुख देने वाले होते हैं और दीर्घकालीन आत्मिक दुःख। उनसे सुखानुभव तो नाममात्र होता है और दुःख का कोई ठिकाना नहीं। संसार से छुटकारा पाने में ये विघ्नकारी हैं। ये कामभोग अनर्थों की खान हैं।

४. सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं।। (उ० ६ : ५३)

कामभोग शल्यरूप हैं, कामभोग विषरूप हैं, आशीविष सर्प के सदृश हैं। भोगों की प्रार्थना करते-करते जीव बिचारे उनको प्राप्त किये बिना ही दुर्गति में चले जाते हैं।

५. सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा।। (उ० १३ : १६)

सर्व गीत विलाप हैं, सर्व नाट्य विडम्बना हैं, सर्व आभूषण भार हैं और सर्व कामभोग दुःखावह हैं।

६. गिद्धोवमे उ नच्चाणं, कामे संसारेवड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व संकमाणो तणुं चरे।। (उ० १४ : ४७)

गीध पक्षी के दृष्टान्त से[1] कामभोगों को संसार को बढ़ानेवाले जानकर विवेकी पुरुष, गरुड़ के समीप सर्प की तरह, कामभोगों से सशंकित रहता हुआ चले।

७. इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई।।
इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे जनावरज्झई ।। (उ० ७ : २५, २६ क, ख)

इस संसार में कामभोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। मोक्ष-मार्ग को सुनकर भी वह उससे पुनः-पुनः भ्रष्ट हो जाता है। इस मनुष्य-भव में कामभोगों से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट नहीं होता।

८. कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धंमि आउए।
कस्स हेडिं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे ?।। (उ० ७ : २४)

इस सीमित आयु में कामभोग कुश के अग्रभाग के समान स्वल्प हैं। तुम किस हेतु को सामने रखकर आगे के योगक्षेम को नहीं समझते ?

९. जे गिद्धे काम-भोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खु-दिट्ठा इमा रई।। (उ० ५ : ५)

जो कोई मनुष्य शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के कामभोगों में आसक्त होता है, वह नाना पापकृत्य में प्रवृत्त होता है। जब उसे कोई धर्म की बात कहता है, तो वह कहता है: "मैंने परलोक नहीं देखा और इन कामभोगों का आनन्द तो आँखों से देखा जाता है। यह प्रत्यक्ष है।

१०. हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो?।। (उ० ५ : ६)

"ये वर्तमान काल के कामभोग हाथ में आए हुए हैं। भविष्य के कामभोग कब मिलेंगे—कौन जानता है और यह भी कौन जानता है कि परलोक है या नहीं?"

---

१. जिस गीध के पास मांस होता है उस पर दूसरे पक्षी झपटते हैं, जिसके पास मांस नहीं होता उस पर नहीं झपटते।

११. जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।
काम-भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई।। (उ० ५ : ७)

"मैं तो अनेक लोगों के साथ रहूँगा"—मूर्ख मनुष्य इसी प्रकार धृष्टता भरी बातें कहा करता है। ऐसा मनुष्य कामभागों के अनुराग से इस लोक और परलोक में क्लेश की प्राप्ति करता है।

१२. जे इह सायागुणा णरा, अज्झोववण्णा कामेहि मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, ण वि जाणंति समाहिमाहियं।।
(सू० १, २ (३) : ४)

इस संसार में जो मनुष्य सुखशील हैं, समृद्धि, रस और सुख में गृद्ध हैं, कामभोग में मूर्च्छित हैं, इन्द्रिय-लम्पट पुरुषों की तरह धृष्ट हैं, वे वीतराग पुरुषों के बताये समाधि–मार्ग को नहीं जानते।

१३. वाहेण जहा व विच्छए, अबले होइ गवं पचोइएं।
से अंतसो अप्पथामए, णाईवचए अबले विसीयइ।।
एवं कामेसणाविऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं।
कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुइं।।
(सू० १, २ (३) : ५, ६)

जिस तरह वाहक द्वारा चाबुक मारकर प्रेरित किया हुआ अर्थात् त्रास देकर हाँका जाता हुआ बैल थक जाता है और मारे जाने पर भी अल्प बल के कारण आगे नहीं चलता और रास्ते में कष्ट पाता है, उसी तरह क्षीण मनोबल वाला अविवेकी पुरुष सद्बोध पाने पर भी कामभोगरूपी कीचड़ से नहीं निकल सकता। आज या कल इन भोगों को छोड़ूँगा, वह केवल यही सोचा करता है। सुख चाहने वाला पुरुष काम भोगों की कामना न करे और प्राप्त हुए भोगों को भी अप्राप्त हुआ करे—त्यागे।

१४. मा पच्छ असाहुया भवे अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु सोयई से थणई परिदेवई बहुं।। (सू० १, २ (३) : ७)

कहीं परभव में दुर्गति न हो इस विचार से आत्मा को विषय-संग से दूर करो और उसे अंकुश में रखो। असाधु कर्म से तीव्र दुर्गति में गया हुआ जीव अत्यन्त शोक करता है, आक्रन्दन करता है, विलाप करता है।

१५. इह जीवियमेव पासहा तरुण एव वाससयस्स तुट्टई।
इत्तरवासं व बुज्झहा णिद्ध णरा कामेसु मुच्छिया।।
(सू० १, २ (३) : ८)

संसार में और पदार्थ की तो बात ही क्या, इस अपने जीवन को ही देखो। यह पल-पल क्षीण हो रहा है। कभी आयु तरुणावस्था में पूरी हो जाती है और अधिक हुआ तो सौ वर्ष के छोटे-से काल में। यहाँ कितना क्षणिक निवास है। हे जीव ! समझो। कितना आश्चर्य है कि आयुष्य का भरोसा न होते हुए भी विषयासक्त पुरुष कामों में मूर्च्छित रहते हैं।

१६. ण य संखयमाहु जीवियं तह वि य बालजणो पगब्भई।
पच्चुप्पणेण्ण कारियं के दट्ठुं परलोगमागए ?।।
(सू० १, २ (३) : १०)

टूटा हुआ आयु नहीं जोड़ा जा सकता—ऐसा सर्वज्ञों ने कहा है; तो भी मूर्ख लोग धृष्टतापूर्वक पाप करते रहते हैं और कहते हैं, "हमें तो वर्तमान से ही मतलब है। परलोक कौन देखकर आया है ?"

१७. अदक्खुव ! दक्खुवाहियं सद्दहसू अदक्खुदंसणा।
हंदि ! हु सुणिरुद्धदंसणे ! मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा।।
(सू० १, २ (३) : ११)

हे नहीं देखने वाले पुरुषो ! त्रिभुवन को देखने वाले ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर श्रद्धा करो। मोहनीय कर्म के उदय से अवरुद्ध दर्शन-शक्ति वाले अंध पुरुषो ! सर्वज्ञों के वचनों को ग्रहण करो।

१८. पुरिसोम पावकम्मुणा पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सण्णा इह काममुच्छिया मोहं जंति णरा असंवुडा।।
(सू० १, २ (१) : १०)

हे पुरुष ! पाप कर्मों से निवृत्त हो जा। यह मनुष्य-जीवन शीघ्रता से दौड़ा जा रहा है। भोरूपी कीचड़ में फँसा हुआ और कामभोगों में मूर्च्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिता-हित विवेक को खोकर मोहग्रस्त होता है।

२. मृगतृष्णा

१. कच्छुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे।
दुक्खे मुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणहि तहा।।
(भग० आ० १२५२)

जैसे कच्छु रोग को नखों से खुजलाने वाला मनुष्य दुःख में सुख का अभिमान करता है, वैसे ही मैथुन आदि दुःखों में प्राणी सुख का अभिमान करता है।

२. घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ।
तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी।।
(भग० अ० १२५३)

घोषातकी नामक कड़ ए फल को खाता हुआ मूर्ख कृमि जैसे उसको मीठा मानता है, वैसे ही कामी पुरुष वास्तव में दुःख का भोग करता हुआ उसको सुख मानता है।

३. ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमठ्ठियं रसं सुणहो।
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुक्खं।।
महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं।।
(भग० आ० १२५५-५६)

जैसे कुत्ता रक्तहीन सूखी अस्थि को चबाता हुआ रस को प्राप्त नहीं करता किन्तु अपने ही तालू से निकले हुए रक्त को चूसता हुआ सुख मानता है वैसे ही स्त्री आदि भोगों का सेवन करने वाला पुरुष थोड़ा भी सुख प्राप्त नहीं करता, किन्तु अपने शरीर के परिश्रम को ही सुख मान लेता है।

४. सुठ्ठु वि मग्गिजंतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो।
तण णत्थि सुहं मग्गिज्जंते भोगेसु अप्पं पि।।
(भग० आ० १२५४)

सूक्ष्म रूप से अन्वेषण करने पर भी कदली में कहीं भी कोई सार नहीं देखा जाता, वैसे ही खोज करने पर भी भोगों में थोड़ा भी सुख नहीं पाया जाता।

५. दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स।।
(भग० आ० १२५७)

जैसे जंगल में विचरने वाले तृषित हिरणों को मृगतृष्णिका जल के समान दीखती है, वैसे ही राग-भाव से तृषित मनुष्यों को भोग सुख-रूप दिखाई देते हैं।

६. वग्घो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि।
तह कुणिमदेहसंफंसणेण अबुहा सुखायंति।।
(भग० आ० १२५८)

श्मशान में व्याघ्र शव का भक्षण कर तृप्त होता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य कुत्सित शरीर के स्पर्श से सुख का अनुभव करता है।

७. तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अठितवेगस्स।
गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं।। (भग० आ० १२५६)

ग्रीष्मकाल में सूर्य के धूप से अभितप्त बिना रुके दौड़ते हुए पथिक को रास्ते में वृक्ष की छाया से अल्प ही सुख मिलता है, वैसे ही इस जीव को भोग-पदार्थों से अल्प-सा ही सुख मिलता है।

८. अहवा अप्पं आसाससुहं सरिदाए उप्पिंतस्स।
भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण।। (भग० आ० १२६०)

अथवा नदी में जल के प्रवाह से बहते चले जाते हुए पुरुष को अँगूठे से भूमि का स्पर्श होने से जैसे थोड़ा अश्वासन रूप सुख होता है, वैसे ही वैषयिक भोगों में अल्प सुख होता है।

९. जावंति केइ भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते।
को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजडेसु।। (भग० आ० १२६१)

जो भी भोग प्राप्त हैं वे तुम्हें अनन्त बार प्राप्त हुए हैं, अतः प्राप्त कर छोड़े हुए भोगों में विस्मय जैसी क्या है ?

१०. दुक्खं उप्पादिंता पुरिसा पुरिसस्स होदि जदि सत्तू।
अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सत्तू किह ण हुंती।।
(भग० आ० १२७१)

दुःख उत्पन्न करने से यदि पुरुष-पुरुष के शत्रु होते हैं तो अतिशय दुःख देने वाले इन्द्रिय-सुख क्यों न शत्रु माने जायेंगे ?

११. इधइं परलोगे वा सत्तू मित्तत्तणं पुणमुवेंति।
इधइं परलोगे वा सदाइ दुःखावहा भोगा।। (भग० आ० १२७२)

इसी जन्म में अथवा पर-जन्म में शत्रु पुनः मित्रता धारण कर सकते हैं, परन्तु भोग इस लोक में तथा परलोक में सदा ही दुःखकारी होते हैं।

१२. एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी।
भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु।।
(भग० आ० १२७३)

शत्रु इस एक ही भव में देह को दुःख उत्पन्न कर सकता है अथवा नहीं भी कर सकता है, परन्तु भोग कोटि-कोटि भवों में दुःख उत्पन्न करते हैं।

१३. जीवस्स कुजोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयंतस्स।
किं ते करंति भोगा मदो व वेज्जो मरंतस्स।।
(भग० आ० १२७७)

कुयोनियों में दुःख का अनुभव करते हुए जीव की वे भोग क्या रक्षा कर सकते हैं? मरा हुआ वैद्य मरने वाले का क्या उपचार कर सकता है ?

१४. भोगोवभोगसोक्खं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि।
एदेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविसिट्ठं।। (भग० आ० १२४८)

भोगोपभोग से जो सुख मनुष्य को होता है तथा भोग के नाश से जो दुःख होता है—इन दोनों में भोग-पदार्थों के नाश से उत्पन्न दुःख ही अधिक होता है।

१५. जह कोडिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि।
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि।।
(भग० आ० १२५१)

जैसे कुष्ठी मनुष्य अग्नि का सेवन करता हुआ रोग की शान्ति को प्राप्त नहीं होता है, वैसे ही भोगों को भोगता हुआ प्राणी संतोष को प्राप्त नहीं होता है।

१६. जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा।
अग्गीव इंधणाइं तण्हं दीविंति से भोगा।।
(भग० आ० १२६२)

जैसे-जैसे मनुष्य भोगों को भोगता है, वैसे-वैसे ही उसकी भोग-तृष्णा बढ़ती जाती है। जैसे ईंधन अग्नि को दीप्त करता है, वैसे ही भोगे हुए भोग तृष्णा को दीप्त करते हैं।

१७. जीवस्स णत्थि तित्ती चिरं पि भोएहिं भुंजमाणेहिं।
तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उव्वुदं होइ।।
(भग० आ० १२६३)

चिरकाल तक भोगों को भोग लेने पर भी जीव की तृप्ति नहीं होती। तृप्ति के बिना जीव का चित्त रिक्त और उत्कंठित रहता है।

१८. जह इधणेहिं अग्गी जह व समुद्दो णदीसहस्सेहिं।
तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं।। (भग० आ० १२६४)

जैसे ईंधन से अग्नि और सहस्रों नदियों से समुद्र की तृप्ति नहीं होती वैसे ही जीव कामभोगों से तृप्त नहीं हो सकते।

१६. उद्धुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी।
पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्स घण्णस्स।।
(भग० आ० १२६७)

जिसका चित्त व्याकुल है, उसे सुख नहीं होता। सुख के बिना तृप्ति कैसे हो सकती है ? तृप्ति के बिना व्याकुल और उत्कंठित व्यक्ति को रति (आनन्द) नहीं होता।

२०. जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि।
कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी।।
(भग० आ० १२६८)

जो मनुष्य रमण करने की इच्छा करता है, वह उपशांत हो तृप्ति करने वाले अध्यात्म-सुख में रति करे। अध्यात्म-रति के समान दूसरी कोई रति नहीं है।

२१. अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमणं परायत्तं।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण।। (भग० आ० १२६६)

आत्म-स्वरूप विषयक रति स्वायत्त—परद्रव्य की अपेक्षा से रहित होती है। भोगरति परायत्त—परद्रव्यों पर अवलम्बित होती है। भोगरति में च्युति है (क्योंकि वह पर-द्रव्याश्रित होती है) आत्मरति में च्युति नहीं होती (क्योंकि आत्मा का सान्निध्य सदा रहता है)।

२२. भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा।।
(भग० आ० १२७०)

भोगरति से नियम से आत्मा का नाश होता है और इसमें अनेक विघ्न भी होते हैं, पर सुभावित अध्यात्म-रति से आत्मा का नाश नहीं होता और उसमें विघ्न नहीं है।

: ७ :

विनय

१. विनय : मानसिक, वाचिक, कायिक

१. अब्भुट्ठाणं सण्णदि आसणदाणं अणुप्पदाणं च।
किदियम्मं पडिरूवं आसणचाओ य अणुव्वजणं।। (मू० ३८२)

अभयुत्थान—आचार्य आदि को देखकर उठना, नमस्कार, आसन-दान, अनुप्रदान—ग्रन्थ आदि देना, कृतिकर्म प्रतिरूप—भक्ति पूर्वक शीतादि का निवारण, आसन-त्याग—ऊँचे आसन आदि का त्याग, अनुदान—दूर तक साथ जाना—ये कायं-विनय के सात भेद हैं।

२. पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च मधुरं च।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं।।
उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं।
एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो।। (मू० ३७७, ३७८)

पूज्य वचनों से बोलना, हितकर बोलना, थोड़ा बोलना, मधुर बोलना, आगम के अनुसार बोलना, अनिष्ठुर और अकर्कश वचन बोलना, क्रोधादि रहित वचन बोलना, आरम्भ रहित वचन बोलना, असि आदि की क्रिया से असम्पृक्त वचन बोलना, अवहेलना रहित वचन बोलना—यह वाचिक विनय है। इसे यथायोग्य जानना चाहिए।

३. हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीचीभासणं च बोधव्व।
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव।। (मू० ३८३)

हितकर बोलना, थोड़ा बोलना, परिमित बोलना, विचारपूर्वक शास्त्रानुसार बोलना—ये चार भेद वचन-विनय के हैं। अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति—ये दो भेद मानसिक-विनय के हैं।

४. पापविसोतियपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।
णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ।। (मू० ३७९)

हिंसादि पाप-परिणाम का त्याग, सम्यक्त्व आदि की विराधना के परिणाम का त्याग, प्रिय और हित में परिणाम—यह मानसिक-विनय कहा गया है।

२. विनय के पाँच भेद

१. दंसणणाणचरित्ते तवविणओ ओवचारिओ चेव।
मोक्खह्मि एस विणओ पंचविहो होदि णादव्वो।। (मू० ५८४)

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपोविनय, औपचारिक विनय—इस तरह मोक्षविनय के पाँच भेद हैं, ऐसा जानना चाहिए।

२. उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआ य गुणा।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण।। (मू० ३६५)

उपगूहन आदि पूर्वोक्त गुण, पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि और शंकादि दोषों का वर्जन—यह संक्षेप में दर्शन-विनय है।

३. जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणओ हवदि एसो।। (मू० ३६६)

जिनेश्वर देव ने श्रुतज्ञान में जो पदार्थ और पर्याय कहे हैं, उसमें उसी प्रकार रुचि करना दर्शन–विनय होता है।

४. णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो।। (मू० ३६८)

जो ज्ञान को सीखता है, ज्ञान का ही चिंतन करता है, दूसरे को भी ज्ञान का ही उपदेश करता है, और ज्ञान से ही न्याय प्रवृत्ति करता है वह जीव ज्ञान-विनय वाला होता है।

५. णाणि ग्राच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ।। (मू० ५८६)

ज्ञानी मोक्ष को जानता है, ज्ञानी पाप को छोड़ता है, ज्ञानी नवीन कर्मों को ग्रहण नहीं करता, ज्ञानी ज्ञान से चारित्र को अंगीकार करता है इसलिए ज्ञान में विनय करना चाहिए।

६. इंदियकसायपणिहाणंपि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो।। (मू० ३६६)

इन्द्रियों के व्यापार को रोकना, क्रोधादि कषायों के प्रचार को रोकना और समिति-गुप्ति—यह सब संक्षेप से चारित्र-विनय है, ऐसा जानना।

७. पोराणयकम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो।
णवकम्मं ण य बज्झदि चरित्तविणओत्ति णादव्वो।। (मू० ५८७)

यतनाचार पूर्वक आचरण करता हुआ ज्ञानी चरित्र से पूर्व संचित कर्मरूपी रज को बाहर निकालता है और नवीन कर्मों का बंध नहीं करता, यही चारित्रविनय है, ऐसा जानना।

८. भत्तो तवोधियम्हि य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं।
एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचरित्तसाहुस्स।। (मू० ३७१)

तप में जो अधिक हैं उनकी भक्ति, तपों की भक्ति तथा जो अन्य हैं उनकी अवहेलना न करना यह यथोक्त चारित्र का पालन करने वाले मुनियों का तप में विनय है।

९. अवणयदि तवेण तमं उवणयदि मोक्खमग्गमप्पाणं।
तवविणयणियमिदमदी सो तवविणओत्ति णादव्वो।। (मू० ५८८)

जिसकी तप-विनय में बुद्धि दृढ़ है, ऐसा पुरुष तप से पापरूपी अंधकार को हटाता है और आत्मा को मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति कराता है, यही तप विनय है, ऐसा जानना।

१०. तह्मा सव्वपयत्ते विणयत्तं मा कदाइ छंडिज्जो।
अप्पसुदो वि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण।। (मू० ५८९)

इसलिए संयमी पुरुष सब प्रयत्नों से (तप के प्रति) विनयभाव कभी न छोड़े। थोड़ा श्रुत जानने वाला पुरुष भी इस (तप) विनय से कर्मों का नाश कर देता है।

११. पंचमहव्वदगुत्तो संविग्गोऽणालसो अमाणी य।
किदियम्म णिज्जरट्ठी कुणाइ सदा ऊणरादिणिओ।। (मू० ५६०)

पाँच महाव्रतों के आचरण में लीन, धर्म मे उत्साहवाला, उद्यमी, मान-रहित, दीक्षा में लघु ऐसा संयमी निर्जरार्थी होकर रत्नाधिकों का कृतिकर्म करता है, यह उपचार-विनय है।

३. विनय : धर्म का मूल

१. विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं।।[1] (मू० ३८५)

जो विनय से रहित है उसकी सारी शिक्षा निरर्थक होती है। शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल है सम्पूर्ण कल्याण।

---

१. भग० आ०, १२८

२. विणओ सासणमूलो विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणयेण विप्पहूणस्स कुदो धम्मो कुदो य तवो।। (मू० ७ : १०४)

विनय जिन शासन का मूल है। विनय से संयम व ज्ञान की सिद्धि होती है। जो विनय से रहित होता है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप ?

३. विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं।[1] (मू० ३८६ क, ख)

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से ही संयम, तप और ज्ञान होता है।

४. अज्जवमद्दवलाहवभत्तीपल्लादकरणं च।[2] (मू० ३८७ ग, घ)

आर्जव, मार्दव, लोभ का त्याग, गुरुओं की भक्ति, सबको प्रहलाद उत्पन्न करना—ये सब विनय के गुण हैं।

५. कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरूजणे य बहुमाणो।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा।।[3] (मू० ३८८)

कीर्ति, मैत्री, गर्व-त्याग, गुरुजनों का बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन, गुणों में प्रमोद—इतने गुण विनय करने वाले के प्रगट होते हैं।

६. जम्हा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य।
तम्हा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा।। (मू० ५७८)

चूँकि आठ प्रकार के कर्मों का नाश करता है, चतुर्गति रूप संसार से मुक्त करता है, इस कारण से संसार से पार हुए पण्डित पुरुष इसको विनय कहते हैं।

७. मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता तओ से पुप्फ च फलं रसो य।।
(द० ६ (२) : १)

वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध के बाद शाखाएँ और शाखाओं से दूसरी छोटी-छोटी शाखाएँ निकलती हैं। उनसे पत्ते निकलते हैं। इसके बाद क्रमशः फूल, फल और रस उत्पन्न होते हैं।

८. एवं धम्मरस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छइ।। (द० ६ (२) : २)

---

१. भग० आ०, १२६।
२. भग० आ०, १३०।
३. भग० आ०, १३१।

इसी तरह धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनय के द्वारा ही मनुष्य श्लाघनीय शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्ति प्राप्त करता है। अन्त में निःश्रेयस् (मोक्ष) भी इसी के द्वारा प्राप्त होता है।

४. विनीत-अविनीत

१. अह चउदसहिं ठाणेहिं वट्टमाणो उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ।।
अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण मज्जई।।
अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावगं।।
पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते अविणीए त्ति वुच्चई।। (उ० ११ : ६–६)

निम्न चौदह स्थानों में वर्तन करने वाला संयमी अविनीत कहा जाता है और वह निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। (१) जो बार-बार क्रोध करने वाला है, (२) जो क्रोध का प्रबन्ध करता है—उसे टिकाकर रखता है, (३) जो मित्रता करने वाले को छोड़ता है, (४) जो श्रुत-ज्ञान प्राप्त कर अभिमान करता है, (५) जो दोषी का तिरस्कार करता है, (६) जो मित्र के प्रति कुपित होता है, (७) जो सुप्रिय मित्र की भी एकांत में बुराई करता है, (८) जो असम्बद्ध बोलने वाला होता है, (६) जो द्रोही होता है, (१०) जो अहंकारी होता है, (११) जो लोलुप होता है, (१२) जो अजितेन्द्रिय होता है, (१३) जो असंविभागी होता है तथा (१४) जो अप्रतीतिकर होता है, वह अविनीत कहा जाता है।

२. अह पन्नरसहिं ठाणेहिं सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले।।
अप्पं चाऽहिक्खिवई पबन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई सुयं लद्धुं मज्जई।।
न य पावपरिक्खेवी न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई।।
कलहडमरवज्जए बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे सुविणीए त्ति वुच्चई।। (उ० ११ : १०-१३)

पन्द्रह स्थानों (कारणों) से व्यक्ति सुविनीत कहलाता है—(१) जो नम्र होता है, (२) जो चपल नहीं होता, (३) जो मायावी नहीं होता, (४) जो कुतूहल नहीं करता,

(५) जो किसी का तिरस्कार नहीं करता, (६) जो क्रोध को टिकाकर नहीं रखता, (७) मित्रता करने वाले के साथ मित्र-भाव रखता है, (८) श्रुत का लाभ होने पर गर्व नहीं करता, (९) दोषी का तिरस्कार नहीं करता, (१०) मित्र पर कुपित नहीं होता, (११) अप्रिय मित्र की भी एकान्त में बड़ाई करता है, (१२) जो कलह और हाथापाई का वर्जन करता है, (१३) जो कुलीन होता है, (१४) जो लज्जाशील होता है, तथा (१५) जो प्रतिसंलीन (इन्द्रिय और मन को गुप्त रखने वाला) होता है, वह बुद्ध पुरुष विनीत कह जाता है।

३. तहेव सुविणीयप्पा लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा।। (द० : ६ (२) : ६)

लोक में जो पुरुष या स्त्री सविनीत होते हैं, वे ऋषि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखें जाते हैं।

४. जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा कट्ठं सोयगयं जहा।। (द० : ६ (२) : ३)

जो चण्ड, अज्ञ, स्तब्ध, अप्रियवादी, मायावी और शठ है, वह अविनीतात्मा संसारस्रोत में वैसे ही प्रवहित होता रहता है जैसे नदी के स्रोत में पड़ा हुआ काठ।

५. विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणीयस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं सिक्खं से अभिगच्छइ।। (द० : ६ (२) : २१)

अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति होती है—ये दोनों जिसे ज्ञात है, वही शिक्षा को प्राप्त होता है।

६. नच्चा नमइ मेहावी लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाणं सरणं भूयाण जगई जहा।। (उ० : १ : ४५)

विनय के रूप को जानकर जो पुरुष नम्र हो जाता है, वह इस लोक में कीर्ति प्राप्त करता है। जिस तरह पृथ्वी प्राणियों के लिए शरण होती है, उसी प्रकार वह धर्माचरण करने वालों के लिए आधार बन जाता है।

: ८ :

शील

१. शील बनाम ज्ञान

१. सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति।। (शी० पा० २)

शील और ज्ञान इन दोनों में प्रबुद्ध पुरुषों ने कोई विरोध नहीं कहा है। केवल इतना ही है कि शील के बिना विषय ज्ञान का विनाश कर देते हैं।

२. णाणं णाऊणं णरा केई विसयाइभावसंसत्ता।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा।। (शी० पा० ७)

ज्ञान को जानकर भी कई मनुष्य विषयादि भावों में आसक्त होते हैं। वे विषयों में विमोहित मूढ़ मनुष्य चारों गतियों में भ्रमण करते हैं।

३. जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो।। (शी० पा० ८)

जो ज्ञान को जानकर विषयों से विरक्त होते हैं, वे भावना सहित और तपोगुण से युक्त मनुष्य चार गति रूप संसार का छेदन करते हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

४. जह कंचणं विशुद्ध धम्मइयं खंडियलवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण।। (शी० पा० ६)

जैसे सुहागा और नमक के लेप से धमाया हुआ सोना विशुद्ध होता है, उसी प्रकार जीव ज्ञानरूपी विमल जल से प्रक्षालित होने पर विशुद्ध होता है।

५. णाणस्स णत्थि दोसो कप्पुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो।
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति।। (शी० पा० १०)

कुछ मनुष्य ज्ञानगर्वित होकर विषयों में आसक्त होते हैं। यह ज्ञान का दोष नहीं है, उन मन्दबुद्धि पुरुषों का दोष है।

६. णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिणिव्वाणं जीवाणं चरित्तसुद्धाणं।। (शी० पा० ११)

सम्यक्त्व सहित ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के आचरण से चारित्रशुद्धि को प्राप्त जीवों का परिनिर्वाण होगा।

७. सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए।। (शी० पा० १७)

जो भव्य प्राणी शील और गुणों से सम्पन्न होते हैं वे देवताओं के प्रिय होते हैं, पर जो अनेक श्रुतपारगामी होने पर भी दुःशील होते हैं वे लोक में तुच्छ गिने जाते हैं।

८. सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरतचित्ताणं।। (शी० पा० १२)

जिनका चित्त विषयों से विरक्त है और जो शील की रक्षा करते हैं, उन दर्शन-विशुद्ध और चरित्र में दृढ़ मनुष्यों को अवश्य ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

९. जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो।
तो सो सुरत्तपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो नरयं।। (शी० पा० ३०)

यदि विषयलोलुप ज्ञानी द्वारा मोक्ष साध्य होता तो दशपूर्व का ज्ञानी सात्यकी-पुत्र रुद्र नरक में क्यों गया ?

१०. जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्दिट्ठो।
दसपुव्वियस्स य भावो ण किं पुण णिम्मलो जादो।। (शी० पा० ३१)

यदि प्रबुद्ध मनुष्यों ने शील के बिना ज्ञान से भावों की विशुद्धी कही होती तो दश-पूर्व के ज्ञाता रुद्र का भाव निर्मल क्यों नहीं हुआ ?

२. शील-महिमा

१. रूपसिरिगप्पिदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म।। (शी० पा० १५)

जो यौवन, लावण्य और कांति से सुशोभित है, रूप और लक्ष्मी से गर्वित है, पर शील-गुण से रहित है उन पुरुषों का मनुष्य-जन्म निरर्थक है।

२. सव्वे वि य परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं।। (शी० पा० १८)

जो प्राणियों में सबसे हीन हैं, रूप से कुरूप हैं तथा वय से अत्यन्त पतित—गलित हैं, पर जिनमें सुन्दर शील है, उनका मनुष्य-जीवन सुजीवित है।

३ जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो।। (शी० पा० १९)

जीव-दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप—ये सब शील के परिवार हैं।

४. सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य।
शीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं।। (शी० पा० २०)

शील ही विशुद्ध तप है, शील ही दर्शन की शुद्धता है, शील ही ज्ञान की शुद्धता है, शील ही विषयों का शत्रु है और शील ही मोक्ष का सोपान है।

५. जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई।। (शी० पा० २१)

जो विषयलुब्ध होता है उसे विषय विष देते हैं। जो घोर विष स्थावर जंगम सर्व जीवों का विनाश करता है उससे दारुण विष विषयों का है।

६. वारि एक्कम्मि य जम्मे सरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे।। (शी० पा० २२)

विष की वेदना से हत जीव एक बार ही दूसरा जन्म पाता है अर्थात् एक जन्म में ही मरता है, किन्तु विषयरूपी विष से हत मनुष्य बार-बार संसार-कांतार में भटकते रहते हैं।

७. तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि।
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसय व खलं।। (शी० पा० २४)

जैसे तुषों को उड़ाने से मनुष्य का कोई कोई द्रव्य नहीं जाता, वैसे ही विषयों के त्याग से मनुष्य को कोई हानि नहीं होती। तप से शीलवान् कुशल पुरुष विष रूपी विषयों को खल की तरह दूर करते हैं।

८. उदधीव रदणभरिदो तवविणयसीलदाणरयणाणं।
सोहेतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो।। (शी० पा० २८)

जैसे रत्नों से भरा हुआ समुद्र सुशोभित होता है वैसे ही तप, विनय, शील, दान आदि रूप रत्नों से भरा हुआ सुशील मनुष्य सुशोभित होता है। वह अनुत्तर निर्वाण को प्राप्त होता है।

९. णाणं चरित्तशुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविशुद्धं।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ।। (शी० पा० ६)

चारित्र से पवित्र ज्ञान, दर्शन से पवित्र लिंग ग्रहण और संयम सहित तप—ये थोड़े भी हों, तो महाफल देनेवाले होते हैं।

३. कुछ शील

१. निसंते सियाऽमुहरी, बुद्धाणं अंतिए सगा।
अट्ठजुत्ताणि सिकखेज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए।। (उ० १ : ८)

सदा शान्त रहे, वाचाल न हो, ज्ञानी पुरुषों के समीप रहकर, अर्थयुक्त आत्मार्थ साधक पदों को सीखे। निरर्थक बातों को छोड़े।

२. अणुसासिओ न कुप्पेज्जा, खंतिं सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गि, हासं कीडं च वज्जए।। (उ० १ : ६)

विवेकी पुरुष अनुशासन से कुपित न हो। क्षान्ति का सेवन करे तथा क्षुद्र जनों के साथ संगत, हास्य और क्रीड़ा का वर्जन करे।

३. मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाएज्ज एगगो।। (उ० १ : १०)

क्रोधावेश में न बोले। बहुत न बोले। काल के नियम से स्वाध्याय करे और उसके बाद अकेला ध्यान करे।

४. आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं नो कडेत्ति य।। (उ० १ : ११)

क्रोधवश सहसा अकृत्य कर उसे कभी भी न छिपावे। किया हो तो 'किया' कहे, नहीं किया हो तो 'नहीं किया' कहे।

५. मा गलियस्से व कसं, वयणमिच्छे पुणो-पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए।। (उ० १ : १२)

जैसे दुष्ट घोड़ा बार-बार चाबुक की अपेक्षा रखता है वैसे विनीत शिष्य बार-बार अनुशासन की अपेक्षा न रखे। जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखकर ही सुमार्ग पर आ जाता है, उसी प्रकार विनयवान शिष्य गुरुजनों की दृष्टि आदि को देखकर ही दुष्ट मार्ग को छोड़ दे।

६. नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धोरज्जा पियमप्पियं।। (उ० १ : १४)

बिना पूछे कुछ न बोले। पूछने पर झूठ न बोले। क्रोध को निष्फल बना दे तथा प्रिय और अप्रिय को समभाव से ग्रहण करे।

७. पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि।। (उ० १ : १७)

वचन से या कर्म से, प्रगट में या प्रच्छन्न में, ज्ञानी पुरुषों के प्रतिकूल आचरण कभी भी न करे।

८. धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई।। (उ० १ : ४२)

जो व्यवहार धर्म से अनुमोदित है और ज्ञानी पुरुषों ने जिसका सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करने वाला पुरुष कभी भी गर्हा—निन्दा को प्राप्त नहीं होता।

४. दुःशील की गति

१. जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई।। (उ० १ : ४)

जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सब जगह से निकाली जाती है, उसी तरह दुःशील, ज्ञानियों से प्रतिकूल चलने वाला और वाचाल मनुष्य सब जगह से निकाल दिया जाता है।

२. कणकुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए।। (उ० १ : ५)

जैसे चावलों की भूसी को छोड़ सूअर विष्ठा का भोजन करता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है।

३. सुणियाऽभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो।। (उ० १ : ६)

कुतिया और सूअर के साथ उपमित दुराचारी के अभाव (दुर्दशा) को सुनकर अपनी आत्मा का हित चाहने वाला पुरुष अपनी आत्मा को विनय में स्थापित करे।

४. तम्हा विणयमेव्सेज्जा। सीलं पडिलभे जओ।। (उ० १ : ७)

इसलिए विनय का आचरण करे जिससे शील की प्राप्ति हो।

: ६ :

भाषा-विवेक

१. चउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पन्नवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे दो न भासेज्ज सव्वसो।। (द० ७ : १)

प्रज्ञावान् चारों भाषाओं को अच्छी तरह जानकर सत्य और न-सत्य-न-असत्य इन दो भाषाओं से व्यवहार करना सीखे और एकांत मिथ्या और सत्यासत्य इन दो भाषाओं को सर्वथा न बोले।

२. जा य सच्चा अवत्तव्वा सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना न तं भासेज्ज पन्नवं।। (द० ७ : २)

जो भाषा सत्य होने पर भी अवक्तव्य हो, जो कुछ सत्य कुछ झूठ हो, जो भाषा मिथ्या हो तथा जो भाषा विचारशील पुरुषों द्वारा व्यवहार में न लाई जाती हो—विवेकी पुरुष ऐसी भाषा न बोले।

३. असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पन्नवं।। (द० ७ : ३)

विवेकी पुरुष सोच-विचारकर पाप रहित, अकर्कश—प्रिय, हितकारी और स्पष्ट अर्थ वाली व्यवहार और सत्य भाषा बोले।

४. तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो।। (द० ७ : ११)

महान् भूतोपघातिनी (जीवों के दिलों को महान् दुःखाने वाली) तथा कर्कश भाषा, सत्य होने पर भी विवेकी न बोले। ऐसी भाषा से पाप का बंधन होता है।

५. तहेव काणं काणे त्ति पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति तेणं चोरे त्ति नो वए।। (द० ७ : १२)

विवेकी काने को 'काना' नपुंसक', को 'नपुंसक', रोगी को 'रोगी' और चोर को 'चोर' न कहे।

६. अप्पत्तियं जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा भासं अहियगामिणिं।। (द० ८ : ८७)

जिससे अप्रीति उत्पन्न हो, दूसरा शीघ्र कुपित हो, ऐसी अहितकर भाषा विवेकी पुरुष सर्वथा न बोले।

७. एएणन्नेण वट्ठेण परो जेणुवहम्मई।
आयारभावदोसन्नू न तं भासेज्ज पन्नवं।। (द० ७ : १३)

आचार और भाव के दोषों को समझने वाला प्रज्ञावान् पुरुष उपर्युक्त या अन्य कोई भाषा जिससे कि दूसरे के हृदय को आघात पहुँते न बोले।

८. न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा उभयस्संतरेण वा।। (द० १ : २५)

विवेकी पुरुष अपने लिए, दूसरों के लिए, अपने और दूसरे दोनों के प्रयोजन के लिए पूछने पर पापकारी भाषा न बोले, न अर्थशून्य और मार्मिक बात कहे।

९. भासमाणो ण भासेज्जा णो य वम्फेज्ज मम्मयं।
माइट्ठाणं विवज्जेज्जा अणुवीइ वियागरे।। (द० १, ६ : २५)

विवेकी पुरुष बातचीत कर रहे हों उनके बीच में नहीं बोले, मर्मभेदी बात न कहे, माया भरे वचनों का परित्याग करे। जो बोले, सोचकर बोले।

१०. दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुन्नं वियंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं।। (द० ८ : ४८)

आत्मार्थी पुरुष दृष्ट,, परिमित, असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण, व्यक्त और परिचित अथवा अनुभूत वचन बोले। उसकी भाषा वाचालता-रहित और किसी को भी उद्विग्न करने वाली न हो।

११. मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए।
सयाण मज्झे लहई पसंसणं।। (द० ७ : ५५ ग, घ)

मित और दोषरहित वाणी सोच-विचारकर बोलने वाला पुरुष सत्पुरुषों में प्रशंसा को प्राप्त होता है।

१२. पेसुण्णहासकक्कस—परणिंदप्पपसंसियं वयणं।
परचित्ता सपरिहिदं भासासमिदी वंदतस्स।। (नि० सा० : ६२)

पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिंदा और आत्म-प्रशंसा रूप वचन को छोड़कर स्व-पर-हितकारी वचनों को बोलनेवाले पुरुष के भाषा समिति होती है।

: १० :

अनुस्रोत-प्रतिस्रोत

१. अणुसोयसुहोलोगो पडिसोओ आसवो सुविहियाणं।
अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो।। (द० चू० २ : ३)

लोगों को अनुस्रोत में—असंयम में सुख की प्रतीति होती है। सुविहित पुरुषों का संयम प्रतिस्रोत है। अनुस्रोत संसार है—संसार-समुद्र में बहना है। प्रतिस्रोत उतार है—संसार-समुद्र से पार होना है।

२. अणुसोयपट्ठिए बहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं।
पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं।। (द० चू० २ : २)

बहुत से मनुष्य अनुस्रोतगामी होते हैं, पर जिनका लक्ष्य किनारे पहुँचना है, वे प्रतिस्रोतगामी होते हैं। जो संसार-समुद्र से मुक्ति पाने की इच्छा करते हैं उन्हें प्रतिस्रोत (संयम) में आत्मा को स्थित करना चाहिए।

३. णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहि सण्णिपायेण।। (मू० ८६८)

ज्ञान निर्यापक है, ध्यान पवन है और चारित्र नौका है। इन तीनों के संयोग से भव्यजीव संसार-समुद्र को तैरते हैं।

४. णाणं पयासओ सोधओ तवो संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हंपि य संजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो।। (मू० ८६६)

ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप शुद्धि करने वाला है, चरित्र रक्षक है। इन तीनों के संयोग से जिनमत में नियम से मोक्ष होता है।

५. णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवोजुदो।
कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरदे लहु।। (मू० ६६८)

जो ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न है, ध्यान, अध्ययन और तप से युक्त है तथा कषाय और गौरव से मुक्त है वह संसार-समुद्र को शीघ्र ही तैर जाता है।

६. मय-माय-कोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं।।
(मो० पा० ४५)

जो जीव मद, माया और क्रोध से रहित है, लोभ से दूर है और निर्मल स्वभाव से युक्त है, वह उत्तम सुख को प्राप्त करता है।

७. विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो।। (मो० पा० ४६)

जो जीव विषय और कषाय से युक्त है, रौद्र परिणामी है तथा जिसका मन परमात्मा की भावना से रहित है, वह जीव जिन-मुद्रा से विमुख होने के कारण मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

८. जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे।।(मो० पा० ४७)

जिनवर भगवान के द्वारा उपदिष्ट जिन-मुद्रा ही नियम से मोक्ष-सुख का कारण है। जिन्हें स्वप्न में भी यह जिन-मुद्रा नहीं रुचती वे जीव संसाररूपी गहन वन में पड़े रहते हैं।

९. ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमया वतीता संतोसिणो णो पकरेंति पावं।।
(सू० १, १२ : १५)

मूर्ख जीव सावद्य अनुष्ठान (पाप कार्यों) द्वारा संचित कर्मों का क्षय नहीं कर सकते। धीर पुरुष सावद्यानुष्ठान से विरत होकर कर्मों का क्षय करते हैं। प्रज्ञावान् पुरुष लोभ-भाव से सम्पूर्ण विरहित हो, संतोष-भाव धारण कर पाप कर्म नहीं करते।

१०. डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे ते आततो पासइ सव्वलोगे।
उवेहती लोगमिणं महंतं बुद्धप्पमत्तेसु परिव्वएज्जा।।
(सू० १, १२ : १८)

इस जगत् में छोटे शरीरवाले भी प्राणी हैं और बड़े शरीरवाले भी। सारे जगत् को—इन सब को—आत्मवत् देखना चाहिए। इस लोक के सर्व प्राणियों को महान् देखता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुष प्रमत्तों में अप्रमत्त होकर रहे।

११. ते णेव कुव्वंति ण कारवेंति भूतभिसंकाए दुगुंछमाणा।
सदा जता विप्पणमंति धीरा विण्णत्ति-वीरा य भवंति एगे।।
(सू० १, १२ : १७)

पापों से घृणा करनेवाले पुरुष, प्राणियों के घात की शंका से कोई पाप नहीं करते और न करवाते हैं। कई ज्ञानमात्र से वीर बनते हैं क्रिया से नहीं, परन्तु धीर पुरुष सदा यत्नपूर्वक संयम में पराक्रम करते है।

: ११ :

विजय-पथ

१. रहस्य-भेद

१. एग जिए जिया पंच पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्वसत्तू जिणामहं।। (उ० २३ : ३६)

एक को जीत चुकने से मैंने पांच को जीत लिया; पांच को जीत लेने से मैंने दस को जीत लिया; और दसों को जीतकर मैं सभी शत्रुओं को जीत लेता हूँ।

२. एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इंदियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं विहरामि अहं मुणी।। (उ० २३ : ३८)

न जीती हुई आत्मा एक दुर्जय शत्रु है। क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चार कषाय मिलकर पाँच और श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन—ये पाँच इन्द्रियाँ मिलकर दस शत्रु हैं। इन्हें ठीक रूप से जीतकर, हे महामुने ! मैं न्यायानुसार विहरता हूँ।

३. ते पासे सव्वसो छित्ता निहंतूण उवायओ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ विहरामि अहं मुणी।। (उ० २३ : ४१)

हे मुने ! संसारी प्राणियों के बँधे हुए पाशों का सर्व प्रकार और उपायों से छेदन और हनन कर मैं मुक्तपाश और लघुभूत होकर विहार करता हूँ।

४. रागद्दोसादओ तिव्वा नेहपासा भयंकरा।
ते छिंदितु जहानायं विहरामि जहक्कमं।। (उ० २३ : ४३)

हे मुने ! राग-द्वेषादि और स्नेह—ये तीव्र और भयंकर पाश हैं। उन्हें ठीक रूप से छेदकर मैं यथान्याय विहार करता हूँ।

५. तं लयं सव्वसो छित्ता उद्धरित्ता समूलियं।
विहरामि जहानायं मुक्को मि विसभक्खणं।। (उ० २३ : ४६)

मैंने हृदय के अन्दर उत्पन्न विषलता को सर्व प्रकार से छेदन कर अच्छी तरह मूल सहित उखाड़ डाला है। इस तरह मैं विष-फल के खाने से मुक्त हो यथान्याय विहार करता हूँ।

६. भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया।
तमुद्धरित्त जहानायं विहरामि महामुणी।। (उ० २३ : ४८)

भव-तृष्णा को लता कहा गया है, जो बड़ी ही भयंकर और भयंकर फलों को देने वाली है। उसे यथाविधि उच्छेदकर हे महामुने ! मैं न्यायपूर्वक विहार करता हूँ।

७. महामेहप्पसूयाओ गिज्झ वारि जलुत्तमं।
सिंचामि सययं देहं सित्ता नो व डहंति मे।। (उ० २३ : ५१)

महामेघ से प्रसूत उत्तम जल को लेकर मैं सतत् सिंचन करता रहता हूँ। इस तरह सिंचन की हुई वे अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।

८. कसाया अग्गिणो वुत्ता सुयसीलतवो जलं।
सुयधाराभिहया संता भिन्ना हु न डहंति मे।। (उ० २३ : ५३)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। इन्हें अग्नियाँ कहा गया है। श्रुत, शील, और तप शीतल जल है। श्रुतरूपी मेघ की जलधारा से निरन्तर आहत किये जाने के कारण छिन्न-भिन्न हुई ये अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।

९. पधावंतं निगिण्हामि सुयरस्सीसमाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं मग्गं ज पडिवज्जई।। (उ० २३ : ५६)

दुष्ट अश्व को मैंने श्रुत-ज्ञान रूपी लगाम के द्वारा अच्छी तरह बाँध रखा है। उन्मार्ग की ओर दौड़ने पर मैं उसे रोक लेता हूँ। इससे मेरा अश्व उन्मार्ग में नहीं जाता और ठीक मार्ग में ही चलता रहता है।

१०. मणो साहसिओ भीमो दुट्ठसो परिधावई।
तं सम्मं निगिण्हामि धम्मसिक्खाए कंथगं।। (उ० २३ : ५८)

मन ही यह साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व है, जो चारों ओर दौड़ता है। मैं उसे धर्म की शिक्षा द्वारा कन्थक की तरह काबू में कर लेता हूँ।

११. अत्थि एगो महादीवो वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स गई तत्थ न विज्जई।। (उ० २३ : ६६)

समुद्र के बीच एक विस्तृत महान् द्वीप है, जहाँ महान् उदक के प्रवाह की गति नहीं है।

१२. जरामरणवेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं।। (उ० २३ ६८)

जरा और मरणरूपी महा उदक के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, आचार गति (आश्रय) और उत्तम शरण है।

१३. जा उ अस्सावि‍णी नावा न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्सावि‍णी नावा सा उ पारस्स गामिणी।। (उ० २३ : ७१)

जो नौका छेद-युक्त होती है, वह पार पहुँचने वाली नहीं होती। जो नौका छेद-रहित होती है, वही पार पहुंचने वाली होती है।

१४. सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो।। (उ० २३ : ७३)

शरीर को नौका कहा गया है। जीव को नाविक कहा गया है। संसार को समुद्र कहा गया है। जीव-रूपी नाविक के द्वारा शरीर-रूपी नौका को खेकर महर्षि जन्म-मरण रूपी इस महा अर्णव को तैर जाते हैं।

१५. अत्थि एगं धुवं ठाणं लोगग्गंमि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा।। (उ० २३ : ८१)

लोकाग्र पर एक ऐसा दुरारोह ध्रुव स्थान है, जहाँ जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना नहीं है।

१६. निव्वाणं ति अबाहं ति सिद्धि लोगग्मेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं जं चरंति महेसिणो।। (उ० २३ : ८३)

यह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र आदि नाम से प्रख्यात है। इस क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान को महार्षि पाते हैं।

१७. तं ठाणं सासयंवासं लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयंति भवोहंतकारा मुणी।। (उ० २३ : ८४)

हे भव-परम्परा का अन्त करने वाले मुने ! यह स्थान आत्मा का शाश्वत वास है। यह लोक के अग्रभाग में है। जन्म, जरा आदि से दुरारोह है। इसे प्राप्त कर लेने पर किसी तरह का दुःख नहीं रह जाता और भव-परम्परा का अन्त हो जाता है।

२. तृष्णा-विजय

१. कसिणं पि जो इमं लोयं पडिंपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से इइ दुप्पूरए इमे आया।।
(उ० ८ : १६)

धन-धान्य आदि से परिपूर्ण यह समूचा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाए, तो भी वह सन्तुष्ट नहीं होता। इतनी दुष्पूर है यह आत्मा।

२. जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं।। (उ० ८ : १७)

जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। लाभ से लोभ बढ़ता है। दो मासे सोने से होनेवाला कार्य करोड़ से भी पूरा नहीं हुआ।

३. सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्य लुद्धस्स ने तेहिं केंचि इच्छा उ आगासमा अणंतिया।।
(उ० ६ : ४८)

कदाचित् सोने और चाँदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत हो जाएँ, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी संतोष नहीं होता, कारण इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है।

४. पुढवी साली जवा चेव हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स इइ विज्जा तवं चरे।। (उ० ६ : ४६)

चावल, जौ, सोना और पशु सहित यह परिपूर्ण पृथ्वी भी एक लोभी की तृष्णा को तृप्त करने में यथेष्ट नहीं है, यह समझकर संतोष रूपी तप कर।

५. संसारचक्कवालम्मि मए सव्वेपि पोग्गला बहुसो।
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तित्ती।। (मू० ७६)

संसारचक्रवाल में भ्रमण करते हुए मैंने सभी पुद्गलों का बहुत बार आहार किया और उन्हें बल आदि रूप में परिणमन किया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई।

६. तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं।। (मू० ८०)

जैसे तृण और काष्ठ से अग्नि तृप्त नहीं होती, और हजारों नदियों से भी लवण-समुद्र पूर्ण नहीं होता, उसी तरह यह जीव भी काम-भोगों से सन्तुष्ट नहीं होता।

७. इट्ठा-विओगं-दुक्खं होदि महड्ढीण विसय-तण्हादो।
विसय-वसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुदो तित्ती।। (द्वा० अ० ५६)

विषयों की तृष्णा के कारण महर्द्धिक देवों को भी इष्ट-वियोग का दुःख होता है। जिनका सुख विषयाधीन है, उन्हें तृप्ति कैसे हो सकती है ?

८. पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णण्णाण महाजस ! सायरसलिलाहु अहिययरं।। (भा० पा० १८)

हे महायश के धारी ! तुमने अनन्त जन्मों में भिन्न-भिन्न माताओं के स्तनों का सागर के पानी से भी ज्यादा दूध पिया है।

६. गसियाइं पुगलाइं भवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरूवं ताइं भुंजंतो।। (भा० पा० २२)

हे जीव ! तूने इस लोक में स्थित सभी पुद्गलों का भक्षण किया और उनको बार-बार भोगता हुआ भी तृप्त नहीं हुआ।

१०. तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतह भवमहणं।। (भ० पा० २३)

हे जीव ! तूने प्यास से दुःखी होकर तीनों लोकों का सारा जल पी लिया, फिर भी तेरी प्यास नहीं मिटी। अतः संसार का नाश करनेवाले रत्नत्रय का चिंतन कर।

३. काम-विजय

१. पक्खंदे जलियं जोइं धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे।। (उ० २२ : ४१ के बाद)

अगन्ध कुल में उत्पन्न हुए सर्प जाज्वल्यमान, विकराल, धूमकेतु अग्नि में प्रवेश कर मरना पसन्द करते हैं, परन्तु वमन किये हुए विष को वापिस पीने की इच्छा नहीं करते।

२. धिरत्थु ते जसोकामी ! जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे।। (उ० २२ : ४२)

हे कामी ! तू भोगी जीवन के लिए वमन की हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है ! इससे तो तेरा मर जाना श्रेय है। धिक्कार है तुझे !

३. जइ तं काहिसि भावं जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हढो अट्ठिअप्पा भविस्ससि।। (उ० २२ : ४४)

अगर स्त्रियों को देखकर तू इस तरह प्रेम-राग किया करेगा, तो हवा से आहत हट[1] की तरह अस्थिरात्मा हो जायगा–चित्त-समाधि को खो बैठेगा।

४. समाए पेहाए परिव्वयंतो सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नोवि अहं पि तीसे इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं।।
(द० २ : ४)

यदि समभावपूर्वक विचरते हुए भी कदाचित् यह मन बाहर निकल जाय, तो यह विचार करते हुए कि वह मेरी और न मैं ही उसका हूँ, मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे।

१. वनस्पति विशेष

५. आयावयाही चय सोउमल्लं कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं एवं सुही होहिसि संपराए।।
(द० २ : ५)

आतप का सेवन कर—अपने-आपको धूप में तपा। सुकुमारता का त्याग कर। विषय-वासना को दूर कर। निश्चय ही दुःख दूर होगा। अनिष्ट विषयों के प्रति द्वेष-भाव को छिन्न कर। इष्ट विषयों के प्रति राग-भाव का उच्छेद कर। ऐसा करने से तू (विषयाग्नि को शान्त कर) संसार में सुखी होगा।

४. मन-विजय

१. ण च एदि विणिस्सरिदुं मणहत्थी झाणवारिबंधणिदो।
बद्धो तह य पयंडो विरायरज्जूहिं धीरेहिं।। (उ० ८ : ११)

जैसे बंधनशाला में रज्जुओं से बँधा हुआ मस्त हाथी बाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही धीर पुरुषों द्वारा वैराग्य रूपी रस्सियों से ध्यानरूपी बंधनशाला में बंधा हुआ प्रचंड मन बाहर नहीं जा सकता।

२. भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी।। (मू० ६८५)

जो भाव से (अंतरंग में) विरत है, वास्तव में वही विरत है। द्रव्यविरत (बाह्य में विरत) को सुगति प्राप्त नहीं होती। इसलिए विषयरूपी वन में क्रीडालंपट मन रूपी हाथी को वश में करना चाहिए।

३. तत्तो दुक्खे पंथे पाडेदुं दुट्ठओ जहा अस्सो।
वीलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धणिदं।। (भग० आ० ९

जैसे दुःखद मार्ग में गिरा देनेवाले अश्व को वश में करना दुष्कर है और जैसे वीलण नामक मत्स्य को पकड़ना दुष्कर है, वैसे ही मन को वश में करना भी अत्यन्त दुष्कर है।

४. जस्स य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति।
भीमासुहगदिबहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता।। (भग० आ० १३७)

मन ऐसा है कि जिसकी चेष्टा से जीव सहस्रों दुःखों को पाते हुए भयंकर एवं अशुभ गति बहुल इस अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं।

५. णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं।
णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स।। (भग० आ० ७६०)

ज्ञानोपयोग रहित मनुष्य के द्वारा चित्त का निग्रह करना संभव नहीं। उन्मत्त चित्तरूपी हाथी के लिए ज्ञान अंकुश के समान है।

६. जह चंडो वणहत्थी उद्दामो णयररायमग्गम्मि।
तिक्खंकुसेण धरिओ णरेण दिढसत्तिजुत्तेण।।
तह चंडो मणहत्थी उद्दामो विषयरायमग्गम्मि।
णाणंकुसेण धरिओ रुद्धो जह मत्तहत्थिव्व।।
(मूल० ८ : १०६-११०)

जैसे बंधन से छूटा हुआ नगर के राजमार्ग पर चलता हुआ प्रचंड वन हस्ती दृढ़ शक्ति युक्त मनुष्य द्वारा तीक्ष्ण अंकुश से वश में किया जाता है, उसी तरह प्रचंड मन रूपी उद्दाम–स्वच्छंद हाथी विषय रूपी राजमार्ग पर चलता हुआ ज्ञानरूपी अंकुश से रोका और वश में किया जाता है।

७. विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं।
णाणं हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं।।
(भग० आ० ७६१)

जैसे अच्छी तरह प्रयुक्त विद्या पिशाच को मनुष्य के वश मे ला देती है, वैसे ही अच्छी तरह प्रयुक्त ज्ञान मनरूपी पिशाच को मनुष्य के वश में कर देता है।

८. आरण्णवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जदे वरत्ताए।
जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी।।
(भग० आ० ७६३)

जैसे जंगली हाथी उन्मत्त वरत्रा (हाथी को बाँधने की साँकल) से वश में कर लिया जाता है, वैसे ही मन रूपी हाथी ज्ञान रूपी वरत्रा से वश में कर लिया जाता है।

९. वादुब्भामो व मणो परिधावइ अट्ठिदं तह समंता।
सिग्घं च जाइ दूरंपि मणो परमाणुदव्वं वा।। (भग० आ० १३४)

वेग से बहनेवाली वायु की तरह मन कहीं भी स्थिर नहीं रहता हुआ चारों ओर दौड़ता रहता है। परमाणु द्रव्य की तरह मन बड़ी शीघ्रता से अति दूर चला जाता है।

१०. अंधलयबहिरमूवो व्व मणो लहुमेव विप्पणासेइ।
दुक्खो य पडिणियत्तेदुं जो गिरिसरिदसोदं वा।। (भग० आ० १३५)

मन अंधे, वधिर और मूक मनुष्य की तरह होता है। उसे किसी बात में लगाने पर वह शीघ्र ही वहाँ से हट जाता है। गिरि से निकली हुई सरिता के स्रोत की तरह मन की दिशा को मोड़ना दुष्कर होता है।

११. जह्मि य वारिदमेत्ते सव्वे संसारकारया दोसा।
णासंति रोगदोसादिया हु सज्जो मणुस्सस्स।। (भग० आ० १३८)

इस मन के निग्रह मात्र से ही संसार के कारणभूत राग, द्वोष, शीघ्र ही नाश को प्राप्त होते हैं।

१२. इय दुठ्ठयं मणं जो वारेदि पडिठ्ठवेदि य अकंपं।
सुहसंकप्पपयारं च कुणदि सज्झायसण्णिहिदं।। (भग० आ० १३६)

जो इस दुष्ट मन का रागादि से निवारण करता है, उसे अकंपित रूप से शुभ संकल्प रूप प्रवृत्ति और स्वाध्याय में लगाता है, उसके समाधि होती है।

१३. उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण।
तह हिदयकिण्हसप्पो सुठ्ठुवजुत्तेण णाणेण।। (भग० आ० ७६२)

जैसे विधि से प्रयुक्त मंत्र द्वारा कृष्ण सर्प उपशांत होता है, उसी तरह सुप्रयुक्त ज्ञान के द्वारा मनरूपी कृष्ण सर्प शान्त होता है।

५. इन्द्रिय-विजय

१. चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा।। (मू० १६)

चक्षु, कान, नाक, जीभ, स्पर्शन—इन पाँच इन्द्रियों को क्रमशः अपने-अपने विषय—रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श से ज्ञानी पुरुष को सदा रोकना चाहिए।

२. एदे इंदियतुरया पयदीदोसेण चोइया संता।
उम्मग्गं णेंति रहं करेह मणपग्गहं वलियं।। (मू० ८७६)

ये इन्द्रियरूपी घोड़े रागद्वेष द्वारा स्वाभाविक रूप से प्रेरित होकर आत्मारूपी रथ को कुमार्ग पर ले जाते हैं। इसलिए मनरूपी लगाम को मजबूती से पकड़े रहो।

३. अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति।
विज्जामंतोसधहीणेण व आसीविसा सप्पा।। (भग० आ० १८३८)

असंवृत मनवाले मनुष्य के द्वारा इन्द्रियरूपी सर्प वैसे ही वश में नहीं किये जा सकते, जैसे विद्या, मंत्र और औषधि से रहित मनुष्य के द्वारा आशीविष जाति के सर्प।

४. तह्मा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण।
रामेदव्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से।। (भग० आ० ७६५)

इसलिए इधर-उधर उत्पथगामी मनरूपी बंदर को जिनेन्द्र के उपदेश मे सदा के लिए लगा देना चाहिए, जिससे वह किसी दोष को उत्पन्न न करे।

५. सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा।
मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधति पुरिसमयं।। (भग० आ० १३६६)

जिनके स्मरणरूपी पंख लगे हैं, जिनमें चिंतारूपी वेग है, जिनकी रतिधारा विषयरूपी विष से लिप्त है और जो मनरूपी धनुष के द्वारा छोड़े गये हैं, ऐसे इन्द्रियरूपी बाण मनुष्यरूपी मृग को बींध डालते हैं।

६. इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं।
उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया।।
(भग० आ० १८३७)

इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोड़ों का दमन वैसे ही दम और ज्ञानरूपी लगाम से किया जाता है, जैसे उत्पथगामी घोड़े लगाम से वश में किये जाते हैं।

७. विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिंदियस्सेहिं।
जिणदिट्ठणिव्वुदिपहं धण्णा ओदरिय गच्छंति।।
(भग० आ० १८६१)

विषयरूपी जंगल में इन्द्रियरूपी घोड़ों के द्वारा बहुत समय तक कुमार्ग में भ्रमाये गए वे पुरुष धन्य हैं, जो इन घोड़ों से उतरकर जिनेन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट निर्वाण के मार्ग की ओर गमन करते हैं।

८. मण-इंदियाण विजई स सरूव-परायणो होउ। (द्वा० अ० ११२ ग, घ)

जो मन और इन्द्रियों को जीतता है, वह स्वरूप-परायण होता है।

६. कषाय-विजय

(१) कषाय-दोष

१. रोसाइट्ठो णीलो हदप्पभो अरदिअग्गिसंसत्तो।
सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो वा।। (भग० आ० १३६०)

क्रोधग्रस्त मनुष्य नीलवर्ण हो जाता है। उसके चेहरे की प्रभा नष्ट हो जाती है। वह अरतिरूप अग्नि से जलने लगता है। शीतकाल में भी उसे प्यास लगने लगती है तथा पिशाचग्रस्त मनुष्य की तरह वह काँपने लगता है।

२. जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति।
पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो।।
तध रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु "कलकलेणेव।
अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्जा।।
(भग० आ० १३६२-६३)

जैसे कोई दूसरे पर रुष्ट मनुष्य अपने हाथ में तप्त लोहे को लेकर उसे मारने का विचार करता है, तो पहले वह स्वयं ही दग्धं होता है; दूसरा पुरुष दग्ध हो भी सकता है अथवा नहीं भी। वैसे ही क्रोध से क्रोधी पुरुष पहले स्वयं ही दग्ध होता है, फिर दूसरे को दुःखी कर सके या न भी कर सके।

३. णासेदूण कसायं अग्गी णासदि सयं जधा पच्छा।
णासेदूण तध णरं णिरासवो णस्सदे कोधो।।(भग० आ० १३६४)

जैसे अग्नि आधारभूत ईंधन को पहले जलाकर उसके पश्चात् स्वयं भी नष्ट हो जाती है, वैसे ही क्रोध आधारभूत व्यक्ति—क्रोधी का पहले नाश कर उसके पश्चात् स्वयं नाश को प्राप्त होता है।

४. कोधो सत्तुगुणकरो णियाणं अप्पणो य मण्णुकरो।
परिभवकरो सवासे रोसे णासेदि णरमवसं।।(भग० आ० १३६५)

क्रोध शत्रु का उपकार करनेवाला होता है। क्रोध क्रोधी और उसके बाँधवों के लिए शोकजनक होता है। क्रोध जिस मनुष्य में बसता है, उसके पराभव का कारण होता है और अपने वश में हुए व्यक्ति का नाश कर देता है।

५. ण गुणे पेच्छादि अववदादि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च।
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि।।
(भग० आ० १३६६)

क्रोध आने पर मनुष्य दूसरों के गुणों को नहीं देखता, दूसरों के गुणों की निन्दा करने लगता है। क्रोध से मनुष्य नहीं कहने लायक बात कह डालता है। क्रोध से मनुष्य रौद्र बन जाता है। वह मनुष्य होने पर भी नारकीय जैसा हो जाता है।

६. जध करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं।।
(भग० आ० १३६७)

जैसे खलिहान में रखे गए किसान द्वारा वर्ष भर में अर्जित अनाज को अग्नि की एक चिनगारी जला डालती है, वैसे ही क्रोधरूपी अग्नि सारे गुणों को जला देती है।

७. जध उग्गविसो उरगो दब्भतणंकुरहदो पकुप्पंतो।
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो।। (भग० आ० १३६८)

जैसे उग्र विषवाला कोई साँप डाभ के तृण से आहत होकर क्रोध करता हुआ उसे डँसकर शीघ्र ही निर्विष हो जाता है, वैसे ही साधक पुरुष भी दूसरे पर क्रोध करता हुआ गुणों का त्याग कर निःसार हो जाता है।

८. पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो।
होदि य रोसणिमित्तं जम्मसहस्सेसु य दुरूवो।।
(भग० आ० १३६९)

सुन्दर पुरुष का रूप जब वह क्रोधयुक्त होता है, तब नष्ट हो जाता है। वह मर्कट सदृश दिखाई देता है। क्रोध से उपार्जित पाप के कारण वह कोटि जन्मों में कुरूप होता है।

९. सुठ्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण।।
(भग० आ० १३७०)

क्रोध से मनुष्य का अत्यन्त प्रिय मित्र भी मुहूर्त भर में शत्रु हो जाता है। क्रोधी मनुष्य को जगत् प्रसिद्ध यश भी क्रोधवश किये गये अकार्य से नष्ट हो जाता हैं।

१०. भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि।।
(भग० आ० १३६१)

क्रोध से मनुष्य की भौहें चढ़ जाती हैं, ललाट पर त्रिवली पड़ जाती हैं, आँखें निश्चल, अत्यन्त लाल और रूखी हो जाती है और वह राक्षस की तरह मनुष्यों में भयंकर मनुष्य बन जाता है।

११. हिंसं अलियं चोज्जं आचरदि जणस्स रोसदोसेण।
तो ते सव्वे हिंसालियचोज्जसमुब्भवा दोसा।।
(भग० आ० १३७३)

क्रोधी क्रोधवश हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, अतएव अनेक जन्मों में उसकी भी हिंसा होती है, उसके विषय में भी असत्य बोला जाता है, लोग उसका धन चुराकर ले जाते हैं। क्रोध से अनेक भवों में ऐसे दुःख भोगने पड़ते हैं।

१२. माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं।।
(भग० आ० १३७७)

अभिमानी सबका द्वेषपात्र हो जाता है। मानी मनुष्य इहलोक और परलोक में कलह, भय, वैर, दुःख और अपमान को अवश्य ही प्राप्त होता है।

१३. होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स।
होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण।।
(भग० आ० १३८३)

माया-दोष से मनुष्य द्वेष का पात्र होता है तथा अविश्वसनीय हो जाता है। स्वजनों के भी अपमान का पात्र होता है। माया-दोष के कारण बांधव भी शीघ्र ही उसके शत्रु हो जाते हैं।

१४. मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी।
णासदि मायादोसा विसजुददुद्धंव सामण्णं।। (भग० आ० १३८५)

माया से मैत्री का नाश होता है, जिससे इहलौकिक कार्य की हानि होती है। माया-दोष श्रामण्य का वैसे ही नाश कर देती है, जैसे विषयुक्त दूध प्राणों का नाश करता है।

१५. कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति।।
(भग० आ० १३८७)

जहाँ माया होती है, वहाँ क्रोध, मान और लोभ भी उपस्थित रहते हैं। माया में क्रोध, मद और लोभ से उत्पन्न सभी दोष रहते हैं।

१६. लोभेणासाघत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं।
णिए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि।। (भग० आ० १३८६)

लोभ से आशाग्रस्त होकर मनुष्य अनेक दोषों को प्राप्त होता है और पाप करता है। लोभाधीन मनुष्य न अपने कुटुम्ब की परवाह करता है और न अपनी।

१७. लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदत्थ किं वच्चं।
लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स।।
(भग० आ० १३६०)

एक तृण में भी उत्पन्न लोभ पाप उत्पन्न करता है, तब अन्य वस्तुओं के लोभ से पाप उत्पन्न हो, इसका तो कहना ही क्या ? जो लोभी नहीं है, उसके सिर पर मुकुट भी धर दिया जाय, तो उसको पाप नहीं होता।

१८. तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स।
संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाणं।।
(भग० आ० १३६१)

लोभग्रस्त मनुष्य के चित्त की तृप्ति तीनों लोकों के प्राप्त होने पर भी नहीं होती। किन्तु लोभरहित सन्तोषी मनुष्य दरिद्र होने पर भी निर्वाण-सुख को प्राप्त करता है।

(२) कषाय-विजय-मार्ग

१९. कोहं माणं च मायं च लोभं च पापवड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो।। (द० ८ : ३६)

क्रोध, मान माया और लोभ–ये चारों दुर्गुण पाप की वृद्धि करने वाले हैं, जो अपनी आत्मा की भलाई चाहे, वह इन दोषों को शीघ्र छोड़े।

२०. कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो।। (द० ८ : ३७)

क्रोध पारस्परिक प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करनेवाला है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सर्वगुणों का नाश करनेवाला है।

२१. उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे।।[1] (द० ८ : ३८)

क्रोध का हनन शान्ति से करे, मान को मार्दव से जीते, माया को ऋजुभाव से और लोभ को सन्तोष से जीते।

२२. कोहो य माणो य अणिग्गहीया माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि ए ए कसिणा कसाया सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।।
(द० ८ : ३९)

अनिगृहीत क्रोध और मान तथा बढ़ते हुए माया और लोभ–ये चारों संक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों को सींचते हैं (उन्हें कभी सूखने नहीं देते अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मरण के कारण हैं)।

२३. अहे वयइ कोहेणं माणेणं अहमा गई।
माया गईपडिग्घाओ लोभाओ दुहओ भयं।। (द० ९ : ५४)

---

१. नि० सा० ११५ :

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि ण खुए चउविहकसाए।।

क्रोध से मनुष्य अधः की ओर जाता है, मान से अधोगति होती है, माया से सद्गति का विनाश होता है और लोभ से दोनों प्रकार का—इहलौकिक और पारलौकिक—भय होता है।

२४. कोहं च माणं च तहेव मायं चउत्थं अज्झत्तदोसा।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं मायं न सेवे पयेज्ज लोहं।।
(सू० १, ६ : २६)
(उ० ४ : १२)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये आत्मस्थ-दोष हैं। मुमुक्षु क्रोध का वर्जन करे, मान का दमन करे, माया का सेवन न करे और लोभ को त्याग दे।

२५. कोहं माणं निगिणिहत्ता मायं लोभं च सव्वसो।
इंदियाइं वसे काउं अप्पाणं उवसंहरे।।
(उ० २२ : ४५ के बाद)

क्रोध, मान, माया और लोभ का सर्व प्रकार से निग्रह करो। इन्द्रियों को वश में करो। आत्मा को अनाचार से हटाओ।

२६. होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो।
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो।।
(भग० आ० १३३१)

कषाय से उत्मत्त मनुष्य ही वास्तव में उन्मत्त होता है; पित्त से उन्मत्त मनुष्य उस प्रकार उन्मत्त नहीं होता। पित्त से उन्मत्त मनुष्य वैसा पाप नहीं करता, जैसा कषाय से उन्मत्त मनुष्य।

२७. णिच्चं पि अमज्झत्थे तिकालविसयाणुसरणपरिहत्थे।
संजमरज्जूहिं जदी बंधंति कसायमक्कडए।।
(भग० आ० १४०४)

नित्य ही चंचल रहनेवाले और तीनों ही कालों में विषयों के अनुसरण करने में पटु कषायरूपी बन्दरों को संयमी पुरुष संयमरूपी रस्सियों से बाँध लेते हैं।

२८. ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं।। (भा० पा० १५६)

वे ही पुरुष धीर वीर हैं, जिन्होंने चमकते हुए क्षमा और जितेन्द्रियतारूपी खड्ग से दुर्जय, प्रबल और बल से उद्दण्ड कषायरूपी योद्धाओं को जीत लिया है।

२६. रुद्धेसु कसायेसु अ मूलादो होंति आसवा रुद्धा।
दुब्भत्तम्हि णिरुद्धे वणम्मि णावा जह ण एदि।। (मू० ७३६)

कषायों को अवरुद्ध करने से मूल से ही सभी आस्रव अवरुद्ध हो जाते हैं। जैसे छिद्र को रोक देने से नाव पानी में नहीं डूब सकती, वैसे ही कषाय को रोक देने पर दुर्गति नहीं होती।

७. इंद्रिय-कषाय-विजय

१. णस्सदि सगंपि बहुगंपि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं।
विससम्मिसिद्दुट्ठं णस्सदि जध सक्कराकढिदं।।
(द० ८ : ३६)

इन्द्रिय-विषय और कषाय से मिश्रित बहुत सारा ज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार चीनी सहित उबाला हुआ विषमिश्रित दूध।

२. इंदियकसायदुद्दंतस्सा पाडेंति दोसविसमेसु।
दुःखावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदेखलिया हु।। (भग० आ० १३६५)

इन्द्रिय और कषायरूपी दुर्दान्त घोडे, जिनकी वैराग्यरूपी लगाम ढीली कर दी गइ है, मनुष्यों को निश्चय ही दुःख देनेवाले दोषरूप विषम स्थानों में गिरा देते हैं।

३. इंदियकसायदुद्दंतस्सा णिव्वेदखलिणिदा संता।
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति।। (भग० आ० १३६६)

इन्द्रिय और कषायरूपी दुर्दान्त घोडे जब वैराग्यरूपी लगाम से वश में किये जाकर ध्यानरूपी कोड़े से डराये जाते हैं, तब वे दोषरूप विषम स्थानों में मनुष्य को नहीं गिराते।

४. इंदियकसायपण्णग्गदट्ठा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा।
पब्भट्ठझाणसुक्खा संजमजीवं पविजहंति।। (भग० आ० १३६७)

इन्द्रिय और कषायरूपी साँपों से डँसे जाकर जो तीव्र वेदना से पीड़ित होते हुए ध्यानरूपी आनन्द से भ्रष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्य अपने संयमरूपी जीव का परित्याग कर देते है।

५. इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं वज्झंति।
ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलाबद्धा।। (भग० आ० १४०६)

यदि इन्द्रिय और कषायरूपी चोर शुभ भावनारूपी साँकल से बाँध दिए जाएँ, तो वे साँकलों से बँधे हुए चोरों की तरह विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।

६. इंदियकसायवग्घा संजमणरघादणे अदिपसत्ता।
वेरग्गलोहदढपंजरेहिं सक्का हु णियमेदुं।। (भग० आ० १४०७)

इन्द्रिय और कषायरूपी सिंह, जो संयमरूपी मनुष्य का घात करने में अत्यन्त आसक्त है, वैराग्यरूपी लोहे के दृढ़ पिंजरों से ही वश में किया जा सकता है।

७. इंदियकसायहत्थी वयवारिमदीणिदा उवायेण।
विणयवरत्ताबद्धा सक्का अवसा वसे कादुं।। (भग० आ० १४०८)

शीघ्र अधीन न होनेवाले इन्द्रिय और कषायरूपी हाथी किसी उपाय से व्रतरूपी घेरे में लाये जाकर विनयरूपी वरत्रा से बाँधे जाने पर ही वश में किये जा सकते हैं।

८. इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज।
णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं।।(भग० आ० १४१०)

जब किसी के वश में नहीं आनेवाले इन्द्रिय और कषायरूपी हाथी दुःशीलरूपी वन में प्रवेश करने की इच्छा करते हैं, तब उनको ज्ञानरूपी अंकुश से ही वश में किया जा सकता है।

९. इंदियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं।
रज्जूहि णिधिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया।। (मू० ७४०)

इनिद्रय और कषायरूपी दोष तप ज्ञान और विनय से निग्रह किये जा सकते हैं; जैसे उत्पथगामी घोड़े लगाम से।

१०. जइ पंचिंदियदमओ होज्ज जणो रूसिदव्वय णियत्तो।
तो कदरेण कयंतो रूसिज्ज जए मणूयाणं।। (मू० ८६८)

यदि मनुष्य पाँचों इन्द्रियों को दमन करने में लीन हो और क्रोधादि से निवृत्त हो, तो फिर इस जगत् में कौन-सा कारण है, जिससे यमराज मनुष्यों से गुस्सा कर सकता है ?

: १२ :

वीर्य

१. बालवीर्य : पंडितवीर्य

१. दुहा वेयं सुयक्खायं वीरियं ति पवुच्चई।
किण्णु वीरस्स वीरितं ? केण वीरो त्ति वुच्चई ? (सू० १, ८ : १)

वह जो वीर्य कहलाता है, दो प्रकार का कहा गया है। वीर पुरुष का वीर्य क्या है ? किस कारण वह वीर कहा जाता है ?

२. कम्ममेव पवेदेंति अकम्मं वा वि सुव्वया।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं जेहिं दीसंति मच्चिया।। (सू० १, ८ : २)

सुव्रत सकर्म वीर्य और अकर्म वीर्य—इस तरह दो प्रकार का वीर्य कहते हैं। ये दो स्थान हैं, जिनमें मृत्युलोक के सर्व प्राणी देखे जाते हैं।

३. पमायं कम्ममाहंसु अप्पमायं तहावरं।
तब्भावादेसओ वा वि बालं पंडियमेव वा।। (सू १, ८ : ३)

ज्ञानियों ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है। अतः प्रमाद के होने से बाल वीर्य और अप्रमाद के होने से पण्डित वीर्य होता है।

४. सत्थमेगे सुसिक्खंति अतिवाताय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति पाणभूयविहेडिणो।। (सू १, ८ : ४)

कुछ लोग प्राणियों को मारने के लिए शस्त्र-विद्या सीखते हैं और कुछ प्राण और भूतों के घातक मंत्रों की आराधना करते हैं।

५. माइणो कट्टु मायाओ कामभोगे समारभे।
हंता छेत्ता पगतित्ता आय-सायाणुगामिणो।। (सू १, ८ : ५)

मायावी पुरुष माया कर मन, वचन और काय से कामभोगों का सेवन करते हैं। जो अपने ही सुख के लिप्सु हैं, वे प्राणियों का हनन-छेदन और कर्तन करनेवाले होते हैं।

६. मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो।
आरतो परतो वा वि दुहा वि य असंजता।। (सू १, ८ : ६)

असंयमी पुरुष मन, वचन और काया से अथवा मन से ही इस लोक और परलोक—दोनों के लिए तथा करने और कराने रूप—दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा करते हैं।

७. वेराइं कुव्वती वेरी ततो वेरेहि रज्जती।
पावोवगा य आरंभा दुक्खफासा य अंतसो।। (सू १, ८ : ७)

वैरी—जीव-हिंसा करानेवाला पुरुष—वैर करता है। इससे दूसरों के वैर का भागी होता है तब पुनः वैर करता है। इस तरह वैर से वैर बँधता जाता है। सावद्य अनुष्ठान रूप आरम्भ (हिंसा-कार्य) फल देने के समय दुःखकारक होते हैं।

८. संपरायं णियच्छंति अत्तदुक्कडकारिणो।
रोगदोसस्सिया बाला पावं कुव्वंति ते बहुं।। (सू १, ८ : ८)

मूर्ख-जीव राग-द्वेष के आश्रित हो अनेक पाप-कर्म करते हैं। जो इस तरह स्वयं दुष्कृत करते हैं, वे साम्परायिक कर्म का बन्धन करते हैं।

९. एतं सकम्मविरियं बालाणं तु पवेइयं।
एत्तो अकम्मविरियं पंडियाणं सुणेह मे।। (सू १, ८ : ९)

यह बाल जीवों का सकर्म वीर्य कहा है। अब पण्डितों का अकर्म वीर्य मुझसे सुनो।

१०. णेयाउयं सुयक्खातं उवादाय समीहते।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं असुहत्तं तहा तहा।। (सू १, ८ : ११)

बालवीर्य पुनः-पुनः दुःखावास है। प्राणी बालवीर्य का जैसे-जैसे उपयोग करता है, वैसे-वैसे अशुभ होता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप मार्ग मोक्ष की ओर ले जानेवाला कहा गया है। उसे ग्रहण कर पंडित मोक्ष के लिए उद्योग करता है।

११. दविए बंधणुम्मुक्के सव्वतो छिण्णबंधणे।
पणोल्ल पावगं कम्मं सल्लं कंतति अंतसो।। (सू १, ८ : १०)

जो राग-द्वेष से रहित है, जो कषायरूपी बंधन से मुक्त है, जो सर्वतः, स्नेह-बंधनों का छेदन कर चुका, वह पाप कर्मों को रोक, अपनी आत्मा में चुभे शल्य को समूल उखाड़ डालता है।

१२. जं किंचुवक्कमं जाणे आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरा खिप्पं सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए।। (सू १, ८ : १५)

पंडित पुरुष किसी प्रकार अपनी आयु का क्षयकाल जाने तो उसके पहले ही शीघ्र संलेखना-रूप शिक्षा को ग्रहण करे।

१३. जहा कुम्मे सअंगाई सए देहे समाहरे।
एवं पावेहिं अप्पाणं अज्झप्पेण समाहरे।। (सू १, ८ : १६)

जैसे कछुवा अपने अंगों को अपनी देह में समाहित कर लेता है वैसे ही मेधावी पुरुष आध्यात्मिक भावना द्वारा अपनी आत्मा को पापों से संवृत्त कर ले।

१४. साहरे हत्थपाए य मणं सव्विंदियाणि य।
पावगं च परीणामं भासादोसं च पावगं।। (सू १, ८ : १७)

विवेकी पुरुष अपने हाथ, पाँव, मन और सर्व इंद्रियों को नियन्त्रण में रखे। पाप पूर्ण आत्म-परिणाम और भाषा के दोषों को छोड़े।

१५. पाणे य णाइवाएज्जा अदिण्णं पि य णातिए।
सातियं ण मुसं बूया एस धम्मे वुसीमओ।। (सू १, ८ : २०)

प्रियप्राण प्राणियों का हनन न करे, बिना दी हुई कोई भी चीज न ले, कपटपूर्ण झूठ न बोले। आत्म-जयी वीर पुरुष का यही धर्म है।

१६. अतिक्कमंति वायाए मणसा वि ण पत्थए।
सव्वओ संवुडे दंते आयाणं सुसमाहरे।। (सू १, ८ : २१)

सच्चा वीर मन, वचन और काया से किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाना न चाहे। बाहर और भीतर सब ओर से संवृत और दान्त पुरुष मोक्ष देनेवाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूपी वीरता को अच्छी तरह ग्रहण करे।

१७. कडं च कज्जमाणं च आगमेस्सं च पावगं।
सव्वं तं णाणुजाणंति आयगुत्ता जिइंदिया।। (सू १, ८ : २२)

आत्मगुप्त जितेन्द्रिय पुरुष किसी के द्वारा किये गए तथा किये जाते हुए और भविष्य में किये जाने वाले पापों का अनुमोदन नहीं करते।

१८. झाणजोगं समाहट्टु कायं वोसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।।
(सू १, ८ : २७)

पंडित पुरुष ध्यानयोग को ग्रहण कर, सर्व प्रकार से अकुशल योग में प्रवृत्त शरीर का व्युत्सर्ग करे—बुरे व्यापारों से हटावे। तितिक्षा को परम-प्रधान समझकर शरीरपात पर्यन्त संयम का पालन करता हुआ रहे।

१९. अप्पपिंडासि पाणासि अप्पं भासेज्ज सुव्वए।
खंतेऽभिणिव्वुडे दंते वीतगेही सया जए।। (सू १, ८ : २६)

सुव्रती पुरुष, अल्प खाये, अल्प पीवे, अल्प बोले। वह क्षमावान हो, लोभादि से निवृत्त हो, जितेन्द्रिय हो, गृद्धि-रहित हो तथा सदाचार में सदा यत्नवान् हो।

१०. अणु माणं च मायं च तं पण्णिाय पंडिए।
आयट्ठं सुयादाय एवं वीरस्स वीरियं।। (सू १, ८ : १८)

पंडित पुरुष बुरे फल को जान अणुमात्र भी माया और मान का त्याग करे। मोक्षार्थ को—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूपी मुक्ति-मार्ग को—ग्रहण कर धैर्यपूर्वक क्रोधादि विकारों को जीतने की साधना करे। यही वीर पुरुष का अकर्म वीर्य है—उसका वास्तविक पराक्रम है।

२१. जे याऽबुद्धा महाभागा वीरा ऽसम्मत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो।। (सू १, ८ : २३)

जो अबुद्ध हैं—परमार्थ को नहीं जानते और सम्यग्दर्शन से रहित हैं, ऐसे संसार में पूजे जानेवाले वीर पुरुषों का सांसारिक पराक्रम अशुद्ध होता है और वह संसार-वृद्धि में सर्वशः सफल होता है।

२२. जे उ बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो।। (सू १, ८ : २४)

जो बुद्ध हैं—परमार्थ को जाननेवाले हैं और सम्यग्दर्शन के सहित हैं, उन महाभाग वीरों का आध्यात्मिक पराक्रम शुद्ध होता है और वह संसार.वृद्धि में सर्वशः निष्फल होता है।

२३. बालस्स पस्स बालत्तं अहम्मं पडिवज्जिया।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे नरए उववज्जई।। (उ० ७ : २८)

हे मनुष्य ! तू बाल जीव की मूर्खता को देख। वह अधर्म को ग्रहण कर तथा धर्म को छोड़ अधर्मिष्ठ हो नरक में उत्पन्न होता है।

२४. धीरस्स पस्स धीरत्तं सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे देवेसु उववज्जई।। (उ० ७ : २९)

हे मनुष्य ! तू धीर पुरुष की धीरता को देख। वह सब धर्मों का पालन कर, अधर्म को छोड़ धर्मिष्ठ हो देवों में उत्पन्न होता है।

२५. तुलियाण बालभावं अबालं चेव पण्डिए।
चइऊण बालभावं अबालं सेवए मुणि।। (उ० ७ : ३०)

पंडित मुनि बाल-भाव और अबाल-भाव की तुलना कर बाल-भाव को छोड़कर अबाल-भाव का सेवन करता है।

२. ज्ञानी : अज्ञानी

१. णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स।
जिणदिट्ठमोक्खग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि।।

(भग० आ० ७६७)

विशुद्ध लेश्या वाले जिस साधक के हृदय में ज्ञान का प्रदीप जल रहा है उसके लिए जिन भगवान के द्वारा दिखलाये गए मुक्ति-मार्ग में विनाश का भय नहीं है।

२. सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण हू अण्णणी णाणी एत्तो हु विवरीओ।। (मो० पा० ५४)

जो इष्ट वस्तु के संयोग होने पर उस पर-द्रव्य में रागवश प्रीति करता है वह उस राग के कारण अज्ञानी होता है। पर-द्रव्य के विषय में इससे विपरीत भाव रखने वाला ज्ञानी होता है।

३. उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण[1]।। (मो० पा० : ५३)

अज्ञानी उग्र तप से जितने कर्म बहुत भवों में क्षय करता है, तीन गुप्ति से गुप्त ज्ञानी उतने ही कर्म अन्तरमुहूर्त्तमात्र में क्षय करता है।

४. जत्थेव चरदि बालो परिहारण्हूवि चरदि तत्थेव।
वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू विमुच्चदि सो।।(मूल० ५ : १५१)

जहाँ बाल—अज्ञानी विचरण करता है, वहीं त्यागी भी विचरण करता है परन्तु बाल—अज्ञानी बंधन को प्राप्त होता है और त्यागी कर्मों से मुक्त होता है।

५. जहा खरो चंदणभारवाही भारस्स भागी णहु चंदणस्स।
एवं खु णाणी चरणेण हीणो, नाणस्सभागी ण हु सुग्गईए।।

(वि० आ० भा० ११५८)

जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल बोझ का भागी होता है, चंदन का अधिकारी नहीं, वैसे ही चरित्र से हीन ज्ञानी केवल ज्ञान का बोझा ढोता है, सुगति का अधिकारी नहीं होता।

---

१. प्रव० ३. ३८
जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिगुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण।।

: १३ :

दुःख-हेतु

१. तृष्णा और दुःख

१. सद्दाणुगासाणुयए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तहि ते परियावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे।।

(उ० ३२ : ४०)

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भाव की तृष्णा से उनके पीछे चलनेवाला अज्ञानी जीव अपने स्वार्थ को प्रधान कर नाना प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता हैं। वह क्लिष्ट जीव उन्हें कई प्रकार से परिताप देता और पीड़ा पहुँचाता है।

२. सद्दाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए वियोगे य कहिं सुहं से संभोगकाले य अतित्तिलामे ?।।

(उ० ३२ : ४१)

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भावों के प्रति अनुराग और मूर्च्छा के कारण उनके उत्पादन, रक्षण और प्रबंध में (क्लेश और चिंता होती है)। विनाश और वियोग में (शोक होता है)। संभोग-काल में भी तृप्ति-लाभ न होने से (खेद होता है)। ऐसी स्थिति में मनुष्य को विषयों में सुख कहाँ से हो सकता है।

३. सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं।।

(उ० ३२ : ४२)

शब्दादि विषयों में अतृप्त और परिग्रह में आसक्त जीव कभी संतोष को प्राप्त नहीं होता है। इस असंतोष-दोष के कारण दुःखी हो लोभवश दूसरों की चीजों को बिना दिए लेने लगता है (चोरी करने लगता है)।

४. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

(उ० ३२ : ४३)

तृष्णा से अविभूत, चौर्य-कर्म में प्रवृत्त और शब्दादि विषयों और परिग्रह में अतृप्त पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषा की वृद्धि करता है, तथापि वह दुःख से मुक्त नहीं हो पाता।

५. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।।
(उ० ३२ : ४४)

मृषावाद के पहले और पीछे तथा मृषावाद करते समय वह दुरंत दुष्ट कर्म करने वाला पुरुष अवश्य दुःखी होता है। चोरी में प्रवृत्त और शब्दादि में अतृप्त हुई आत्मा दुःख को प्राप्त होती है तथा उसका कोई सहायक नहीं होता।

६. सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्ख।।
(उ० ३२ : ४५)

शब्दादि विषयों में अनुरक्त पुरुष को इस परिस्थिति में कदाचित् किंचित् भी सुख कैसे हो सकता है ? जिनको प्राप्त करने के लिए दुःख उठाया उन्हीं शब्दादि विषयों के उपभोगकाल में भी वह क्लेश और दुःख को ही प्राप्त होता है।

२. विषय और विनाश

१. सद्दस्स सोयं गहणं वयंति सोयस्स सद्दं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ : ३६)

जो शब्द को ग्रहण करता है, उसे श्रोत्र (कान) कहा गया है। जो श्रोत्र का ग्रहण (विषय) है, उसे शब्द कहा गया है। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहते हैं। जो शब्द द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं।

२. सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे सद्दे अतित्ते सुमुवेइ मच्चुं।।
(उ० ३२ : ३७)

जिस तरह शब्द में मुग्ध बना रागातुर हिरण अतृप्त ही मृत्यु का ग्रास बनता है, उसी तरह शब्द के विषय में तीव्र गृद्धि रखनेवाला पुरुष अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

३. एमेव सद्दम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ : ४६)

इसी तरह शब्द के विषय में द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मों का संचय करता है, जिससे उसे विपाककाल में पुनः दुःख होता है।

४. रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ : २३)

जो रूप को ग्रहण करता है, उसे चक्षु कहा गया है। चक्षु के ग्राह्य विषय को रूप कहा गया है। जो रूप राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो रूप द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

५. रूवेसु जो गिद्धिमवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे आलोयलोले समुवेइ मच्चुं।।
(उ० ३२ : २४)

जिस तरह रागातुर पतंग आलोक में मोहित हो अतृप्त अवस्थ में मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी तरह जो रूप में तीव्र गृद्धि को प्राप्त होता है, वह मनुष्य अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

६. एमेव रूवम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ : ३३)

इसी तरह रूप के विषय में द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मों का संचय करता है, जिससे उसे विपाककाल में पुनः दुःख होता है।

७. गंधस्स घाणं गहणं वयंति घाणस्स गंधं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ :४६)

जो गन्ध को ग्रहण करता है, उसे घ्राण (नाक) कहते हैं। जो नाक का ग्राह्य विषय है, उसे गन्ध कहते हैं। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो गंध द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

८. गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे सप्पे विलाओ विव निक्खमंते।।
(उ० ३२ : ५०)

जिस तरह रागातुर सर्प औषधि की गंध में गृद्ध हो बिल से निकलता हुआ विनाश को प्राप्त होता है, उसी तरह गंध में तीव्र गृद्धि को प्राप्त मनुष्य अकाल में ही विनाश को प्राप्त करता है।

९. एमेव गंधम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चित्ताइ कम्मं जं से पुणी होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ : ५९)

इसी तरह गंध के विषय में द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मों का संचय करता है, जिससे उसे विपाक-काल में पुनः बड़ा दुःख होता है।

१०. रसस्स जिब्भं गहणं वयंति जिब्भाए रसं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ : ६२)

जो रस को ग्रहण करती है, उसे जिह्वा का ग्राह्य विषय रस कहा गया है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है और जो रस द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

११. रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागउरे बडिसविभिन्नकाए मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे।।
(उ० ३२ : ६३)

जिस तरह रागातुर मच्छ आमिष खाने की गृद्धि के वश काँटे से बिंधा जाकर मरण को प्राप्त होता है, उसी तरह जो मनुष्य रस में तीव्र गृद्धि को प्राप्त होता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त करता है।

१२. एमेव रसम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ : ७२)

इसी तरह शब्द के विषय में द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख-समूह की परम्पराओं को प्राप्त होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मों का संचय करता है, जिससे विपाक-काल में उसे पुनः दुःख होता है।

१३. फासस्स कायं गहणं वयंति कायस्स फासं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ : ७५)

जो स्पर्श को ग्रहण करता है, उसे काय कहते हैं। जो काय का ग्राह्य विषय है, उसे स्पर्श कहा है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, वह मनोज्ञ कहा जाता है। जो स्पर्श द्वेष का हेतु होता है, वह अमनोज्ञ कहा जाता है।

१४. फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने गाहग्गहीए महिसे व ऽरन्ने।।
(उ० ३२ : ७६)

जिस तरह जंगल के शीतल जलाशय में निमग्न रागातुर महिष ग्राह द्वारा पकड़ा जाकर विनाश को प्राप्त होता है, उसी तरह स्पर्श के विषय में तीव्र गृद्धि को प्राप्त मनुष्य अकाल में ही विनाश को प्राप्त करता है।

१५. एमेव फासम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो व चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ : ८५)

इसी तरह शब्द के विषय में द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त करता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मों का संचय करता है, जिससे विपाक-काल में उसे पुनः बड़ा दुःख होता है।

१६. भावस्स मणं गहणं वयंति मणस्स भावं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।।
(उ० ३२ : ८८)

जो भाव को ग्रहण करता है, उसे मन कहते हैं। मन का ग्राह्य विषय भाव कहा जाता है। जो भाव राग का हेतु होता है, वह मनोज्ञ कहा जाता है। जो भाव द्वेष का हेतु होता है, वह अमनोज्ञ कहा जाता है।

१७. भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे करेणुमग्गावहिए व नागे।।
(उ० ३२ : ८९)

जिस तरह कामभाव में गृद्ध और रागातुर हाथी हथिनी के द्वारा मार्ग-भ्रष्ट होकर मारा जाता है, उसी तरह भाव के विषय में तीव्र गृद्धि प्राप्त मनुष्य अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

१८. एमेव भावम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।
(उ० ३२ : ९८)

इसी तरह भाव के विषय मे द्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है। प्रदुष्ट चित्त द्वारा वह कर्मों का संचय करता है, जिससे उसे विपाक-काल में पुनः बड़ा दुःख होता है।

३. संसार-परम्परा : मोक्ष-साधना

१. जहा य अण्डप्पभवा बलागा अण्डं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हं मोहं च तण्हाययणं वयंति।।
(उ० ३२ : ६)

जैसे बलाका अंडे से उत्पन्न होती है और अंडा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तृष्णा का उत्पत्ति-स्थान मोह है और मोह का उत्पत्ति-स्थान तृष्णा कही गयी है।

२. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं दुक्खं च जाईमरणं वयंति।।
(उ० ३२ : ७)

राग और द्वेष—ये दोनों कर्मों के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न कहा गया है। कर्म जन्म और मरण का मूल है और जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है।

३. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।।
(उ० ३२ : ८)

उसका दुःख नष्ट हो गया, जिसके मोह नहीं होता। उसका मोह नष्ट हो गया, जिसके तृष्णा नहीं होती। उसकी तृष्णा नष्ट हो गई जिसके लोभ नहीं होता। उसका लोभ नष्ट हो गया, जो अकिंचन है।

४. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं।।
(उ० ३२ : २)

सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन से तथा राग और द्वेष के सम्पूर्ण क्षय से जीव एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है।

५. तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य।।
(उ० ३२ : ३)

गुरु और वृद्ध संतों की सेवा, अज्ञानी जनों (के संग) का दूर से ही वर्जन, एकाग्र चित्त से स्वाध्याय, एकान्तवास, सूत्र और अर्थ का भली प्रकार चिन्तन तथा धृति—यह ही एकान्तिक सुखमय मोक्ष को प्राप्त करने का मार्ग है।

४. राग-द्वेष-मोह क्षय-विधि

१. रागं च दोसं च तहेव मोहं उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं।।
(उ० ३२ : ६)

राग, द्वेष और मोह को समूल उखाड़ डालने की कामना रखनेवाले पुरुष को जिन-जिन उपायों का आश्रय लेना चाहिए, उन्हें मैं यथाक्रम कहूँगा।

२. रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी।।
(उ० ३२ : १०)

घी, दूध आदि रसों का बहुत मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। रस पदार्थ प्रायः मनुष्यों के लिए उद्दीपक होते हैं। जिस तरह पक्षी स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की ओर दौड़े चले जाते हैं, उसी तरह से दीप्त वीर्यवान पुरुष की ओर काम-वासनाएँ दौड़ी चली आती हैं।

३. जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई।।
(उ० ३२ : ११)

जिस तरह प्रचुर काष्ठ से भरे हुए वन में अग्नि लग जाय और साथ ही पवन चलती हो तो दावाग्नि नहीं बुझती, उसी तरह से अति मात्रा में आहार करनेवाले मनुष्य की इन्द्रियाग्नि शान्त नहीं होती। किसी भी ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम भोजन—अति आहार हितकर नहीं है।

४. विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं ओमासणाणं दमिइन्दियाणं।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं पराइओ वाहिरिवोसहेहिं।।
(उ० ३२ : १२)

जो एकान्त शय्यासन के सेवी हैं, अल्पाहारी हैं और जितेन्द्रिय हैं, उनके चित्त को विषयरूपी शत्रु वैसे ही आक्रांत नहीं कर सकता जैसे औषधि से परजित व्याधि शरीर को। (औषधि से जैसे व्याधि पराजित हो जाती है, वैसे ही इस नियम के पालन से विषयरूपी शत्रु पराजित हो जाता है)।

५. जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो।।
(उ० ३२ : १३)

जैसे बिल्लियों के वास के समीप में चूहे का रहना प्रशस्त नहीं, उसी तरह से जिस मकान में स्त्रियों का वास हो, उस स्थान में ब्रह्मचारी के रहने में क्षेम-कुशल नहीं।

६. अदंसणं चेव अपत्थणं च अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं हियं सया बम्भवए रयाणं।।
(उ० ३२ : १५)

स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मंजुल भाषण, अंग-विन्यास और कटाक्ष आदि को न देखना चाहिए। उनकी इच्छा नहीं करनी चाहिए, उनका मन में चिन्तन नहीं करना चाहिए, उनका कीर्तन नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य में रत पुरुष के लिए ये नियम सदा हितकारी और आर्य ध्यान (उत्तम समाधि) प्राप्त करने में सहायक हैं।

७. मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए जहित्थिओ बालमणोहराओ।।
(उ० ३२ : १७)

जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है, संसार-भीरु है, धर्म में स्थित है, उसके लिए मूर्ख के मन को हरनेवाली स्त्रियों की आसक्ति को पार पाने से अधिक दुष्कर कार्य इस लोक में दूसरा नहीं है।

८. एए य संगे समइक्कमित्ता सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गंगासमाणा।।
(उ० ३२ : १८)

इस आसक्ति का पार पा लेने पर शेष आसक्तियों का पार पाना उसी प्राकर सरल हो जाता है जिस प्रकार महासागर तैर लेने पर गंगा के समान नदियों को तैरना।

९. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो।।
(उ० ३२ : १९)

देवों सहित सर्व लोक में जो सब कायिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामभोगों की आसक्ति से ही उत्पन्न हैं। वीतराग पुरुष ही उन सबका अंत ला सकता है।

१०. जहा य किंपागफला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे।।
(उ० ३२ : २०)

जिस तरह किम्पाक फल खाते समय रस और वर्ण में मनोरम होने पर भी पचने पर जीवन का अंत करते हैं, उसी तरह से भोगने में मनोहर काम-भोग विपाक-काल (फल देने की अवस्था) में विनाश के (अधोगति) के कारण होते हैं।

: १४ :

दृष्टान्त

१. एलक

१. जहाएसं समुद्दिस्स कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसं देज्जा पोसेज्जा वि सयंगणे।।
तओ से पुट्ठे परिवूढे जायमेए महोदरे।
पीणिए विउले देहे आएसं परिकंखए।।
जाव न एइ आएसे ताव जीवइ से दुही।
अह पत्तंमि आएसे सीसं छेत्तूण भुज्जई।।
जहा खलु से उरब्भे आएसाए समीहिए।
एवं बाले अहम्मिट्ठे ईहई नरयाउयं।। (उ० ७ : १-४)

जैसे कोई अतिथि के उद्देश्य से एलक (मेमने) का पोषण करता है, उसे चावल और जौ खिलाता है, अपने आँगन में ही उसे रखता और उसका पालन करता है और जैसे इस तरह पोसा हुआ वह एलक पुष्ट, परिवृद्ध, जातमेद, महाउदर और तृप्त तथा विपुल देहवाला होने पर अतिथि की प्रतीक्षामात्र के लिए होता है।

इस तरह जैसे वह एलक निश्चय रूप में अतिथि के लिए ही पोसा जाता है—जब तक अतिथि नहीं आता, तब तक ही बेचारा जीता है और अतिथि के आने पर उसका सिर छेद कर खा लिया जाता है, उसी प्रकार अधर्मिष्ठ दुराचारी मूर्ख मनुष्य मानो कर्मों की अपेक्षा नरकायु के लिए पुष्ट होता है और उसकी इच्छा करता है।

२. हिंसे वाले मुसावाई अद्धाणंमि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे माई कण्हुहरे सढे।।
इत्थीविसयगिद्धे य महारंभपरिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं परिवूढे परंदमे।।
अयकक्करभोई य तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं नरए कंखे जहाएसं व एलए।। (उ० ७ : ५-७)

जो मूर्ख है, हिंसक है, झूठ बोलनेवाला है, मार्ग में लूटनेवाला है, ग्रंथिच्छेदक है, चोर है, मायी है ओर किसको हरण करूँ—ऐसे विचारवाला शठ है, जो स्त्री और

विषयों में गृद्ध है, जो महारम्भी और महापरिग्रही है, जो सुरा और मांस का खान-पान करनेवाला है, बलवान होकर दूसरे को दमन करनेवाला है और जो बकरे की तरह कर्कर शब्द करते हुए मांस को खानेवाला है—ऐसा बड़े पेट और उपचित रक्तवाला मूर्ख ठीक तरह नरकायु की आकांक्षा करता है, जिस तरह पोसा हुआ एलक अतिथि की।

३. आसणं सयणं जाणं वित्तं कामे य भुंजिया।
दुस्साहडं धणं हिच्चा बहुं संचिणिया रयं।।
तओ कम्मगुरू जन्तू पच्चुप्पनपरायणे।
अय व्व आगयाएसे मरणंतंमि सोयई।।
तओ आउपरिक्खीणे चुया देहा विहिंसगा।
आसुरियं दिसं बाला गच्छंति अवसा तमं।। (उ० ७ : ८-१०)

आसन, शय्या, यान, वित्त और कामभोगों को भोगकर मूर्ख बहुत कर्म-रज को संचित कर कर्मगुरु—कर्मों से भारी बन जाता है। ऐसा कर्मगुरु—कर्मों से भारी बना हुआ और केवल वर्तमान को ही देखनेवाला प्राणी कष्ट से प्राप्त धन को यहीं छोड़कर जाता हुआ मरणान्त काल में उसी प्रकार सोच करता है, जिस तरह पुष्ट एलक अतिथि के आने पर। (अतिथि के पहुँचने पर जैसे एलक शिर से छेदा जाकर खाया जाता है) उसी तरह आयुष्य के क्षीण होने पर नाना प्रकार की हिंसा करनेवाले मूर्ख, देह को छोड़ परवश बन, अन्धकारयुक्त नरक गति की ओर जाते हैं।

२. गली-गर्दभ

१. वहणे वहमाणस्स कंतारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई।। (उ० २७ : २)

वाहन में जोड़े हुए विनीत वृषभ आदि को चलाता हुआ पुरुष अरण्य को सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह योग-यान (संयम-रथ) में जोड़े हुए सुशिष्यों को चलाता हुआ आचार्य इस संसार को सुखपूर्वक पार करता है।

२. खलुंके जो उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहिं च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई।। (उ० २७ : ३)

जो वाहन में दुष्ट वृषभों को जोतता है, वह उनको मारते-मारते क्लेश को प्राप्त होता है। वह असमाधि का अनुभव करता है। उसका तोत्रक (आर) तक टूट जाता है।

३. एगं डसइ पुच्छंमि एगं विंधइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं एगो उप्पहपट्ठिओ।। (उ० २७ : ४)

वह एक की पूँछ को काट देता है और दूसरे को बार-बार आरे से बींधता है। (तो भी) एक जुए को तोड़ डालता है, तो दूसरा उन्मार्ग की ओर दौड़ने लगता है।

४. एगो पडइ पासेणं निवेसइ निवज्जई।
उक्कुद्दइ उप्फिडई सढे बालगवी वए।। (उ० २७ : ५)

एक एक पार्श्व से जमीन पर गिर पड़ता है, बैठ जाता है, सो जाता है तो दूसरा शठ कूदता है, उछलता है और तरुण गाय के पीछे दौड़ता है।

५. माई मुद्धेण पडइ कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।
मयलक्खेण चिट्ठई वेगेण य पहावई।। (उ० २७ : ६)

एक वृषभ माया कर मस्तक से गिर पड़ता है, तो दूसरा क्रोध-युक्त होकर उल्टा चलता है। एक मृतक की तरह पड़ जाता है तो दूसरा जोर से दौड़ने लगता है।

६. छिन्नालें छिंदइ सेल्लि दुद्दंतो भंजए जुगं।
से वि य सुस्सुयाइत्ता उज्जहित्ता पलायए।। (उ० २७ : ७)

छिन्नाल वृषभ रास का छेदन कर देता है, दुर्दान्त जुए को तोड़ डालता है और सों-सों कर वाहन को छोड़कर भाग जाता है।

७. खलुंका जारिसा जोज्जा दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि भज्जंति धिइदुब्बला।। (उ० २७ : ८)

यान में दुष्ट वृषभों को जोतने पर जो हाल होता है, वही हाल धर्म-यान में दुःशिष्यों को जोड़ने से होता है।[1] दुर्बल धृति वाले शिष्य, जैसे दुष्ट वृषभ यान को तोड़ डालता है, उसी तरह धर्म-यान को भग्न कर डालते हैं।

८. अह सारही विचिंतेइ खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं अप्पा मे अवसीयई।।
जारिसा मम सीसाउ तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे चइत्ताणं दढं परिगिण्हइ तवं।। (उ० २७ : १५-१६)

उन दुष्ट वृषभों द्वारा श्रम को प्राप्त हुआ सारथी जैसे सोचता है कि इन दुष्ट वृषभों से मुझे क्या प्रयोजन जिनके संसर्ग से मेरी आत्मा विषाद को प्राप्त होती है, उसी तरह धर्माचार्य सोचते हैं—जैसे ये मेरे दुर्बल दुष्ट शिष्य हैं वैसे ही गली-गर्दभ होते हैं इनको छोड़कर मैं तप को ग्रहण करता हूँ।

---

१. इस उपमा के विस्तार के लिए दिखिये—उ० २७ : ६-१४।

६. रमए पण्डिए सासं हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो गलियस्सं व वाहए।। (उ० १ : ३७)

पण्डितों को शासन करता हुआ गुरु उसी प्रकार आनन्दित होता है, जिस प्रकार भद्र घोडे का शासन करनेवाला वाहक। मूर्ख शिष्यों को शिक्षा करता हुआ गुरु उसी प्रकार कष्ट पाता है, जिस प्रकार गलि-अश्व का वाहक।

३. दिग्मूढ़

(१) मृग

१. जविणो मिगा जहा संता परिताणेण तज्जिया।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो।।
परिताणियाणि संकंता पासियाणि असंकिणो।
अण्णाणभयसंविग्गा संपलिंति तहिं तहिं।।
अह तं पवेज्ज वज्झं अहे वज्झस्स वा वए।
मुच्चेज्ज पययासाओ तं तु मंदोण देहई।।
(सू० १, १(२) : ६-८)

जैसे सुरक्षित स्थान से भटके हुए चंचल मृग, शंका के स्थान में शंका नहीं करते अैर अशंका के स्थान में शंका करते हैं और इस तरह सुरक्षित स्थान में शंका करते हुए और पाशस्थान में शंका न करते हुए वे अज्ञानी और भय-संत्रस्त जीव उन-उन पाशयुक्त स्थानों में फँस जाते हैं। यदि मृग उस बन्धन को फाँदकर चले आएँ या उसके नीचे से निकल जाएँ तो पैर के बनधन से मुक्त हो सकते हैं। पर वे मूर्ख यह नहीं देखते।

२. अहियप्पाऽहियप्पण्णाणे विसमंतेणुवागए।
से बद्धे पयपासाइं तत्थ धायं णियच्छइ।।
धम्मपण्णवणा जा सा तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाइं ण संकंति अवियत्ता अकोविया।।
सव्वप्पगं विउक्कस्सं सव्वं णूमं विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे एयमट्ठं मिगे चुए।।
जे एयं णाभिजाणंति मिच्छदिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते घायमेसंतऽणंतसो।।
(सू० १, १(२) : ६, ११-१३)

जिस तरह हिताहित के विवेक से शून्य मृग, विषमान्त में पहुँच, पद-बन्धन के द्वारा बद्ध होकर वहीं मर जाता है और इस तरह अपना बड़े-से-बड़ा अहित करता है, उसी तरह से विवेक शून्य अज्ञानी मूढ़ धर्म-स्थान में शंका करते हैं और आरम्भ में शंका नहीं करते। लोभ, मान, माया और क्रोध को छोड़ मनुष्य कार्मांश रहित—मुक्त होता है, पर अज्ञानी मनुष्य मूर्ख मृग की तरह इस बात को छोड़ देता है। जो बन्धन-मुक्ति के उपाय को नहीं जानते वे मिथ्यादृष्टि अनार्य उसी तरह अनन्त बार घात को प्राप्त करते हैं, जिस तरह वह पाशबद्ध मृग।

३. अमणुण्णसमुप्पायं दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणंता किह णाहिंति संवरं।। (सू० १,१ (३) : १०)

अशुभ अनुष्ठान करने से दुःख की उत्पत्ति होती है। जो लोग दुःख की उत्पत्ति का कारण नहीं जानते हैं, वे संवर—दुःख-नाश के उपाय को कैसे जान सकते हैं ?

(२) अंधानुसरण

४. वणे मूढे जहा जंतू मूइणेयाणुगामिए।
दो वि एए अकोविया तिव्वं सोयं णियच्छई।।
अंधो अंधं पहं णेंतो दूरमद्धाण गच्छई।
आवज्जे उप्पहं जंतू अदुवा पंथाणुगामिए।।
एवमेगे णियागट्ठी धम्ममाराहगा वयं।
अदुआ अहम्ममावज्जे ण ते सव्वज्जुयं वए।।
(सू० १, १ (२) : १८-२०)

जैसे वन में भूला हुआ कोई दिग्मूढ़ जीव दूसरे दिग्मूढ़ जीव का अनुसरण कर ठीक रास्ते पर नहीं आता और रास्ते को नहीं जानने से दोनों ही तीव्र शोक को प्राप्त होते हैं।

जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे को मार्ग दिखाता हुआ दूर निकल जाता है या उत्पथ में चला जाता है या उल्टे पथ पर चला जाता है, उसी तरह से कई मुक्ति की कामना रखने वाले समझते हैं कि हम धर्म की आराधना कर रहे हैं परन्तु मिथ्या धर्म पर चलने से सर्वथा ऋजु मार्ग को नहीं पाते।

५. एवमेगे वियक्काहिं णो अण्णं पज्जुवासिया।
अप्पणो य वियक्काहिं अयमंजू हि दुम्मई।।
एवं तक्काए साहेंता धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते णातिवट्टंति सउणि पंजरं जहा।।
(सू० १, १ (२) : २१-२२)

कई ऐसे हैं जो केवल कुतर्क ही किया करते हैं और दूसरे सच्चे हों तो भी उनकी पुर्युपासना नहीं करते। दुर्मति अपनी तर्क से ही सोचते रहते हैं कि उनका मार्ग ही सरल है। इस प्रकार अपने पक्ष में तर्क करते हुए तथा धर्माधर्म को नहीं जानते हुए ऐसे लोग पिंजरे में बँधते हुए पक्षी की तरह दुःख का अन्त नहीं कर सकते।

६. सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति संसारं ते विउस्सिया।। (सू० १, १ (२) : २३)

अपने-अपने मत की प्रशंसा करने में और दूसरों के मत की निन्दा करने में ही जो पांडित्य दिखाते हैं, वे संसार में बँधे रहते हैं।

(३) फूटी नाव

७. जहा आसाविणि णावं जाइअंधो दुरूहिया।
इच्छई पारमागंतुं अंतराले विसीयई।।
एवं तु समणा एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया।
संसारपारकंखी ते संसारं अणुपरियट्टति।।
(सू० १, १ (२) : ३१-३२)

जिस तरह छेदवाली फूटी नाव में बैठकर पार जाने की इच्छा करनेवाला जन्मान्ध पुरुष पार नहीं जा सकता और बीच में ही डूबता है, इसी तरह से कई अनार्य और मिथ्या-दृष्टि श्रमण संसार से पार पाने की आकांक्षा रखते हुए भी संसार में ही गोते खाया करते हैं।

४. हार-जीत

(१) काकिणी

१. जहा कागिणिए हेउं सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए।।
एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अंतिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो आउं कामा य दिव्विया।।
अणेगावासानउया जा सा पन्नवओ ठिई।
जाणि जीयंति दुम्मेहा ऊणे वास सयाउए।। (सू० ७ : ११-१३)

जैसे एक काकिणी के लिए कोई मूर्ख मनुष्य हजार मोहर को हार जाता है और जैसे अपथ्य आम को खाकर राजा राज्य खो बैठता है, उसी तरह मूर्ख तुच्छ मानवीय भोगों के लिए उत्तम सुखों—देव-सुखों को खो देता है।

मनुष्यों के कामभोग सहस्रगुण करने पर भी आयु और भोग की दृष्टि से देवताओं के कामभोग ही उनसे दिव्य होते हैं। मनुष्यों के काम देवताओं के कामों के सामने वैसे ही हैं, जैसे सहस्र मोहर के सामने काकिणी और राज्य के सामने आम। प्रज्ञावान की देवलोक में जो अनेक वर्षनयुत्त की स्थिति है उसको दुर्बुद्धि जीव सौ वर्ष से भी न्यून आयु में विषय-भोगों के वशीभूत होकर हार देता है।

२. कुसग्गमेत्ता इमे कामा सन्निरुद्धंमि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेमं न संविदे ?।। (सू० ७ : २४)

इस सीमित आयु में कामभोग कुश के अग्र भाग के समान स्वल्प हैं। तुम किस हेतु को सामने रखकर आगे के योगक्षेम को नहीं समझते ?

(२) तीन वणिक्

३. जहा य तिन्नि वणिया मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाहं एगो मूलेण आगओ।।
एगो मूलं पि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा एवं धम्मे वियाणह।। (सू० ७ : १४-१५)

तीन वणिक् मूल पूँजी को लेकर घर से निकले। उनमें से एक लाभ उठाता है, दूसरा मूल को लेकर आता है और तीसरा मूल पूँजी को भी खोकर आता है। जैसे व्यवहार में यह उपमा है, वैसे ही धर्म के विषय में भी जानो।

४. माणुसत्तं भवे मूलं लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं नरगतिरिक्खत्तणं धुवं।। (सू० ७ : १६)

मनुष्य जीवन मूलधन है। देवगति लाभ-स्वरूप है। मूलधन के नाश से जीवों को निश्चय ही हार स्वरूप नरक और तिर्यञ्च गति मिलती है।

५. दुहओ गई बालस्स आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च जं जिए लोलयासढे।।
तओ जिए सई होइ दुविहं दोग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा अद्धाए सुइरादवि।। (सू० ७ : १७-१८)

धूर्त्त और लोलुप अज्ञानी जीव की, जिसने कि देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है, नरक और तिर्यञ्ज ये दो गतियाँ होती हैं, जो कष्टमूलक ओर वधमूलक हैं।

नरक और तिर्यञ्च इन दो प्रकार की दुर्गतियों में गया हुआ जीव सदा ही हारा हुआ होता है क्योंकि इन उन्मार्गों से निकलकर विशाल पथ पर आना दीर्घकाल के बाद भी दुर्लभ है।

६. एवं जियं सपेहाए तुलिया बालं च पंडियं।
मूलियं ते पवेसंति माणुसं जोणिमेंति जे।।
वेमायाहिं सिक्खहिं जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेंति माणुसं जोणिं कम्मसच्चाहु पाणिणो।। (सू० ७ : १६-२०)

इस प्रकार हारे हुए को देखकर तथा बाल और पण्डित भाव को तोलकर जो मानुषी योनि में आते हैं, वे मूल के साथ प्रवेश करते हैं।

जो नर कम-अधिक शिक्षाओं द्वारा गृहवास में भी सुव्रती हैं, वे मानवीय योनि को प्राप्त करते हैं। प्राणी के कृत्य हमेशा सत्य होते हैं। उनका फल मिलता ही है।

७. जहा कुसग्गे उदगं समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अंतिए।।
जेसिं तु विउला सिक्खा मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवंता सविसेसा अद्दीणा जंति देवयं।। (सू० ७ : २३, २१)

जैसे कुश के अग्रभाग पर रहा हुआ जल-बिन्दु समुद्र की तुलना में नगण्य होता है, उसी तरह मनुष्य के कामभोग देवों के कामभोगों के सामने नगण्य होते हैं। जिन जीवों की शिक्षाएँ विपुल हैं, वे मूल पूँजी को अतिक्रान्त कर जाते हैं। जो विशेष रूप से शील और सदाचार से युक्त होते हैं, वे पराक्रमी पुरुष लाभ रूप देवगति को प्राप्त करते हैं।

८. एवमद्दीणवं भिक्खुं अगारिं च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं जिच्चमाणे न संविदे ?।। (उ० ७ : २२)

इस प्रकार पराक्रमी भिक्षु और गृहस्थ (के गुणों) को जानकर विवेकी पुरुष ऐसे लाभ को कैसे खोयेगा ? वह कषाय से पराजित होता हुआ क्या यह नहीं जानता कि 'मैं पराजित हो रहा हूँ ?' यह जानते हुए उसे परजित नहीं होना चाहिए।

(३) जुआरी

९. कुजए अपराजिए जहा अक्खेहिं कुसलेहिं दीव्यं।
कडमेव गहाय णो कलिं णो तेयं णो चेव दावरं।।
एवं लोगम्मि ताइणा बुइए जे धम्मे अणुत्तरे।
तं गिण्ह हियं ति उत्तमं कडमिव सेसऽवहाय पंडिए।।
(सू० १ (२) २: २३-२४)

निपुण जुआरी 'कृत' नामक स्थान को ही ग्रहण करता है, 'कलि', 'द्वापर' और 'त्रेता' को नहीं और पराजित नहीं होता, वैसे ही पण्डित इस लोक में जगत्राता सर्वज्ञों ने जो उत्तम और अनुत्तर धर्म कहा है, उसे ही अपने हित के लिए ग्रहण करे। पण्डित इन्द्रिय-विषयों को छोड़ दे, जैसे कुशल जुआरी 'कृत' के सिवा अन्य स्थानों को छोड़ता है।

: १५ :

समाधि

१. चतुः समाधि

१. विणए सुए अ तवे आयारे निच्चं पंडिया।
अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया।। (द० ६ (४) : १)

जो जितेन्द्रिय होते हैं वे पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को सदा विनय, श्रुत, तप और आचार में लीन किए रहते हैं।

२. पेहेइ हियाणुसासणं सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठए।
न य माणमएण मज्जइ विणयसमाही आयट्ठिए।।
(द० ६ (४) : २)

मोक्षार्थी हितानुशासन की अभिलाषा करता है—एसे सुनना चाहता है, शुश्रूषा करता है—अनुशासन को सम्यग् रूप से ग्रहण करता है, अनुशासन के अनुकूल आचरण करता है और मैं विनय-समाधि में कुशल हूं—इस प्रकार गर्व के उन्माद से उन्मत्त नहीं होता।

३. नाणमेगग्गचित्तो य ठिओ ठावयई परं।
सुयाणि य अहिज्जित्ता रओ सुयसमाहिए।। (द० ६ (४) : ३)

अध्ययन के द्वारा ज्ञान होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, मनुष्य धर्म में स्थित होता है और दूसरों को स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुत-समाधि में रत हो जाता है।

४. विविहगुणतवोरए य निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं जुत्तो सया तवसमाहिए।।
(द० ६ (४) : ४)

सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुमुक्षु पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है। वह तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप-समाधि में सदा युक्त हो जाता है।

५. जिणवयणरए अतिंतिणे पडिपुण्णाययमाययट्ठिए।
आयारसमाहिसंवुडे भवइ य दंते भावसंधए।। (द० ६ (४) ५)

जो जिन-वचनों में रत होता है, जो बकवास नहीं करता, जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है, जो अत्यन्त मोक्षार्थी होता है, वह आचार-समाधि के द्वारा संवृत होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला तथा मोक्ष को निकट करने वाला होता है।

६. अभिगम चउरो समाहिओ सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।
विउलहियसुहावहं पुणो कुव्वइ सो पयखेममप्पणो।।
(द० ६ (४) : ६)

जो समाधियों को जानकर सुविशुद्ध और सुसमाहित चित्त वाला होता है, वह अपने लिए विपुल हितकर और सुखकर मोक्षस्थान को प्राप्त करता है।

७. जाइमरणाओ मुच्चई इत्थंथं च चयइ सव्वसो।
सिद्धे वा भवइ सासए देवे वा अप्परए महिड्ढिए।।
(द० ६ (४) : ७)

वह जन्म-मरण से मुक्त होता है, नरक आदि अवस्थाओं को पूर्णतः त्याग देता है। इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध होता है अथवा अल्प कर्म वाला महर्द्धिक देव।

२. स्वाध्याय

१. सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तह पमाददोसेण[1]।। (मू० ६७१)

जैसे प्रमाददोष से कूड़े में गिरी हुई सूत्र सहित सूई गुम नहीं होती (खोजने पर मिल जाती है), उसी तरह शास्त्र-स्वाध्याय से युक्त पुरुष प्रमाददोष से स्खलित होने पर भी नष्ट नहीं होता (जागृत होते ही आत्म-स्वरूप को पा लेता है)।

२. पूजादिसु णिरवेक्खो जिण-सत्थं जो पढेइ भत्तीए।
कम्म-मल-सोहणट्ठं सुय-लाहो सुह-यरो तस्स।। (द्वा०अ० ४६२)

जो अपनी पूजा आदि की कामना से निरपेक्ष रह कर्म रूपी मैल का नाश करने के लिए भक्तिपूर्वक जिन-शास्त्र का अध्ययन करता है उसके सुखकारी श्रुत का लाभ होता है।

---

१. उत्त० २६ : ५६

जहा सुई ससुत्ता पडिंवावि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ।।

३. जो जिए-सत्थं सेवदि पंडिय-माणी फलं समीहंतो।
साहम्मिय-पडिकूलो सत्थं पि विसं हवे तस्स।।(द्वा० अ० ४६३)

जो अपनी पूजा, सत्कार आदि फल की कामना करता हुआ जिन-शास्त्र पढ़ता है, साधर्मी के प्रतिकूल आचरण करता है वह पण्डित न होने पर भी अपने को पण्डित मानने वाला है। उसके लिए वह शास्त्र का अध्ययन विषरूप परिणमन करता है।

४. जो जुद्ध-काम-सत्थं रायदोसेहिं परिणदो पढइ।
लोयावंचण-हेदुं सज्झाओ णिप्फलो तस्स।। (द्वा० अ० ४६४)

राग-द्वेष के परिणाम से जो मनुष्य लोगों को ठगने के लिए युद्धशास्त्र और काम-शास्त्र को पढ़ता है, उसका स्वाध्याय निष्फल है।

५. जो अप्पाणं जाणदि असुइ-सरीरादु तच्चदो भिण्णं।
जाणग-रूव-सरूवं सो सत्थं जाणदे सव्वं।।(द्वा० अ० ४६५)

जो पुरुष अपनी आत्मा को अशुचि शरीर से तत्त्वतः भिन्न ज्ञायक-स्वरूप जानता है वह सब शास्त्रों को जानता है।

६. जो णवि जाणदि अप्पं णाण-सरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं आगम-पाठं कुणंतो वि।।(द्वा० अ० ४६६)

जो अपनी आत्मा को ज्ञान स्वरूप और शरीर से भिन्न नहीं जानता वह आगम का पाठ करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता।

७. सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू[1]।। (मू० ४१०)

जो पुरुष स्वाध्याय करता है, वह पाँचों इन्द्रियों से संवृत, तीन गुप्तियों से गुप्त तथा एकाग्रचित्त हो विनय से समाहित होता है।

८. विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।। (मू० २८६)

विनय से अध्ययन किया हुआ श्रुत किसी समय प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो अन्य जनम में स्मरण हो जाता है और क्रमशः केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

९. आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो य संवेगो।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च।। (भग० आ० १००)

---

१. मू० ६६६; भग० आ० १०४।

स्वाध्याय से आत्महित का ज्ञान, बुरे भावों का सवरण, नित्य नया संवेग, चारित्र में निश्चलता, तप, उत्तम भाव और परोपदेशकता—ये गुण उत्पन्न होते हैं।

१०. बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवोकम्मं।।[1]
(भग० आ० १०७)

कुशल पुरुष द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्य भेद वाले बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तपकर्म न तो है और न होगा।

११. इहलोगपारत्तहियं जेणं गच्छइ सोग्गइं।
बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा पुच्छेज्जत्थ विणिच्छयं।। (द० ८ : ४३)

जिनके द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के पश्चात् सुगति प्राप्त होती है, उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य बहुश्रुत की पर्युपासना करे और अर्थ विनिश्चय के लिए प्रश्न करे।

१२. सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेयहियं च तहा जो जाणइ सो हु सुद्दिट्ठी।। (सू० पा० ५)

जो मनुष्य जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए सूत्र में वर्णित जीव आदि अनेक पदार्थों को तथा हेय और उपादेय को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

१३. जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।[2] (द० पा० १७)

यह जिनवचन औषधिरूप है। विषय सुखों का विरेचन करने वाला है। अमृत के समान है। जरा-मरण रूपी व्याधि का हरण करने वाला और सर्व दुःखों का क्षय करने वाला है।

१४. बालमरणाणि बहुसो अकाममरणाणि चेव य बहूणि।
मरिहिंति ते वराया जिणवयणं जे न जाणंति।।(उ० ३६ : २६१)

जो प्राणी जिन-वचनों से परिचित नहीं हैं, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाम-मरण करते रहेंगे।

१५. जिणवयणणिच्छिदमदी अवि मरणं अब्भुवेंति सप्पुरिसा।
ण य इच्छंति अकिरियं जिणवयणवदिक्कमं कादुं।। (मू० ८४२)

जिनकी बुद्धि जिन-वचनों में निश्चित है ऐसे सत्पुरुष मरण की इच्छा कर लेते हैं परन्तु जिन-वचन का उल्लंघन कर कभी भी बुरा काम नहीं करना चाहते।

---

१. मू० ४०६।

२. मू० ६५, ८४१।

३. तप

१. बारस-भेओ भणिओ णिज्जर-हेऊ तवो समासेण।
तस्स पयारा एदे भणिज्जमाणा मुणेयव्वा।। (द्वा० अ० ४३८)

कर्म-निर्जरा का हेतु तप संक्षेप में बारह प्रकार का कहा गया है। उसके भेद जो अब कहे जायेंगे, उन्हें जानना चाहिए।

२. जो मण-इंदिय-विजई इह-भव-परलोय-सोक्ख-णिखेक्खो।
अप्पाणे विय णिवसइ सज्झाय-परायणो होदि।।
(द्वा० अ० ४४०)

जो मन और इन्द्रियों को जीतने वाला है, इहलोक और परलोक के विषय सुखों की अपेक्षा-रहित है, जो आत्म-स्वरूप में वास करता है तथा स्वाध्याय में तत्पर हे, उसके अनशन तप होता है।

३. कम्माण णिज्जरट्ठं आहारं परिहरेइ लीलाए।
एग-दिणादि-पमाणं तस्स तवं अणसणं होदि।। (द्वा० अ० ४४१)

एक दिन आदि की मर्यादा से कर्मों की निर्जरा के लिए क्रीड़ा की तरह आहार को छोड़ता है, उसके अनशन तप होता है।

४. बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
एगकवलादिहिं ततो ऊणियगहणं उमोदरियं।। (मू० ३५०)

पुरुष का स्वाभाविक आहार बत्तीस कवल—ग्रास प्रमाण होता है। उनमें से एक कवल आदि का कम करना अवमौदर्य तप है।

५. धम्मावासयजोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि।
ण य इदियप्पदोसयरी उमोदरितवोवुत्ती।। (मू० ३५१)

धर्म, आवश्यक, योग, ज्ञानादि में अवमौदर्य तप की वृत्ति उपकार करती है और इन्द्रियों को स्वेच्छाचारी नहीं होने देती।

६. गोयरपमाण दायगभायणणाणाविधाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविधस्स वुत्तिपरिसंखा।। (मू० ३५५)

गृहों का प्रमाण तथा दाता, पात्र, भोजन आदि के अनेक तरह के विकल्प कर अशन आदि का ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्या[1] तप है।

---

१. इस तप का नाम भिक्षाचर्या भी है और वृत्तिसंक्षेप भी।

७. खीरदहिसप्पिमाई पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु भणियं रसविवज्जणं।।[1] (उ० ३० : २६)

दूध, दही, घृत आदि तथा प्रणीत पान-भोजन और रसों के वर्जन को रस-विवर्जन तप कहा जाता है।

८. संसार-दुक्ख-तट्ठो विस-समयं-विसयं विचिंतमाणो जो।
णीरस-भोज्जं भुंजइ रस-चाओ तस्स सुविसुद्धो।। (द्वा० अ० ४४६)

जो संसार के दुःख से तप्त होकर विषयों को विष के समान सोचता हुआ नीरस भोजन करता है, उसके निर्मल रस-त्याग तप होता है।

९. ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जंति कायकिलेसं तमाहियं।।[2] (उ० ३० : २७)

आत्मा के लिए सुखावह वीरासन आदि उत्कट आसनों का जो अभ्यास किया जाता है, उसे कायक्लेश तप कहा जाता है।

१०. दुस्सह-उवसग्ग-जई आतावण-सीय-वाया-खिण्णो वि।
जो णवि खेदं गच्छदि कायकिलेसो तवो तस्स।।
(द्वा० अ० ४५०)

जो दुःसह उपसर्गों को जीतने वाला होता है, आतप, शीत और वात-पीडित होकर भी चित्त में खेद नहीं करता, उसके कायक्लेश तप होता है।

११. एगंतमणावाए इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया विवित्तसयणासणं।। (उ० ३० : २८)

एकान्त, अनापात (जहाँ कोई आता-जाता न हो) और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करना विविक्त शयनासन (संलीनता) तप है।

१२. जो राय-दोस-हेदू आसण-सिज्जादियं परिच्चयइ।
अप्पा णिव्विसय सया तस्स तवो पंचमो परमो।। (द्वा० अ० ४४७)

जो रागद्वेष के हेतु आसन, शय्या आदि का परित्याग करता है तथा सदा अपने आत्मस्वरूप में रहता है, उसके उत्कृष्ट विविक्त शय्यासन तप होता है।

१३. पूजादिसु णि रवेक्खो संसार-सरीर-भोग-णिव्विण्णो।
अब्भंतर-तव-कुसलो उवसम-सीलो महासंतो।।
(द्वा० अ० ४४८)

---

१. मिलावें मू० ३५२।

२. मिलावें मू० ३५६।

जो पूजा आदि में निरपेक्ष है, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है, अभ्यंतर तपों में कुशल है, उपशमशील है तथा महापराक्रमी है और एकान्तवास करता है, उसके विविक्त शय्यासन तप होता है।

१४. सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि।
जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते।। (मू० ३५८)

वही बाह्य तप है, जिससे कि चित्त में दुष्कृत उत्पन्न न हो, जिससे श्रद्धा उत्पन्न हो और जिससे योगों (मूल गुणों) में कमी न हो।

१५. णिद्दाजओ य दढझाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो।
सज्झायजोगणिव्विग्घदा य सुहदुक्खसमदा य।।
देहस्स लाघवं णेहलूहणं उवसमो तहा परमो।
जवणहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा।।
(भग० आ० २४१, २४४)

निद्रा-जय, ध्यान का दृढ़ होना, मुक्ति (त्याग), दर्प का नाश, स्वाध्याय-योग में निर्विघ्नता और सुख-दुःख मे समता तथा शरीर का हल्कापन, स्नेह का नाश, परम उपशम, यात्रामात्र आहार और संतोष—ये सब तप द्वारा संभव गुण हैं।

१६. एसो दु बाहिरतवो बाहिरजणपायडो परम घोरो।
अब्भंतरजणणादं वोच्छं अब्भंतरं वि तवं।। (मू० ३५६)

यह छह प्रकार का बाह्य तप है जो बाह्यजनों को भी प्रगट है जो अत्यन्त घोर है। और जो आगम में प्रवेश करनेवाले ज्ञानी जनों को ज्ञात है वह आभ्यंतर तप है।

१७. पायच्छित्तं ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्तं दसविहं तु।। (मू० ३६१)

व्रत मे लगे हुए दोषों को प्राप्त हुआ पुरुष जिससे पूर्व किये हुए पापों से निर्दोष हो जाता है, वह प्रायश्चित्त तप है। उसके आलोचन आदि दस भेद हैं।

१८. अह कह वि पमादेण व दोसो जदि एदि तं पि पयडेदि।
णिद्दोस-साहु-मूले दस-दोस-विवज्जिदो-होदुं।।
(द्वा० अ० ४५२)

यदि किसी भी प्रमाद से अपने चारित्र में दोष आया हो तो आत्मार्थी उसको निर्दोष साधु के पास दस दोषों से रहित होकर प्रगट करे।

१९. जं किं पि तेण दिण्णं तं सव्वं सो करेदि सद्धाए।
णो पुण हियए संकदि किं थोवं किं पि बहुवं वा।।
(द्वा० अ० ४५३)

दोषों की आलोचना करने पर आचार्य ने जो कुछ प्रायश्चित्त दिया हो आत्मार्थी उस सबको श्रद्धापूर्वक करता है और हृदय में ऐसी शंका नहीं करता है कि प्रायश्चित्त दिया वह थोड़ा है या बहुत है।

२०. पुणरवि काउं णेच्छदि तं दोसं जइ वि जाइ सय-खंडं।
एवं णिच्चय-सहिदो पायच्छित्तं तवो होदि।।
(द्वा० अ० ४५४)

अपने सौ खंड भी हो जायँ तो भी लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त ले लेने के बाद उसे पुनः नहीं करना चाहता। इस प्रकार के निश्चय वाले पुरुष के प्रायश्चित्त नामक तप होता है।

२१. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा विणओ एस विगाहिओ।। (उ० ३० : ३२)

खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना तथा गुरुजनों की भक्ति और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय कहलाता है।

२२. दंसणणाणे विणओ चरित्ततव ओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ।। (मू० ३६४)

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपोविनय, उपचारविनय—इस तरह विनय के पाँच भेद हैं। यह विनय मोक्ष गति को प्राप्त करानेवाला कहा गया है।

२३. दंसण-णाण-चरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो।
बारस-भेदे वि तवे सो च्चिय विणओ हवे तेसिं।। (द्वा० अ० ४५७)

दर्शन में, ज्ञान में, चारित्र में और बारह प्रकार के तप में जो अति विशुद्ध परिणाम होता है वही उनका विनय है।

२४. रयण-त्तय-जुत्ताणं अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए।
भिच्चो जह रायाणं उवयारो सो हवे विणओ।। (द्वा० अ० ४५८)

रत्नत्रय के धारक पुरुषों के प्रति शिष्य जो भक्तिपूर्वक अनुकूल आचरण करता है जैसे भृत्य राजा के प्रति,, वह उपचार विनय है।

२५. आयरियमाइयम्मि य वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवणं जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं।। (उ० ३० : ३३)

आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार के वैयावृत्त्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्त्य कहा जाता है।

२६. जो उवयरदि जदीणं उवसग्ग-जराइ-कायाणं।
पूजादिसु णिरवेक्खं वेज्जावच्चं तवो तस्स।। (द्वा० अ० ४५६)

जो अपनी पूजा आदि की अपेक्षा न रखता हुआ उपसर्ग तथा वृद्धावस्था आदि से क्षीणकाय यतियों का उपचार करता है उसके वैयावृत्त्य तप होता है।

२७. जो वावरइ सरूवे सम-दम-भावम्मि सुद्ध-उवजुत्तो।
लोय-ववहार-विरदो वेयावच्चं परं तस्स।। (द्वा० अ० ४६०)

जो लोक-व्यवहार से विरक्त होकर शम-दम-भावरूप अपने आत्मस्वरूप में शुद्धोपयोगमय प्रवृत्ति करता है, उसके उत्कृष्ट वैयावृत्त्य होता है।

२८. वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे।।[1] (उ० ३० : ३४)

स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है—वाचना (अध्यापन), पृच्छना (अर्थ को दूसरों से पूछना), परिवर्तना (पाठ करना), अनुप्रेक्षा (अर्थचिन्तन) और धर्मकथा।

२९. गुणपरिणामो सद्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य।
संधाणं तवपूया अव्वोच्छित्ती समाधी य।। (भग० आ० ३०६)

वैयावृत्त्य से गुणग्राह्यता, श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य, सद्पात्र की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्वादि गुणों का पुनः संधान, तप, पूज्यता, तीर्थ की अव्युच्छित्ति, समाधि आदि गुणों की प्राप्ति होती है।

३०. पर-तत्ती-णिरवेक्खो दुट्ठावियप्पाण णासण-समत्थो।
तच्च-विणिच्चय-हेदू सज्झाओ, झाण-सिद्धियरो।। (द्वा० अ० ४६१)

स्वाध्याय दूसरों की निंदा में निरपेक्ष, मन के दुष्ट विकल्पों का नाश करने में समर्थ, तत्त्व के विनिश्चय का हेतु और ध्यान की सिद्धि करनेवाला होता है।

३१. बारसविधम्मिवि तदे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमो तवोकम्मं।। (मू० ४०६)

कुशल पुरुष द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्य भेदवाले बारह तपों में स्वाध्याय तप के समान दूसरा कोई भी न तो है और न होगा।

३२. अंतो-मुहुत्त-मेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।
झाणं भण्णदि समए असुहं च सुहं च तं दुविहं।। (द्वा० अ० ४७०)

जो मन-संबंधी ज्ञान वस्तु में अंतर्मुहूर्तमात्र लीन होता है, वह सिद्धांत में ध्यान कहा गया है। वह शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है।

---

१. मिलावें मू० ३६३।

३३. अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णयाणि।। (मू० ३९४)

आर्त और रौद्र ये दो ध्यान अशुभ हैं तथा धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान शुभ हैं, ऐसा जानना चाहिए।

३४. अमणुण्णजोगेइट्ठविओगपरीसहणिदाणकरणेसु।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणिदं समासेण।। (मू० ३९५)

अप्रिय वस्तु के संयोग होने पर, इष्ट वस्तु के वियोग होने पर, परीषहों के उत्पन्न होने पर, निदान (परलोक संबंधी भोगों की वांछा) के होने पर कषाय सहित मन का व्यथित होना—इसे संक्षेप में आर्तध्यान कहा गया है।

३५. तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रुद्दंकसायसहिदं झाणं भणियं समासेण।। (मू० ३९६)

चोरी, मृषा, स्वधन-संरक्षण और छहकाय के जीवों के आरंभ में कषाय-सहित मन का आनंदित होना—इसे संक्षेप में रौद्र ध्यान कहा है।

३६. अपहट्ट अट्टरुद्दे महाभए सुग्गदीयपच्चूहे।
धम्मे वा सुक्के वा होहि समण्णागदमदीओ।। (मू० ३९७)

आर्त और रौद्र ये दो ध्यान महाभय के हेतु और सुगति को रोकने वाले हैं। इसलिए इन दोनों का त्यागकर तू धर्मध्यान और शुक्लध्यान— इन दो ध्यानों में बुद्धि कर।

३७. दुविहो य विउस्सगो अब्भंतर बाहिरो मुणेयव्वो।
अब्भंतर कोहादी बाहिर खेत्तादियं दव्वं।। (मू० ४०६)

व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का होता है—अभ्यन्तर और बाह्य। क्रोधादि का त्याग अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है और क्षेत्रादि द्रव्यों का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है।

३८. सयणासणठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ।। (उ० ३० : ३६)

सोने, बैठने या खड़े होने के समय जो व्यापृत नहीं होता (काया को नहीं हिलाता-डुलाता) उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता हैं। यह अभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है।

३९. ससरूव-चिंतण-रओ दुज्जण-सुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तवो तस्स।।
(द्वा० अ० ४६८)

जो आत्मस्वरूप के चिन्तन में रत होता है, दुर्जन-सज्जन में मध्यस्थ होता है, अपने शरीर के प्रति भी ममत्व-रहित होता है, उसके कायोत्सर्ग तप होता है।

४०. जो देह-धारण-परो उवयरणादी-विसेस-संसत्तो।
बाहिर-ववहार-रओ काओसग्गो कुदो तस्स।। (द्वा०अ० ४६६)

जो देह-पालन में परायण होता है, उपकरणादि में विशेष संयुक्त होता है और बाह्य व्यवहार करने में रत होता है उसके कायेत्सर्ग तप कैसे हो सकता है ?

४१. अब्भंतरसोहणओ एसो अब्भंतरो तओ भणिओ। (मू० ४१२, क, ख)

अन्तरंग को शुद्ध करनेवाला यह अभ्यन्तर तप कहा है।

४२. एसो बारस-भेओ उग्ग-तवो जो चरेदि उवजुत्तो।
सो खविय कम्म-पुंजं मुत्ति-सुहं अक्खयं लहइ।। (द्वा० अ० ४८८)

यह बारह प्राकर का तप है। जो उपयोग सहित इस उग्र तप का आचरण करता है, वह पुरुष कर्म-पुञ्ज का क्षय कर अक्षय मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

४३. सो हु तवो कायव्वो जेण मणो मंगुलं न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा ण हायंति।।
(महा० नि० चू० १ : १४)

वही तप करना चाहिए जिससे मन अमंगल विचार न करने लगे, जिससे इन्द्रियों की हानि न हो और जिससे योग शिथिल न हों।

४४. होइ सुतवो य दीओ अण्णाणतमंधयारचारिस्स।
सव्वावत्थासु तओ वढ्ढदि य पिदा व पुरिस्स।। (भग०आ० १४६६)

ज्ञानरूपी अंधकार में चलनेवाले लोगों के लिए सुआचरित तप दीपक के समान होता है। तप सभी अवस्थाओं में मनुष्य के साथ पिता के समान व्यवहार करता है।

४५. धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा।
सुज्झइ तवग्गिधंतो तह जीवो कम्मधादुगदो।।
(भग० आ० १८५३)

जैसे धातुगत सुवर्ण महान् अग्नि से तपाया जाने पर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार कर्म-धातुगत जीव तपरूपी अग्नि द्वारा तपाया जाने पर शुद्ध हो जाता है।

४६. डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगंपि तणरासी।
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुबहुगंपि।।(भग० आ० १८५१)

जैसे अग्नि बहुत सारी तृणराशि को भी जलाकर विध्वंस कर देती है वैसे ही तापाग्नि बहुत सारे कर्म-तृणों को विध्वंस कर देती है।

४. ध्यान

(१)

१. चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो थ आउंजणा य जो होई।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतरस्स।।
(भग० आ० १०)

शठ्य का परिहार कर आचरण करनेवाले मनुष्य का उस आचरण में जो उद्यम और उपयोग होता है, उसे ही जिन भगवान ने तप कहा है।

२. असुहं अट्ट-रउद्दं धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि।
अट्टं तिव्व-कसायं तिव्व-तम-कसायदो रुद्दं।। (द्वा० अ० ४७१)

आर्त और रौद्र—ये दोनों ध्यान अशुभ ध्यान हैं तथा धर्म और शुक्ल ये दोनों क्रमशः शुभ और शुभतर ध्यान हैं। इनमें आदि का आर्तध्यान तीव्र कषाय से होता है और रौद्रध्यान तीव्रतम कषाय से।

३. मंद-कषायं धम्मं मंद-तम-कसायदो हवे सुक्कं।
अकसाए वि सुयड्ढे केवल-णाणे वि तं होदि।। (द्वा० अ० ४७२)

धर्मध्यान मन्दकषाय वाले के होता है और शुक्लध्यान मंदतम कषायवाले के। यह शुक्लध्यान कषायरहित श्रुतज्ञानी तथा केवलज्ञानी के भी होता है।

४. दुक्खयर-विसय-जोए केण इमं चयदि इदि विचिंतंतो।
चेट्ठदि जो विक्खित्तो अट्टं-ज्झाणं हवे तस्स।।(द्वा० अ० ४७३)

जो पुरुष दुःखकारी विषय का संयोग होने पर ऐसा चिंतन करता है कि यह कैसे दूर हो और विक्षिप्तचित्त होकर (रुदनादि) चेष्टा करता है उसके आर्तध्यान होता है।

५. मणहर-विसय-वियोग कह तं पावेमि इहि वियप्पो जो।
संतावेण पयट्टो सो च्चिय अट्टं हवे झाणं।।
(द्वा० अ० ४७४)

जो मनोहर विषय के वियोग होने पर ऐसा चिंत्तन करता है कि उसको कैसे पाऊँ और संताप रूप प्रवृत्ति करता है उसके भी आर्तध्यान होता है।।

६. हिंसाणंदेण जुदो असच्च-वयणेण परिणदो जो हु।
तत्थेव अथिर-चित्तो रुद्दं झाणं हवे तस्स।। (द्वा० अ० ४७५)

जो पुरुष हिंसा में आनन्दयुक्त होता है, असत्यवचन में प्रवृत्ति करता है और उन्हीं में अस्थिर चित्त रहता है उसके रौद्रध्यान होता है।

७. पर-विसय-हरण-सीलो सगीय-विसए सुरक्खणे दक्खो।
तग्गय-चिंताविट्ठो णिरंतरं तं पि रुद्दं पि।।
(द्वा० अ० ४७६)

जो पुरुष दूसरे की विषय-सामग्री को हरण करने के स्वभाव से संयुक्त हो, अपनी विषय-सामग्री की रक्षा करने में दक्ष हो, इन दोनों कार्यों में चित्त को निरंतर लवलीन रखता हो उस पुरुष के यह रौद्रध्यान ही है।

८. बिण्णि वि असुहे झाणे पाव-णिहाणे य दुक्खं-संताणे।
णच्चा दूरे वज्जह धम्मे पुण आयरं कुणह।।
(द्वा० अ० ४७७)

आर्त और रौद्र ये दोनों ही ध्यान अशुभ हैं। इन्हें पाप का निधान और दुःख की सन्तति—परम्परा करनेवाला जानकर दूर ही से छोड़ो और धर्मध्यान में आचरण करो।

९. धंम्मो वत्थु-सहावो खमादि-भावो य दस-विहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।
(द्वा० अ० ४७८)

वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमादि भाव दशविध धर्म हैं। रत्नत्रय धर्म है। जीवों की रक्षा—अहिंसा धर्म है।

१०. धम्मे एयग्ग-मणो जो ण वि वेदेदि पंचहा-विसयं।
वेरग्ग-मओ णाणी धम्मज्झाणं हवे तस्स।। (द्वा० अ० ४७९)

जो धर्म में एकाग्रमन होता है, इन्द्रियों के पाँच प्रकार के विषयों का रसास्वादन नहीं करता और वैरागी होता है उस ज्ञानी के धर्मध्यान होता है।

११. सुविसुद्ध-राय-दोसो बाहिर-संकप्प-वाज्जिओ धीरो।
एयग्ग-मणो संतो जं चिंतइ तं पि सुह-झाणं।।(द्वा० अ० ४८०)

रागद्वेष से रहित शुद्ध मनुष्य बाह्य संकल्प से दूर होकर एकाग्र मन से जो चिन्तन करता है वह भी शुभ ध्यान है।

१२. स-सरूव-समुब्भासो णट्ठ-ममत्तो जिदिंदिओ संतो।
अप्पाणं चिंतंतो सुह-ज्झाणं-रओ हवे साहू।। (द्वा० अ० ४८१)

जिसे अपने स्वरूप का समुद्भास हो गया हो, जिसका पर-द्रव्य में ममत्व नष्ट हो गया हो, जो जितेन्द्रिय हो और अपनी आत्मा का चिन्तन करता हो वह शुभ ध्यान में लीन होता है।

१३. वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्प-सरूवे मणं णिरंधंतो।
जं चिंतदि साणंदं त धम्मं उत्तमं ज्झाणं।। (द्वा० अ० ४८२)

जो समस्त अन्य विकल्पों को छोड़कर आत्मस्वरूप में मन को रोककर आनन्द सहित चिंतन किया जाता है, वह उत्तम धर्मध्यान है।

१४. जत्थ गुणा सुविसुद्धा उवसम-खमणं च जत्थ कम्माणं।
लेसा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे झाणं।।
(द्वा० अ० ४८३)

जहाँ अत्यन्त विशुद्ध गुण हों, जहाँ कर्मों का उपशम तथा क्षय हो और जहाँ लेश्या भी शुक्ल ही हो उसको शुक्ल ध्यान कहते हैं।

१५. झाणं-कसायपरचक्कभए बलवाहणढ्ढओ राया।
परचक्कभए बलवाहणढ्ढओ होइ जह राया।। (भग० आ० १६००)

कषायरूप परचक्र का भय होने पर ध्यान वैसा ही है जैसा कि परचक्र का भय होने पर सैन्य और वाहन से दृढ़ राजा।

१६. झाणं विसयछुहाए य होइ अण्णं जहा छुहाए वा।
झाणं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए।।
(भग० आ० १६०२)

जैसे क्षुधा को नष्ट करने के लिए अन्न होता है तथा जिस तरह प्यास को नष्ट करने के लिए जल होता है वैसे ही विषयों की भूख तथा प्यास को नष्ट करने के लिए ध्यान है।

१७. झाणं-कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिंछिदे कुसलो।
रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिंछिदे कुसलो।।
(भग० आ० १६०१)

जैसे मनुष्य के रोगों की चिकित्सा करने में वैद्य कुशल होता है वैसे ही कषायरूपी रोगों की चिकित्सा करने में ध्यान कुशल होता है।

१८. झाणं किलेससावदरक्खा रक्खाव सावदभयम्मि।
झाणं किलेसवसणे मित्तं मित्तंव वसणम्मि।। (भग० आ० १८६७)

जैसे श्वापदों का भय होने पर रक्षक का और संकटों में मित्र का महत्त्व होता है वैसे ही संक्लेश परिणाम-रूप व्यवसनों के समय ध्यान मित्र के समान है।

१६. झाणं कसायवादे गम्भघरं मारुदेव गम्भघरं।
झाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि।। (भग० आ० १८६८)

जैसे हवा को रोकने के लिए गर्भगृह होता है वैसे ही कषायरूपी हवा को रोकने के लिए ध्यान है और जैसे गर्मी के लिए छाया होती है वैसे ही कषायरूपी गर्मी को नष्ट करने के लिए ध्यान है।

१०. वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गंधेसु।
वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स।।
(भग० आ० १८९६)

रत्नों में वज्र (हीरा) की तरह, गंध द्रव्यों में गोशीर्ष चंदन की तरह और मणियों में वैदूर्य मणि की तरह ध्यान क्षपक के लिए दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपों में सार-भूत है।

२१. झाणं कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि।
झाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि।।
(भग० आ० १८९६)

जैसे अग्नि पदार्थों को जलाने में समर्थ होती है, वैसे ही कषाय को जलाने में ध्यान श्रेष्ठ है। जैसे शीत को विनाश करने में आग समर्थ है, वैसे ही कषायरूपी शीत को नष्ट करने में ध्यान है।

(२०)

२२. पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं समा कुणह।। (मो० पा० ३३)

तू पाँच महाव्रतों को धारण कर, पाँच समिति, तीन गुप्ति और रत्नत्रय से संयुक्त होकर सदा ध्यान और स्वाध्याय किया कर।

२३. चरियावरिया वद-समिदि-वज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा।
केई जंपति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स।।(मो० पा० ७३)

जिन्होंने कभी चारित्र का आचरण नहीं किया, जो व्रतों और समितियों से दूर है तथा शुद्ध भावों से भ्रष्ट है, ऐसे कुछ लोग कहते हैं कि यह काल ध्यानयोग के योग्य नहीं है।

२४. भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणि।। (मो० पा० ७६)

भरत क्षेत्र में इस पंचम काल में भी साधु के धर्मध्यान होता है, किन्तु यह धर्मध्यान उसी साधु के होता है, जो आत्म-स्वभाव में स्थित है। जो ऐसा नहीं मानता वह भी अज्ञानी है।

२५. सव्वे कसाय मोत्तुं गारव-मय-राय-दोस-वामोहं।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो।। (मो० पा० २७)

ध्यान में बैठे हुए पुरुष को सब कषायों को तथा गौरव, मद, राग, द्वेष और व्यामोह को छोड़कर तथा लोक-व्यवहार से विरत होकर आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

२६. वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।। (नि० सा० १२२)

जो वचन-उच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करता है, उसके परम समाधि होती है।

२७. संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परससमाही हवे तस्स।। (नि० सा० १२३)

जो संयम, नियम और तप से संयुक्त हो, धर्म और शुक्ल ध्यान के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है, उसके परम-समाधि होती है।

५. निष्पत्ति

१. तवं चिमं संजमजोगयं च सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाए समत्तमा उहे अलमप्पणो होइ अलं परेसिं।।
(द० ८ : ६१)

जो तप, संयम-योग और स्वाध्याय-योग में प्रवृत्त रहता है, वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर।

२. सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई जं सि मलं पुरेकडं समीरियं रुप्पमलं व जोइणा।।
(द० ८ : ६२)

स्वाध्याय और सद्ध्यान में लीन, त्राता, निष्पाप मनवाले और तप में रत साधक का पूर्व संचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाये हुए सोने का मल।

३. से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमा।।
(द० ८ : ६३)

जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त हैं, दुःखों को सहन करनेवाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, मानव-रहित और अकिंचन है, वह कर्मरूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्र-पटल से वियुक्त चन्द्रमा।

४. खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो तवे रयासंजम अज्जवे गुणे।
धुणति पावाइं पुरेकिडाइं नवाइ पावाइं न ते करेंति।।
(द० ६ : ६७)

अमोहदर्शी, तप, संयम और ऋजुतारूप गुण में पुरुष शरीर को कृश कर देते हैं। वे पुराकृत पाप का नाश करते हैं और नये पाप नहीं करते।

५. सओवसंता अममा अकिंचणा सविज्जविज्जाणुगया जससिणो।
उउप्सन्ने विमले च चंदिमा सिद्धिं विमाणाइ उवेंति ताइणो।।
(द० ६ : ६८)

सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिंचन, आत्म-विद्यायुक्त, यशस्वी और त्राता पुरुष शरद ऋतु के चन्द्रमा की तरह मलरहित होकर सिद्धि या सौधर्मावतंसक आदि विमानों को प्राप्त करते हैं।

: १६ :

पाप-विरति

१. पाप

१. सीहं जहा खुद्दमिगा चरंता दूरे चरंती परिसंकमाणा।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं दूरेण पावं परिवज्जएज्जा।।
(सू० १,१० : २०)

जैसे अटवी में विचरण करते हुए हिरणादि क्षुद्र प्राणी संशंकित रहते हुए सिंह को दूर ही से टालकर विचरते हैं, वैसे ही मेधावी पुरुष धर्म की समीक्षा कर पाप को दूर ही से छोड़ दे।

२. पाणाइवायमलियं चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं।
कोहं माणं मायं लोभं पिज्जं तहा दोसं।।
कलहं अब्भक्खाणं पेसुन्नं रइ अरइ समाउत्तं।
परपरिवायं मायमोसं मिच्छत्तसल्लं च।।

(१) प्राणातिपात (हिंसा), (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मैथुन, (५) द्रव्यमूर्च्छा (परिग्रह), (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान—दोषारोपण, (१४) चुगली, (१५) असंयम में रति (सुख), संयम में अरति (असुख), (१६) परपरिवाद—निन्दा, (१७) माया-मृषा—कपट-पूर्ण मिथ्या और (१८) मिथ्यादर्शन-शल्य—ये अठारह पाप हैं।

३. जे पुमं कुरुते पावं ण तस्सऽप्पा धुवं पिओ।
अप्पणा हि कडं कम्मं अप्पणा चेव भुज्जती।। (उ० ४५ : ३)

जो पुरुष पाप करता है, उसे निश्चयतः अपनी आत्मा प्रिय नहीं है, क्योंकि आत्मा के द्वारा कृत कर्मों का फल आत्मा स्वयं ही भोगती है।

४. धावंतं सरसं नीरं सच्छं दाढिं सिंगिणं।
दोसभीरु विवज्जेंति पापमेवं विवज्जए।। (इसि० ४५ : १२)

स्वच्छ मधुर जल की ओर दौड़ते हुए डाढ़ और सींगवाले पशुओं का चोट से डरने वाले व्यक्ति विवर्जन करते हैं, वैसे ही दोष-भीरु व्यक्ति पाप का दूर से ही वर्जन करे।

५. पावं परस्स कुव्वंतो हसतो मोहमोहितो।
मच्छो गलं गसंतो वा विणिघातं ण पस्सती।। (इसि० १५ : ११)

जब मोह से मोहित आत्मा दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता हुआ हर्षित होता है, तब वह भविष्य को नहीं समझता। मछली आटे की गोली को निगलती हुई अपनी मौत को नहीं देखती।

६. पावं जे उपकुव्वंती जीवा साताणुगामिणो।
वढ्ढती पावकं तेसिं अणग्गाहिस्स वा अणं।। (इसि० १५ : १५)

जो प्राणी सुख की कामना से पाप करते हैं, उनके पाप बढ़ते ही जाते हैं, जैसे ऋण लेनेवाले पर ऋण बढ़ता ही जाता है।

७. अणुबद्धमपस्संता पच्चुप्पण्णगवेसका।
ते पच्छा दुक्खमच्छंति गलुच्छिन्ना झसा जहा।। (इसि० १५ : १६)

जो केवल वर्तमान सुख की ही गवेषणा करनेवाले हैं और उससे अनुबद्ध फल को नहीं देखते, वे बाद में उसी प्रकार से दुःख पाते हैं जैसे गले में काँटे से बिंधी हुई मछली।

८. आताकडाण कम्माणं आता भुंजति जं फलं।
तम्हा आतस्स अट्ठाए पावमादाय वज्जए।। (इसि० १५ : १७)

आत्मा द्वारा किए हुए कर्मों का फल आत्मा ही भोगती है। अतः आत्मा के हित के लिए मनुष्य पाप का संचय करना छोड़ दे।

९. जे इमं पावकं कम्मं णेव कुज्जा ण कारवे।
देवा वि तं णमंसंति धितिमं दित्ततेजस्सं।। (इसि० ३६ : १)

जो पुरुष पाप कर्म को नहीं करता है और दूसरों से भी नहीं करवाता है, उस धृतिमान दीप्त तेजस्वी पुरुष को देवता भी नमस्कार करते हैं।

१०. जे णरे कुव्वती पावं अंधकारं महं करे।
अणवज्जं पंडिते किच्चा आदिच्चे व पभासती।। (इसि० ३६ : २)

जो मानव पाप कर्म करता है, वह महा अन्धकार को फैलाता है, जबकि पंडित पुरुष अनवद्य—पाप-रहित कर्म करता हुआ सूर्य की भाँति प्रकाशित होता है।

११. सिया पावं सइं कुज्जा ण तं कुज्जा पुणो पुणो।
णाणि कम्मं च णं कुज्जा साधु कम्मं वियाणिया।। (इसि० ३६ : ३)

पाप का प्रसंग उपस्थित हो और पाप हो जाय तो साधक उस पाप को पुनः-पुनः न करे। ज्ञानी श्रेष्ठ कर्मों को पहचानकर पाप-कर्म न करे।

२. आत्म-निरीक्षण और पाप-वर्जन

१. णियदोसे निगूहंते चिरं पि णोवदंसए।
किह मं कोपि णज्जाणे जाणेणत्त हियं सयं।। (इसि० ४ : २)

पापी अपने दोषों को छिपाता है और चिर समय तक अपने दोषों को किसी के समक्ष प्रकट नहीं करता। वह सोचता है—दूसरा कोई भी मेरे इस पाप को नहीं जानता। परन्तु ऐसा सोचनेवाला अपना हित नहीं जानता।

२. णेण जाणामि अप्पाणं आवी वा जति वा रहे।
अज्जयारिं अणज्जं वा तं णाणं अयलं धुवं।। (इसि० ४ : ३)

जिसके द्वारा मैं अपने-आपको जान सकूँ, प्रत्यक्ष या परोक्ष में होनेवाले अपने आर्य और अनार्य कर्मों को देख सकूँ, वहीं ज्ञान अचल और शाश्वत है।

३. अण्णहा समणे होइ अन्नं कुणंति कम्मुणा।
अण्णमण्णाणि भासंते मणुस्य गहणे हु से।। (इसि० ४ : ५)

मन में वह कुछ और ही होता है, कर्म से कुछ और ही करता है और बोलता कुछ और ही है। ऐसा मनुष्य गहन (अटवी) के समान गूढ है।

४. अदुवा परिसामज्झे अदुवा विरहे कडं।
ततो निरिक्ख अप्पाणं पावकम्मा णिरुंभति।। (इसि० ४ : ८)

परिषद् में एक रूप होता है और एकान्त में दूसरा रूप। किन्तु सच्चा साधक आत्मा का निरीक्षण कर अपने-आपको पाप कर्मों से रोकता है।

५. दुप्पचिण्णं सपेहाए अणायारं च अप्पणो।
अणुवट्ठितो सदा धम्मे सो पच्छा परितप्पति।। (इसि० ४ : ६)

अपने दुष्चीर्ण कर्म और अनाचारों को देखता हुआ भी उपेक्षा करनेवाला और धर्म में सदा अनुपस्थित रहनेवाला मनुष्य अन्तिम समय में पश्चाताप करता है।

६. सुपइण्णं सपेहाए आयरं वा वि अप्पणो।
सुपटिट्ठितो सदा धम्मे सो पच्छा उ ण तप्पति।। (इसि० ४ : १०)

अपने श्रेष्ठ आचारों के प्रति सदा जागरूक और धर्म में सदा सुप्रतिष्ठित रहनेवाला पुरुष अन्तिम घड़ी में पश्चाताप नहीं करता।

: १७ :

ज्ञान-कण

१. ज्ञान-कण

१. दोसं ण करेदि सयं अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं।
कुव्वाणं पि ण इच्छुइ तस्स विसोही परा होदि।।
(द्वा० अनु० ४५१)

जो मन, वचन और काया से स्वयं दोष नहीं करता, दूसरे से भी दोष नहीं कराता और करते हुए को भी अच्छा नहीं मानता उसके उत्कृष्ट विशुद्धि होती है।

२. अप्पा णं पि य सरणं खमादि-भावेहिं परिणदो होदि।
(द्वा० अनु० ३१)

क्षमादि भावों में परिणत आत्मा स्वयं अपना शरण होता है।

३. तिव्व-कषायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण। (द्वा० अनु० ३१)

जो तीव्र कषाययुक्त होता है, वह अपने ही द्वारा अपना हनन करता है।

४. कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे। (कुन्द० अ० ३७)

कर्मों के निमित्त से जीव संसाररूपी भयानक अटवी में भ्रमण करता है।

५. तिविहा य होइ कखा इह परलोए तधा कुधम्मे य।
तिविहं पि जो ण कुज्जा दंसणसुद्धीमुपगदो सो।। (मू० २४६)

कांक्षा तीन प्रकार की होती है। इस लोक में संपदा-प्राप्ति की कांक्षा, परलोक में संपदा-प्राप्ति की कांक्षा और कुधर्म की कांक्षा। जो इन तीनों कांक्षाओं को नहीं करता वही सम्यग्दर्शन की शुद्धि को प्राप्त करता है।

६. पाव-उदयेण णरए जायदि जीवो सहेदि बहु-दुक्खं।
(द्वा० अनु० ३४)

पापोदय से ही जीव नरक में उत्पन्न होता है और वहाँ बहुत दुःख को सहता है।

७. सव्वं पि होदि णरए खेत्त-सहावेण दुक्खदं असुहं। (द्वा० अनु० ३८)

नरक में क्षेत्र-स्वभाव के कारण सभी वस्तुएँ दुःखदायक तथा अशुभ होती है।

८. कुविदा वि सव्व-कालं अण्णोण्णं होंति णेरइया। (द्वा० अनु० ३८)

नारकी जीव सदा काल परस्पर क्रोधित होते रहते हैं।

९. कक्कस्सवयणं णिठ्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च।
जं किंचिं विप्पलावं गरहिदवय्णं समासेण।।
(भग० आ० ८३०)

कर्कश वचन, निठुर वचन, चुगलखोरी का वचन, मखौल उड़ानेवाला वचन एवं विप्रलाप—बेसिर-पैर की बात—ये समास में निन्दनीय वचन हैं।

१०. मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे स्मक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं।। (मू २०२)

जिन-शासन में मार्ग और मार्ग-फल—ये दो कहे गए हैं। उनमें से मार्ग तो सम्यक्त्व है और मार्ग-फल मोक्ष।

११. जो पुण चिंतदि कज्जं सुहासुहं राय-दोस-संजुत्तो।
उवओगेण विहीणं स कुणदि पावं विणा कज्जं।।
(द्वा० अनु० ३८६)

राग-द्वेष से संयुक्त हो जो बिना प्रयोजन ही शुभ-अशुभ चिन्तन करता है, वह पुरुष बिना कार्य पापोत्पन्न करता है।

१२. देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं।
(भग० आ० १२४६)

देह क्षुधा आदि से पीड़ित होता है। वह अनित्य भी है। ऐसे शरीर में आसक्त होने से आत्मा को कैसे सुख प्राप्त होगा ?

१३. जदि ण हवदि सव्वण्हू, ता को जाणदि अदिंदियं अत्थं।
इंदिय-णाणं ण मुणदि थूलं पि असेस-पज्जायं।। (द्वा० अनु० ३०३)

यदि सर्वज्ञ नहीं होता तो अतीन्द्रिय पदार्थ को कौन जानता ? इन्द्रिय ज्ञान तो स्थूल पदार्थ को ही जानता है, उसकी समस्त पर्यायों को भी नहीं जानता।

१४. कंडणी पीसणी चुल्ली उदकुंभं पमज्जणी।
बीहेदव्वं णिच्चं ताहिं जीवरासी से मरदि।। (मू० ६२६)

ओखली, चक्की, चूल्हा, जल रखने का स्थान, बुहारी—इन पाँचों से सदा भयभीत रहना चाहिए, क्योंकि इनसे जीव-समूह मृत्यु को प्राप्त होता है।

१५. सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि।।
(भग० आ० १३७६)

निरभिमानी पुरुष लोक में स्वजनों और परिजनों का प्रिय होता है। वह लोक में ज्ञान, यश, और धन को प्राप्त करता है तथा अपने कार्यों को साध लेता है।

१६. ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं।।(भग० आ० १३८०)

मार्दव के प्रयोग से कभी कोई हानि नहीं होती। विनय से मनुष्य निश्चित इहलोक और परलोक में सब कल्याण प्राप्त करता है।

१७. जह तुब्भे तह अम्हे तुम्हे वि होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइं पडंतं पंडुअ-पत्तं किसलयाणं।। (अनु०)

पीला पत्ता जमीन पर पड़ता हुआ अपने साथी हरे पत्ते से बोला—आज जैसे तुम हो हम भी एक दिन वैसे ही थे। अब जैसे हम हैं, एक दिन तुम्हें भी वैसा ही होना है।

१८. जह मक्कउओ धादो वि फलं दठ्ठूण लोहिदं तस्स।
दूरत्थस्स वि डेवदि घित्तूण वि जइ वि छंडेदि।।
एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं।
सव्वजगेण वि जीवो लोभाइट्ठो न तिप्पेदि।।
(भग० आ० ८५४-५५)

जैसे खा-पीकर तृप्त हुआ भी बानर किसी लाल फूल को दूर से देखकर उसे लेने के लिए दौड़ता है, यद्यपि वह उसे लेकर छोड़ देता है। इसी प्रकार लोभाविष्ट जीव जिस-जिस पदार्थ को देखता है उसको ग्रहण करने की इच्छा करता है और सर्व जगत् से भी वह तृप्त नहीं होता।

१९. सग्गं तवेण सव्वो वि पावए किंतु झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ परे भवे सासयं सुक्खं।। (मो० पा० २३)

तप से तो सभी स्वर्ग प्राप्त करते हैं, किन्तु ध्यान के द्वारा जो प्राप्त करता है वह दूसरे भव के अविनाशी सुख—मोक्ष को प्राप्त करता है।

२०. इच्छिविसयाभिलासो वच्छिविमोक्खो य पणिद्दरससेवा।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव।।
सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासे।
इठ्ठविसयसेवा वि य अब्बंभं दसविहं एदं।।
(भग० आ० ८७६-८०)

स्त्री के साथ विषय-भोग की अभिलाषा, इन्द्रिय-विकार, प्रणीत (स्निग्ध) रसों का सेवन, (स्त्री और पशुओं से) संसक्त वस्तुओं का सेवन, स्त्री की इन्द्रियों का अवलोकन, स्त्रियों का सत्कार, उनका सम्मान, पूर्व क्रीड़ाओं का स्मरण, भविष्य में क्रीड़ाओं की अभिलाषा, इष्ट विषयों का सेवन—ये दश अब्रह्म हैं।

२१. सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बह्मचेरभावं सक्कदि खलु दुद्धरं धरदि।।
(कुन्द० अ० ११ : ८०)

जो स्त्रियों के सब अंगों को देखता हुआ भी उनके प्रति मन में किसी भी प्रकार का कुविचार नहीं लाता, वह धर्मात्मा दुर्धर ब्रह्मचर्य भाव का धारी है।

२२. धंसेइ जो अभूएणं अकम्मं अत्त-कम्मुणा।
अदुवा तुमं कासित्ति महामोहं पकुव्वइ।। (दशा० ६ : ८)

जो अपने किये हुए दुष्कर्म को न करनेवाले पर थोपकर उसे लांछित करता है अथवा कहता है कि यह पाप तूने किया है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है।

२३. बहुदुक्खा हु जंतवो, सत्ता कामेहिं माणवा,
अबलेण वहं गच्छंति सरीरेण पभंगुरेण।
(आ० १,६ (१) : १५-१७)

जीव बहुत दुःखों से घिरे हुए हैं तथापि मनुष्य कामभोगों में आसक्त रहते हैं। क्षण-भंगुर शरीर से पाप कर्म कर वे अवश हो भयंकर दुःख पाते रहते हैं।

२४. सवणे नाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी।। (भगवई २, १११)

पर्युपासना से धर्म-श्रवण, धर्म-श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनास्रव, अनास्रव से तप, तप से कर्म-क्षय, कर्म-क्षय से अक्रिया और अक्रिया से सिद्धि की प्राप्ति होती है।

२५. जे ममाइय-मतिं जहाति से जहाति ममाइयं।
से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स णत्थि ममाइयं।।
(आ० १,२ (६) : १५६-५७)

जो ममत्व-बुद्धि का त्याग करता है वह ममत्व—परिग्रह का त्याग करता है। जिसके ममत्व नहीं है, वही ज्ञानी मार्ग-द्रष्टा है।

२६. मिउ मद्दवसंपन्ने गम्भीरे सुसमाहिए।
विहरइ महिं महप्पा सीलभूएण अप्पणा।। (उ० २७ : १७)

मृदु और मार्दव से सम्पन्न, गम्भीर और सुसमाहित महात्मा शील-सम्पन्न होकर पृथ्वी पर विचरता है।

२७. दुविहं खवेऊण य पुण्यपावं।
निरंगणे सब्वओ विप्पमुक्के।। (उ० २१ : २४)

जो भी साधक सयम में निश्चल और सर्वतः विप्रमुक्त रहा वह पुण्य और पाप दोनों का क्षय कर अपुनरागम-गति—मोक्ष में गया है।

२८. जो चिंतइ अप्पाणं णाण-सरूवं पुणो पुणो णाणी।
विकहादिविरत्तमणो पायच्छित्तं वरं तस्स।। (द्वा० अ० ४५५)

जो ज्ञानी विकथादि प्रमादों से विरक्त होता हुआ ज्ञानस्वरूप आत्मा का पुनः-पुनः चिन्तन करता है उसके श्रेष्ठ प्रायश्चित्त होता है।

२९. एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेण।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं।।(भग० आ० ७४६)

अकेले जिन-भक्ति ही दुर्गति का निवारण करने में समर्थ है। इससे पुण्यों की प्राप्ति होती है। जब तक साधक को मोक्ष होता है तब तक इसके प्रभाव से उत्तमोत्तम सुखों की प्राप्ति होती रहती है।

३०. पाणाइवाए वट्टंता मुसावाए असंजया।
अदिण्णादाणे वट्टंता मेहुणे य परिग्गहे।। (सु० १, ३ (४) : ८)

जीव-हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह में लगे हुए लोग असंयमी हैं।

३१. कुप्पवयणपासण्डी सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं एस मग्गे हि उत्तमे।। (उ० २३ : ६३)

जो कुप्रवचन के प्रावादुक हैं, वे सब उन्मार्ग में प्रस्थित हैं। जो जिन द्वारा कहा गया है वह सन्मार्ग है। अतः यही उत्तम मार्ग है।

३२. अभविंसु पुरा वीरा आगमिस्सा वि सुव्वया।
दुण्णि बोहस्स मग्गस्स अंतं पाउकरा तिण्ण।। (सू० १, १५ : २५)

पूर्व समय में बहुत से धीर पुरुष हो चुके हैं और भविष्य काल में भी ऐसे सुव्रती पुरुष होंगे जो दुर्निबोध—दुष्प्राप्य—मोक्ष-मार्ग की अन्तिम सीमा पर पहुंचकर तथा उसे दूसरों को प्रकट कर इस संसार-सागर से तिरे हैं या तिरेंगे।

३३. अणिगूहियबलविरिओ परकामदि जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजदि च जहाथाणं विरियाचारोति णादव्वो।। (मूल० ४१३)

जो अपने बल और वीर्य का गोपन नहीं करता, जो यथोक्त धर्म में पराक्रम करता है, जो अपने-आपको अपनी शक्ति के अनुसार अध्यात्म-साधन में लगाता है, उस पुरुष के वीर्याचार जानना चाहिए।

३४. लाभंमि जे ण सुमणो अलाभे णेव दुम्मणो।
से हु सेट्ठे मणुस्साणं देवाणं सयक्कऊ।। (इसि० ४३ : १)

लाभ में जो सुमन (हर्षित) नहीं है और न अलाभ में दुमन (दुःखित) है, वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, जैसे देवों में शतक्रतु (इन्द्र)।

३५. जो अवमाणणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो।
सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण।। (भग० आ० १४२६)

जो पुरुष अपमान के कारणभूत दोषों का हमेशा सावधानी के साथ त्याग करता है, वही सच्चा मानी है। गुण-रहित होकर भी मान करने से कोई मानी नहीं होता।

३६. विसय-वसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुदो तित्ती। (द्वा० अ० ५६)

जिनके सुख इन्द्रिय के विषयों पर आधारित हैं, उन्हें तृप्ति कैसे होगी ?

३७. माणस-दुक्ख-जुदस्स हि विसया वि दुहावहा हुंति। (द्वा०अ० ६०)

मानसिक दुःख से संयुक्त पुरुष को प्रचुर विषय-सामग्री भी दुःखदायी ही होती है।

३८. विषय-वसं जं सुक्खं दुक्खस्स वि कारणं तं पि। (द्वा०अ० ६१)

जो सुख विषयों के अधीन है, वह दुःख ही का कारण है।

३९. अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं। (मू० ७०१)

आश्चर्य है कि मनुष्य संसार-रूपी समुद्र में डूबती हुई अपनी आत्मा का कुछ भी सोच नहीं करता।

४०. वर वयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होइ णिरइ इमरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं।। (मो० पा० २५)

व्रत और तप से स्वर्ग पाना उत्तम है, किन्तु इतर (अव्रत और अतप) से नरक में दुःख होता है, वह न हो। छाया और धूप में बैठे हुए मनुष्यों में जैसे बहुत भेद है, वैसे ही व्रत और तप का पालन करने वालों में बहुत भेद है।

४१. इमा विज्जा महाविज्जा सव्वविज्जाण उत्तमा।
जं विज्जं साहइत्ताणं सव्वदुक्खाण मुच्चति।। (इसि० १७ : १)

वह विद्या महाविद्या है और समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है, जिस विद्या की साधना कर आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त हो जाती है।

४२. जेण बंधं मोक्खं च जीवाणं गतिरागतिं।
आयाभावं च जाणाति सा विज्जा दुक्खमोयणी।। (इसि० १७ : २)

जिसके द्वारा आत्मा के बन्ध, मोक्ष, गति और आगति का परिज्ञान होता है, वही विद्या दुःख से मुक्त करने में समर्थ है।

२. शिक्षा-कण

१. थोवं जेमेहि मा बहू जंप। (मू० ८६५)

थोड़ा आहार कर। बहुत मत बोल।

२. दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहिं सुट्ठु वेरग्गं। (मू० ८६५)

दुःख को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भाव का चिंतन कर, अच्छा वैराग्य रख।

३. जातिं च बुडिंढ् च इहज्जपासे भूतेहिं जाणे पडिलेह सातं।
तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा सम्मत्तदंसी ण करेति पावं।।
(आ० १, ३ (२) : २६-२८)

हे आर्य ! संसार में जन्म और जरा को देख। विचारकर जान—सब प्राणियों को सुख प्रिय है। इसलिए तत्त्वज्ञ सम्यक्दृष्टि परमार्थ को जानकर किसी प्राणी के प्रति पाप कर्म नहीं करते।

४. नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेण तवेण य।
खंतीए मुत्तीए वड्ढमाणो भवाहि य।। (उ० २२ : २६)

तुम ज्ञान, दर्शन और चरित्र से तथा तप, क्षमा और निर्लोभता से सदा वृद्धि पाते रहना।

५. नाणारुइं च छंदं च परिवज्जेज्ज संजए।
अणट्ठा जे य सव्वत्था इइ विज्जामणुसंचरे।। (उ० १८ : ३०)

संयमी नाना प्रकार की रुचि, अभिप्राय और जो सब प्रकार के अनर्थ हैं उनका वर्जन करे। इस विद्या के पथ पर तुम्हारा संचरण हो।

६. धुणिया कुलियं व लेववं कसए देहमणासणादिहिं।
(सू० १, २ (१) : १४)

जैसे लेपवाली भित्ति लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है, इसी तरह अनशन आदि तप द्वारा अपनी देह को कृश कर।

७. सावज्जजोगवयणं वज्जंतो ऽवज्जभीरु गुणकंखी।
सावज्जवज्जवयणं णिच्चं भासेज्ज भासंतो।। (मू० ३१७)

जो पापों से डरता है, गुणों को चाहता है, वह बोलते समय पापयुक्त वचनों का परिहार करता हुआ हमेशा पाप-रहित वचनों को बोले।

८. तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गि।
तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं।। (भग० आ० २६२)

उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसका निमित्त पाकर कषायाग्नि प्रज्वलित हो जाती है और उस वस्तु का आश्रय करना चाहिए जिससे कषायों का उपशम होता है।

९. बीहेदव्वं णिच्चं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स।
यरणयरणिग्गमं मिव वणयकयारं वहंतस्स।। (मू ६६२)

जिसकी जिह्वा सदा पलटती रहती है, उस दुर्जन के वचनों से सदा ही डरते रहना चाहिए। दुर्जन की जिह्वा दुष्ट वचनों को वैसे ही निकालती रहती है जैसे श्रेष्ठ नगर का नाला कचरे को बहाता रहता है।

१०. दुदंता इंदिया पंच संसाराए सरीरिणं।
ते चेव णियमिया संताणेज्जाणाए भवंति हि।। (इसि० १६ : १)

देहधारी की दुर्दान्त पाँच इन्द्रियाँ संसार की हेतु बनती हैं। वे ही संवृत हो जाने पर मोक्ष की हेतु बन जाती हैं।

११. दुदंते इंदिए पंच रागदोसपरंगमे।
कुम्मो विव स अंगाइं सए देहम्मि साहरे।। (इसि० १६ : २)

राग और द्वेष के वश विषयों में प्रवृत्त पाँचों इन्द्रियाँ दुर्दान्त होती हैं। संकट की आशंका होते ही जैसे कूर्म अपने अंगों को अपने शरीर में संकोच लेता है वैसे ही साधक विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों को उनसे हटा ले।

: १८ :

हिंसा-विरति

१. हिंसा की कसौटी

१. हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु।
तम्हा पमत्तजोगे पाणव्ववरोवओ णिच्चं।। (भग०आ० ८०१)

हिंसा से विरत न होना अथवा हिंसा करने के परिणामों का होना हिंसा है। अतः प्रमत्त योग निश्चित रूप से हिंसा है।

२. रत्तो वा दुठ्ठो वा मूढो वा जं पयुंज दि पओगं।
हिंसा वि तत्थ जायदि तह्मा सो हिंसगो होइ।। (भग० आ० ८०२)

रागी, द्वेषी अथवा मूढ़ बनकर आत्मा जो कार्य करता है, उससे हिंसा होती है। अतः वह हिंसक है।

३. अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये।
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो।। (भग० आ० ८०३)

आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। अप्रमत्त अर्थात् प्रमादरहित आत्मा को अहिंसक कहते हैं और प्रमादसहित आत्मा को हिंसक कहते हैं, ऐसा आगम का निर्णय है।

४. अज्झवसिदो य बद्धो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्थ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।। (भग० आ० ८०४)

बद्ध जीव राग-द्वेषादि परिणामों के अधीन होता है। अन्य जीव मरे अथवा न मरे, फिर भी जिसके परिणाम हिंसा के हैं उसके बंध होता ही है। अक्षुण निश्चय नय से जीवों के कर्म-बंध का यह संक्षेप में स्वरूप कहा है।

५. णाणी कम्मस्स खयत्थमुठिठ्दो णोठ्ठिदो य हिंसाए।
अददि असढो हि यत्थं अप्पमत्तो अवधगो सो।। (भग० आ० ८०५)

ज्ञानी पुरुष कर्मक्षय करनें के लिए उद्यत है, हिंसा के लिए उद्यत नहीं है। वह अशठ होकर ही अपने हित के लिए प्रवृत्ति करता है। वह अप्रमत्त है अतः हिंसा हो जाने पर भी वह अवधक ही कहा गया है।

६. जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बाहिरगवत्थुजोगेण।
णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु।। (भग० आ० ८०६)

यदि राग-द्वेष रहित आत्मा को भी बाह्य वस्तु के संबंध से बंध होगा, तो जगत् में कोई भी अहिंसक नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा अर्थात् शुद्धात्मा को भी वायुकायिक जीव के वध के लिए समझना होगा।

७. पादोसिय अधिकरणीय कायिय परिदावणादिवादाए।
एदे पंचपओगा किरियाओ होंति हिंसाओ।। (भग० आ० ८०७)

द्वेष से उत्पन्न क्रिया प्राद्वेषिकी क्रिया है। हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करना अधिकरणिकी क्रिया है। दुष्टता पूर्वक शरीर का चलन होना कायिकी क्रिया है। दुःखोत्पत्ति के लिए जो क्रिया की जाती है, उसको पारितापिनिकी क्रिया कहते हैं। आयु, इन्द्रिय, बल और प्राण इनका घात करने वाली क्रिया को प्राणातिपाति क्रिया कहते हैं। ये पाँच प्रकार के प्रयोग हिंसा की क्रियाएँ हैं।

२. हिंसा त्याज्य क्यों ?

१. जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं।
एव णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा।। (भग० आ० ७७७)

यह जानो कि जैसे तुमको दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है। ऐसा जानकर सर्व जीवों में सदा आत्मोपम भाव रखो (अपने को दुःख नहीं देते वैसे ही दूसरों को दुःख देने से निवृत्त हो)।

२. तेलोक्कजीविदादो वरेहि एक्कदरुमत्ति देवेहिं।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा।। (भग० आ० ७८२)

त्रैलोक्य और जीवन इन दोनों में से कोई एक ग्रहण कर सकते हो, ऐसा देवों के द्वारा कहा जाने पर कौन जीवन छोड़कर त्रैलोक्य को लेगा ?

३. सव्वे वि य संबंधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहिं।
तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ।। (भग० आ० ७६३)

सर्व जीवों का सर्व जीवों के साथ पिता, पुत्र माता इत्यादि रूप संबंध अनेक भवों में हुआ है। इसलिए मारने के लिए उद्यत हुआ मनुष्य अपने संबंधी को ही मारता है, ऐसा समझना चाहिए।

४. जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया।
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि।। (भग० आ० ७६४)

प्राणियों का नाश करना तत्त्वतः अपना ही नाश करना है और प्राणियों पर दया करना तत्त्वतः अपने ही ऊपर दया करना है। अतः हिंसा विष से लिप्त हुए कंटक की तरह त्याज्य है।

५. मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं।
संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारिंतए जंति।। (भग० आ० ७६५)

जो मनुष्य दूसरों को मारने में उद्यत होता है, वह प्राणियों को राक्षस के समान भय उत्पन्न करता है। उसके संबंधी मनुष्य भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं।

६. कुद्धो परं वधित्ता सयंपि कालेण मारइज्जंते।
हदघादयाण णत्थि विसेसो मुत्तूण तं कालं।। (भग० आ० ७६७)

क्रुद्ध होकर जो मनुष्य दूसरों को मारता है, वह भी कुछ काल बीतने के अनन्तर मरण को प्राप्त होता है। इसलिए हत और घातक में कुछ अन्तर नहीं है। हाँ, केवल काल का ही अन्तर रहता है।

७. अप्पाउगरोगिदया विरूवदा विगलदा अवलदा य।
दुम्मेहवण्णरसगंधदाय से होइ परलोए।। (भग० आ० ७६८)

हिंसा करनेवाला मनुष्य पर-मरण में अल्पायुषी, रोगी, कुरूप, विकलेन्द्रिय (अर्थात् अंधा, बहरा, गूँगा), दुर्बल, मूर्ख, अशुभ वर्ण, रस और गन्धवाला होता है।

८. जावइयाइं दुक्खाइं होंति लोयम्मि चदुगदिगदाइं।
सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणहि।। (भग० आ० ८००)

इस जगत् में चार गतियों में जो भी दुःख जीव को प्राप्त होते हैं, वे सर्व हिंसा के ही फल हैं, ऐसा समझना चाहिए।

३. अहिंसा

[१]

१. पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काहि किं वा नाहिइ छेय पावगं।। (द० ४ : १०)

पहले सर्व प्रकार जीवों का ज्ञान हो तभी दया—अहिंसा का पालन हो सकता है। सभी संयमी पुरुष इस प्रकार ज्ञान और क्रिया में स्थित होते हैं। अज्ञानी बेचारा

क्या करेगा ? वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप (हिंसा कैसे होती है और अहिंसा क्या है) ?

२. जो जीवे वि न याणाइ अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहिइ संजमं।। (द० ४ : १२)

जो जीवों को भी नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता, वह जीव और अजीव को नहीं जाननेवाला संयम—अहिंसा को कैसे जानेगा ?

३. जो जीवे वि वियाणाइ अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाहिइ संजमं।। (द० ४ : १३)

जो जीवों को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है, वही—जीव और अजीव दोनों को जाननेवाला ही संयम—अहिंसा को जान सकेगा।

[२]

४. पुढवीजीवा पुढो सत्ता आउजीवा तहागणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता तण रुक्खा सबीयगा।। (सू० १, ११ : ७)

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु और (५) घास-वृक्ष-धान आदि वनस्पति—ये सब अलग-अलग जीव हैं। पृथ्वी आदि हरेक में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के धारक अलग-अलग जीव हैं।

५. अहावरे तसा पाणा एवं छक्काय आहिया।
इत्ताव एव जीवकाए णावरे विज्जती कए।। (सू० १, ११ : ८)

उपर्युक्त स्थावर जीवों के उपरान्त त्रस प्राणी हैं, जिनमें चलने-फिरने का सामर्थ्य होता है। यही छः जीवनिकाय कहा गया है। इन छः प्रकार के जीवों के सिवा संसार में और जीव नहीं हैं।

६. सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं मइमं पडिलेहिया।
सव्वे अकंतदुक्खा य अतो सव्वे अहिंसया।। (सू० १, ११ : ९)

बुद्धिमान् पुरुष छः प्रकार के जीवों का सब प्रकार की युक्तियों से ज्ञान प्राप्त कर तथा 'सभी को दुःख अप्रिय है', यह जानकर उन सबकी हिंसा न करे।

७. एयं खु णाणिणो सारं जं ण हिंसति कंचणं।
अहिंसा-समयं चेव एतावंतं विजाणिया।। (सू० १, ११ : १०)

ज्ञानी के लिए ज्ञान का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा—समता—सर्व जीवों के प्रति आत्मवत् भाव—इतना ही शाश्वत धर्म समझो।

८. उड्ढं अहे तिरियं च जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा संति णिव्वाणमाहियं।। (सू० १, ११ : ११)

ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—तीनों लोक में जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं, मनुष्य को उन सबके प्राणातिपात से सर्वत्र विरत रहना चाहिए। सब जीवों के प्रति वैर की विरति—शान्ति को ही निर्वाण कहा है।

९. पभू दोसे णिराकिच्चा ण विरुज्झेज्ज केणइ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो।। (सू० १, ११ : १२)

इन्द्रियों को जीतनेवाला पुरुष सर्व दोषों का त्याग कर किसी भी प्राणी के साथ जीवन-पर्यन्त मन, वचन और काया से वैर-विरोध न करे।

१०. विरते गामधम्मेहिं जे केई जगई जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए थामं कुव्वं परिव्वए।। (सू० १, ११ : ३३)

शब्दादि इन्द्रियों के विषयों से विरत पुरुष इस जगत् में जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उनका आत्मतुल्य भावना से रक्षण करता हुआ पूरी शक्ति के साथ आत्मिक संयम का पालन करे।

११. जे य बुद्धा अतिक्कंता जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं भूयाणं जगई जहा।। (सू० १, ११ : ३६)

जो तीर्थंकर हो चुके हैं और जो तीर्थंकर होनेवाले हैं, उन सबका प्रतिष्ठान (आधार-स्थान) शान्ति (सब जीवों के प्रति दयारूप भाव) है; जिस तरह कि सब जीवों का आधार पृथ्वी है।

[३]

१२. जे कइ तसा पाणा चिट्ठंतदुव थावरा।
परियाए अत्थि से अंजू जेण ते तसथावरा।। (सू० १, १ (४) : ८)

जगत् में कई जीव त्रस हैं और कई जीव स्थावर। एक पर्याय में होना या दूसरे में होना अवश्य ही कर्मों की विचित्रता है। अपनी-अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर पर्याय में हैं।

१३. उरालं जगतो जोगं विवज्जासं पलेंति य।
सव्वे अकंतदुक्खा य अओ सव्वे अहिंसगा।। (सू० १, १ (४) : ६)

जीवों की अवस्था उदार (स्थूल) होती है और वह विपर्याय (परिवर्तन) को प्राप्त होती रहती है। एक ही जीव, जो एक जन्म में त्रस होता है, दूसरे जन्म में स्थावर

हो सकता है। त्रस हो या स्थावर—सब जीवों को दुःख अप्रिय होता है। अतः मुमुक्षु सभी जीवों की हिंसा न करे।

[४]

१४. उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा।
हत्थेहि पादेहि य संजमित्ता अदिण्णमण्णेसु य णो गहेज्जा।।
(सू० १, १० : २)

ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो भी त्रस या स्थावर प्राणी हैं, हाथ और पैरों को संयमित कर उनका प्राण-हरण नहीं करना चाहिए। अन्य की बिना दी हुई वस्तु न ले।

१५. एतेसु बाले य पकुव्वमाणे आवट्टती कम्मसु पावएसु।
अतिवाततो कीरति पावकम्मं णिउंजमाणे उ करेइ कम्मं।।
(सू० १, १० : ५)

अज्ञानी मनुष्य इन पृथ्वी आदि जीवों के प्रति दुर्व्यवहार करता हुआ पाप-कर्म संचय कर बहुत दुःख पाता है। जो खुद जीवों का घात करता है और जो जीवों का घात कराता है दोनों ही पाप-कर्म का उपार्जन करते हैं।

१६. सव्वं जगं नू समयाणुपेही पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
(सू० १, १० : ७)

मुमुक्षु सर्व जगत् अर्थात् सर्व जीवों को समभाव से देखनेवाला हो। वह किसी का प्रिय और किसी का अप्रिय न करे। सारे जगत् के—छोटे और बड़े सब प्राणियों को आत्मा के समान देखे।

[५]

१७. सयं तिवातए पाणे अदुवा अण्णेहिं घायए।
हणंतं वाणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो।। (सू० १, १ (१) : ३)

जो स्वयं जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या जो जीव-हिंसा का अनुमोदन करता है, वह अपने वैर की वृद्धि करता है।

[६]

१८. सदा सच्चेण संपण्णे मेत्तिं भूतेसु कप्पए।। (सू० १, १५ : ३)

जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्य भावों से सम्पन्न (ओतप्रोत) रहती है, वह सब जीवों के प्रति मैत्री भाव रखे।

१६. भूतेसु ण विरुज्झेज्जा एस धम्मे वुसीमओ।। (सू० १, १५ : ४)

भूतों से विरोध न करे, यही संयमियों का धर्म है।

२०. अणेलिसस्स खेयण्णे ण विरुज्झेज्ज केणइ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव चक्खुमं। (सू० १, १५ : १३)

संयम में निपुण परमार्थदर्शी पुरुष मन, वचन और काया से किसी से विरोध न करे।

[७]

२१. उड्ढं अहं यं तिरियं दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा माणप्पओसं अविकंपमाणे।।
(सू० १, १४ : १४)

ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—तीनों दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके प्रति सदा यत्नवान् रहता हुआ जीवन बिताये। संयम में अडोल रहता हुआ मन से भी द्वेष न करे।

[८]

२२. पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ तण रुक्ख वीया य तसा य पाणा।
जे अंडया जे य य जराउ पाणा संसेयया जे रसायाभिहाणा।।
एताइं कायाइं पवेइयाइं एतेसु जाणे पडिलेह सायं।
एतेहि काएहि य आयदंडे पुणो-पुणो विप्परियासुवेति।।
(सू० १, ७ : १-२)

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति। इन सब स्थावर तथा (६) अण्डज, जरायुज, स्वेदज, रसज—इन सब त्रस प्राणियों को ज्ञानियों ने जीव-निकाय कहा है। इन सबमें सुख की इच्छा है, यह जानो और समझो।

जो इन जीव-कायों का नाश कर पाप-संचय द्वारा अपनी आत्मा को दंडित करता है, वह बार-बार इन्हीं प्राणियों की योनि में जन्म धारण करता है।

[९]

२३. हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा वुच्चमाणो ण संजले।
सुमणो अहियासेज्जा ण य कोलाहलं करे।। (सू० १, ६ : ३१)

कोई पीटे तो क्रोध न करे। कोई दुर्वचन कहे तो प्रज्वलित न हो। इन सब परीषहों को सु-मन से (समभाव से) सहन करे और कोलाहल (हल्ला) न मचाए।

[१०]

२४. पाणे य नाइवाएज्जा से समिए त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं निज्जाइ उदगं व थलाओ।। (उ० ८ : ६)

जो जीवों की हिंसा नहीं करता और उनका त्रायी होता है, वह 'समित' (सब तरह से सावधान) कहलाता है। उच्च स्थान से जैसे पानी निकल जाता है, वैसे ही अहिंसा से निरन्तर भावित प्राणी के कर्म-समूह दूर हो जाते हैं।

[११]

२५. जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ इह केवलिभासियं।। (अनु० ७, ८ : २)

जो त्रस और स्थावर—सर्व जीवों के प्रति समभाव रखता है, उसी के सच्ची सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

४. अहिंसा की महिमा

१. णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि।
जह तह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि।। (भग० आ० ७८४)

जैसे इस जगत् में अणु से छोटी दूसरी वस्तु नहीं है और आकाश से बड़ी कोई चीज नहीं है, उसी प्रकार अहिंसा व्रत के समान सूक्ष्म या उससे बड़ा कोई व्रत नहीं है।

२. जह पव्वदेसु मेरू उव्वाओ होइ सव्वलोयम्मि।
तह जाणसु उव्वायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा।। (भग० आ० ७८५)

जैसे सर्व जगत् में समस्त पर्वतों में मेरुपर्वत ऊँचा है, वैसे ही यह अहिंसा व्रत संपूर्ण शील और समस्त व्रतों में उत्कृष्ट है।

३. सव्वो वि जहायासे लोगो भूमीए सव्वदीउदधी।
तह जाण अहिंसाए वदगुणसोलाणि तिठ्ठंति।। (भग० आ० ७८६)

जैसे यह सारा लोक आकाश में है, और सर्व द्वीप और समुद्र पृथ्वी पर, वैसे ही व्रत, गुण और शील ये सब अहिंसा में स्थित हैं।

४. कुव्वंतस्स वि जत्तं तुंबेण विणा ण ठंति जह अरया।
अरएहिं विणा य जहा णठ्ठं णेमी दु चक्कस्स।।
तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणी ठंति सव्वाणि।
तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स।।
(भग० आ० ७८७-८८)

कितना भी प्रयत्न करो, तुंबी के बिना चक्र के आरे नहीं रह सकते हैं और आरों के बिना चक्र की नेमी नष्ट हो जाती है। वैसे ही अहिंसा के बिना सर्व शील नहीं टिकते। जैसे धान्य की रक्षा के लिए बाड़ होती है वैसे ही अहिंसा की रक्षा के लिए शील-व्रत हैं।

५. सीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति।। (भग० आ० ७८६)

शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निष्परिग्रहता और विषय-सुख का त्याग—ये सर्व जीव हिंसा करनेवाले के लिए निरर्थक हो जाते हैं।

६. सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु।। (भग० आ० ७६०)

यह अहिंसा सर्व आश्रमों का हृदय है, सर्व शास्त्रों का गर्भ है और सर्व व्रतों का पिंडभूत—निचोड़ा हुआ सार है।

७. जम्हा असच्चवयणादिएहिं दुक्खं परस्स होदित्ति।
तप्परिहारो तम्हा सव्वे वि गुणा अहिंसाए।।(भग० आ० ७६१)

असत्य बोलने से, न दी हुई वस्तु लेने से, मैथुन से और परिग्रह से पर को दुःख होता है। अतः असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग अहिंसा के ही गुण हैं, ऐसा समझना चाहिए।

८. गोबंभणित्थिवधमेत्तिणियत्ति जदि हवे परमधम्मो।
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया।। (भग० आ० ७६२)

गोहत्या, ब्राह्मणहत्या, स्त्रीवध—इनसे निवृत्त होना यदि उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है, तो सर्व जीवों पर दया करना उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जाएगा?

५. यतना धर्म

१. अजयं चरमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं।। (द० ४ : १)

अयतनापूर्वक चलनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

२. अजयं चिट्ठमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं।। (द० ४ : २)

अयतनापूर्वक खड़ा होनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

३. अजयं आसमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं।। (द० ४ : ३)

अयतनापूर्वक बैठनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

४. अजयं सयमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं।। (द० ४ : ४)

अयतनापूर्वक सोनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

५. अजयं भुंजमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं।। (द० ४ : ५)

अयतनापूर्वक भोजन करनेवाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

६. अजयं भासमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं।। (द० ४ : ६)

अयतनापूर्वक बोलने वाला पुरुष (जीव मरे या न मरे) त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बन्ध होता है, जिसका फल उसके लिए कटुक होता है।

७. कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ?।।[1] (द० ४ : ७)

---

१. मू० १०१२ :
कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण बज्झई।।

कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ?— जिससे पाप-कर्म का बन्ध न हो।

८. जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई।।[1] (द० ४ : ८)

यतनापूर्वक चलने, यतनापूर्वक खड़ा होने, यतनापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक सोने, यतनापूर्वक भोजन करने और यतनापूर्वक बोलनेवाला संयमी पुरुष पाप-कर्मों का बन्ध नहीं करता।

९. सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई।। (द० ४ : ९)

जो जगत् के सब जीवों को आत्मवत् समझता है, जो जगत् के सब जीवों को समभाव से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका और जो दान्त है, उसके पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता।

१०. आदाणे णिक्खेव वोसरणे ठाणगमणसयणेसु।
सव्वत्थ अप्पमत्तो दयापरो होहु हु अहिंसो।। (भग० आ० ८१८)

किसी वस्तु को उठाने में, रखने में, त्याग करने में तथा खड़ा होने, चलने, शयन करने आदि कार्यों में सर्वत्र अप्रमत्त रहता हुआ जो दयावान् होता है, वह निश्चय ही अहिंसक है।

११. जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ।
सो जीवहं परिहरदु सया जो णिज्जियकसाओ।। (भग० आ० ८१७)

जीव कषाय के अत्यन्त वश में होकर जीवों का घात करता है। जो कषाय को जीत लेता है, वह सदा जीव-हिंसा का परिहार करता है अर्थात् सदा अहिंसक है।

१२. जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि।
तम्हि सुहे निस्संगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा।। (भग० आ० ८१६)

जीवों का वध किए बिना इन्द्रिय-जन्य सुखों की प्राप्ति नहीं होती। अतः जिसकी इन्द्रिय-सुख में आसक्ति नहीं होती वही अहिंसा का रक्षण करता है।

---

१. मू० १०१३ :
जदं चरे जदं चिट्ठे जदं मासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं न बज्झई।।

: १६ :

मृषावाद-विरति

१. मृषावाद

१. मुसावाओ य लोगम्मि सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए।। (द० ६ : १२)

इस समूचे लोक में मृषावाद सब साधुओं द्वारा गर्हित है और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। अतः मुमुक्षु असत्य न बोले।

२. वितहं पि तहामुत्तिं जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुण जो मुसं वए।। (द० ७ : ५)

जो पुरुष बाह्य आधार से सत्य बोलने पर भी वास्तव में असत्य बोल जाता है उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है[1] तो फिर उनका क्या कहना जो साक्षात् मृषा (झूठ) बोलता है।

३. अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया नो वि अन्नं वयावए।। (द० ६ : ११)

मुमुक्षु अपने या दूसरों के लिए क्रोध से या भय से पीड़ाकारक सत्य और असत्य न बोले, न दूसरों से बुलवाए।

४. मादाए वि य वेसो पुरिसो अलिएण होइ इक्केण।
किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिएण सत्तुव्व।।(भग० आ० ८४६)

इस एक असत्य भाषाणरूपी दोष से झूठ बोलनेवाला मनुष्य माता का भी अविश्वसनीय हो जाता है, फिर अन्य अनेक लोगों के लिए वह शत्रु के समान क्यों नहीं होगा ?

५. अप्पच्चओ अकित्ती भंभारदिकलहवेरभयसोगा।
वधबंधभेदणाणा सव्वे मोसम्मि सण्णिहिदा।। (भग० आ० ८४८)

अविश्वास, अकीर्ति, संक्लेश, अरति, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बंधन, स्वजन-भेद, धन-नाश आदि सारे दोष असत्य भाषण में सन्निहित हैं।

---

१. स्त्री पुरुष वेश में है। यह मालूम न हो और उसे बाह्य वेश के आधार पर पुरुष कहे तो इससे भी पाप होता है।

६. पापस्सागमदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा। (भग० आ० ८४६)

जिनेन्द्र भगवान् ने असत्य वचन को पाप के आगमन का द्वार कहा है।

७. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरंते।
(उ० ३२ : ३१)

असत्य बोलने के पश्चात् पहले और बोलने के समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है।

८. परिहर असंतवयणं सव्वं पि चतुव्विधं पयत्तेण।
धत्तं पि संजमिंतो भासादोसेण लिप्पदि हु।। (भग० आ० ८२३)

हे मनुष्य ! तू चार प्रकार के सर्व असत्य का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर। संयम का आचरण करता हुआ भी मनुष्य भाषा-दोष के कारण कर्मों से लिप्त होता है।

९. पढमं असंतवयणं संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो। (भग० आ० ८२४)

प्रथम असत्य वचन अस्तित्व रूप वस्तु का निषेध करना है।

१०. जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु। (भग० आ० ८२६)

जो वस्तु नहीं है उसके विषय में—वह है, ऐसा कहना असत्य वचन का दूसरा भेद है।

११. तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अण्णजादीगं। (भग० आ० ८२८)

एक जाति के सत् पदार्थ को अन्य जाति का कहना असत्य का तीसरा प्रकार है।

१२. जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं।
जं वा अप्पियवयणं असत्तवयणं चउत्थं च।। (भग० आ० ८२९)

जो भी गर्हित वचन, सावद्य से संयुक्त वचन, अप्रिय वचन है वह चौथे प्रकार का असत्य वचन है।

१३. कक्कस्सवयणं णिठ्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च।
जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण।। (भग० आ० ८३०)

कर्कश वचन, निष्ठुर वचन, उपहासपूर्ण वचन, पैशुन्ययुक्त वचन, प्रलाप रूप वचन—संक्षेप में ये सब गर्हित वचन हैं।

१४. जत्तो पाणवधादी दोसा जायति सावज्जवयणं च।
अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं।। (भग० आ० ८३१)

जिस वचन से प्राणातिपात आदि दोष उत्पन्न हों वह सावद्य वचन है। जैसे बिना विचारे चोर को चोर कहना।

१५. परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ।
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण।। (भग० आ० ८३२)

पुरुष वचन, कटु वचन, वैर, कलह, भय को उत्पन्न करनेवाला वचन, त्रास उत्पन्न करनेवाला वचन, अवज्ञा करनेवाला वचन संक्षेप में अप्रिय वचन है।

१६. हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण।
एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण।। (भग० आ० ८३३)

उपर्युक्त असत्य तथा हास्य, भय, लोभ, क्रोध, द्वेष इत्यादि कारणों से जो असत्य भाषण किया जाता है उसका तू प्रयत्नपूर्वक विशेष रूप से त्याग कर।

२. सत्यवादी : असत्यवादी

१. माया व होइ विस्सस्सणिज्ज पुज्जो गुरुव्व लोगस्स।
पुरिसो हु सच्चवादी होदि हु सणियल्लओव्व पिओ।।
(भग० आ० ८४०)

सत्यवादी पुरुष लोगों के लिए माता के समान विश्वसनीय, गुरु के समान पूजनीय और निकटतम बंधु के समान प्रिय होता है।

२. सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो तह वसे सया वि गुणा।
सच्चं णिबंधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छाणं।। (भग० आ० ८४२)

सत्य ही तप है। सत्य में ही संयम और शेष सभी गुण समाहित हैं। जैसे समुद्र मछलियों का आश्रय-स्थल होता है वैसे ही सत्य सब गुणों का आश्रय-स्थल है।

३. सच्चेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि।
अदिसंजदो य मोसेण होदि पुरिसेसु तणलहुओ।। (भग० आ० ८४३)

दूसरे गुण न होने पर भी सत्यवादी पुरुष सत्य के बल से ही जगत् में प्रमाणभूत होता है। संयमी पुरुष भी यदि असत्यवादी हो तो वह तिनके के समान तुच्छ होता है।

४. होदु सिहंडी व जडी मुंडो वा णग्गओ व चीवरधरो।
जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सव्वा।।
(भग० आ० ८४४)

कोई शिखाधारी हो, जटाधारी हो, मुंड हो, नग्न हो, वस्त्रधारी हो—यदि वह असत्य वचन बोलता है तो उसकी ये सारी बातें विडम्बना-स्वरूप हैं।

५. जह परमण्णस्स विसं विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा।
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसच्चं।।
(भग० आ० ८४५)

जैसे विष क्षीर का विनाश कर देता है और जरा यौवन का विनाश कर देती है, वैसे ही असत्य को अहिंसा आदि सर्व गुणों का विनाशक समझना चाहिए।

६. ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ।
सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि।।
(भग० आ० ८३८)

सत्यवादी को अग्नि नहीं जला पाती, पानी डुबोने में असमर्थ होता है। सत्य से बली पुरुष को बड़े वेग से पर्वत पर से गिरनेवाली नदी भी नहीं बहा पाती।

७. अलियं स किं पि भणिदं घादं कुणदि बहुगाण सव्वाणं।
अदिसकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो।।
(भग० आ० ८४७)

एक बार भी बोला हुआ असत्य भाषण अनेक बार बोले हुए सत्य भाषाणों का संहार कर देता है। असत्यवादी पुरुष स्वयं भी मन में शंकित रहता है।

८. सच्चं धितिं कुव्वह। (आ० १, ३ (२) : ४०)

तू सत्य में धृति कर।

९. एत्थोवरए मेहादी सव्वं पाप-कम्मं झोसेति।
(आ० १, ३ (२) : ४१)

सत्य में रत रहनेवाला मेधावी सर्व पाप-कर्म का क्षय कर डालता है।

१०. पुरिसा ! सच्चमेव समभि जाणाहि। (आ० १, ३ (३) : ६५)

हे पुरुष ! तू सत्य को अच्छी तरह जान।

११. सच्चस्स आणाए उपट्ठिए से मेहाबी मारं तरति।
(आ० १, ३ (३) : ६६)

जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है।

: २० :

अदत्तादान-विरति

१. रूवे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं।। (उ० ३२ : २९)

रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और भाव—इन विषयों में अतृप्त और उनके परिग्रहण में गाढ़ आसक्तिवाला मनुष्य तुष्टि (संतोष) नहीं पाता और अतुष्टि दोष से दुखी और लोभ से कलुषित वह आत्मा दूसरे की न दी हुई इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है।

२. जह मारुवो पवड्ढइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा।
जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ।। (भग० आ० ८५६)

जैसे वायु क्षण-भर में बढ़कर विस्तीर्ण हो जाती है, बादल भी क्षण-भर में बढ़कर सारे आकाश को व्याप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार पहले जीव का लोभ मंद होने पर भी क्षण-भर में विस्तीर्ण हो जाता है।

३. लोभे य वढ्ढिदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि।
तो अप्पणो वि मरणं अगणिंतो चोरियं कुणइ।। (भग० आ० ८५७)

लोभ के बढ़ जाने पर मनुष्य कार्याकार्य का विचार नहीं करता और अपने मरण की भी परवाह न करता हुआ चोरी करता है।

४. सव्वो उवहिदबुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सव्वो वि।
सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हियमंमि अदिदुहिदो।। (भग० आ० ८५८)

सभी लोगों की बुद्धि धन में आसक्त रहती है, उनका हृदय धन में रहता है। धन का हरण होने पर मनुष्य शक्ति नामक शस्त्र के प्रहार से विद्ध होने के समान हृदय में अत्यन्त दुःखित होता है।

५. अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि।
मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स।।(भग० आ० ८५९)

दूसरे के द्वारा धन के हरण किये जाने पर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। उसकी चेतना लुप्त हो जाती है। 'मेरा धन', 'मेरा धन' करता हुआ वह मर जाता है, क्योंकि अर्थ मनुष्य का जीवन होता है।

६. अत्थे संतम्मि सुहं जीवदि सकलत्तपुत्तसंबंधी।
अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविदं तेसिं।। (भग० भा० ८६१)

धन से मनुष्य भार्या, पुत्र, सम्बन्धी आदि के साथ सुखपूर्वक जीता है। धन के हरण से उसकी भार्या, पुत्र आदि के जीवन का हरण होता है।

७. चोरस्स णत्थि हियए दया च लज्जा दमो व विस्सासो।
चोरस्स अत्थहेदुं णत्थि य कादव्वयं किं पि।। (भग० आ० ८६२)

चोर के मन में न दया होती है और न लज्जा, न संयम होता है और न विश्वास। धन को पाने के लिए चोर के लिए कुछ अकार्य नहीं है।

८. अण्णं अवरज्झंतस्स दिंति णिययं घरम्मि आवासं।
माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्क सीलस्स।। (भग० आ० ८६४)

अन्य अपराध करनेवालों को लोक अपने घर में आश्रय देता है, परन्तु लोक तो क्या चोरी करनेवाले मनुष्य को उसकी माता भी आश्रय नहीं देती।

९. उंदरकंदपि सद्दं सुच्चा परिवेवमाणसव्वंगो।
सहसा समुच्छिदभओ उव्विग्गो धावदि खलंतो।। (भग० आ० ८६६)

चूहे का शब्द सुनकर भी चोर के सारे अंग भय से थर-थर काँपने लगते हैं और वह डरकर भागने लगता है और गिर पड़ता है।

१०. धत्तिं पि संजमंतो घेत्तूण किलिंदमेत्तमविदिण्णं।
होदि हु तणं व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरी व्व।। (भग० आ० ८७०)

संयम का पालन करता हुआ मनुष्य न दिया हुआ तृणमात्र भी ग्रहण कर चोर के समान अविश्वासी बन जाता है और तिनके के समान हल्का हो जाता है।

११. चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि ओग्गहंसि अजाइया।।
तं अप्पणा न गेण्हंति नो वि गेण्हावए परं।
अन्नं वा गेण्हमाणं पिनाणुजाणति संजया।। (द० ६ : १३-१४)

अतः संयमी पुरुष सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या बहुत, दाँता कुरेदने का तिनका तक भी उसके स्वामी की आज्ञा बिना स्वयं ग्रहण नहीं करता, न दूसरे से ग्रहण करवाता है और न ग्रहण करनेवाले को भला समझता है।

१३. आयाणं नरयं दिस्स नायएज्ज तणामवि।[1] (उ० ६-७)

बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण में नरक देखकर तृण-मात्र भी बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए।

---

१. भग० आ० ८५३।

: २१ :

अब्रह्मचर्य-विरति

१. ब्रह्मचारी और उपलब्धियाँ

१. वाऊ व जालमच्चेइ पिया लोगंसि इत्थिओ।
इत्थिओ जे ण सेवंति आदिमोक्खा हु ते जणा।।
(सू० १, १५ : ८, ६)

जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को पार कर जाती है, वैसे ही पराक्रमशाली पुरुष इस लोक में प्रिय स्त्रियों के मोह को उल्लंघन कर जाते हैं।

जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते वे मोक्ष पहुँचने में सबसे अग्रसर होते हैं।

२. जे विण्णवणाहिऽजोसिया संतिण्णेहि समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढं ति पासहा अद्दक्खू कामाइं रोगवं।।
(सू० १, २ (३) : २)

काम को रोग-रूप समझकर जो स्त्रियों से अभिभूत नहीं है, उन्हें मुक्त पुरुषों के समान कहा है। इसलिए मोक्ष को देखो और कामों को रोग-रूप समझो।

३. णीवारे व ण लीएज्जा छिण्णसोते अणाइले।
अणाइले सदा दंते संधिं पत्ते अणेलिसं।। (सू० १, १५ : १२)

स्त्री-प्रसंग सूअर को फँसानेवाले चावल के कण की तरह है। विषय और इन्द्रियों को जीतकर जो छिन्नस्रोत हो गया है तथा जो राग-द्वेष रहित है वह स्त्री-प्रसंग में न फँसे। जो विषय-भोगों में अनाकुल और सदा इन्द्रियों को वश में रखनेवाला पुरुष है वह अनुपम भाव-सन्धि (कर्म क्षय करने की मानसिक दशा) को प्राप्त करता है।

४. जहा णई वेयरणी दुत्तरा इह सम्मता।
एवं लोगंसि णारीओ दुत्तरा अमईमया।। (सू० १,३ (४) : १६)

जिस तरह नदियों में वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है, उसी तरह इस लोक में अविवेकी पुरुष के लिए स्त्रियों का मोह जीतना कठिन है।

५. जेहिं णारीण संजोगा पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेयं णिराकिच्चा ते ठिया सुसमाहिए।। (सू० १, ३ (४) : १७)

जिन पुरुषों ने स्त्री-संसर्ग और काम-शृंगार को छोड़ दिया है, वे समस्त विघ्नों को जीतकर उत्तम समाधि में निवास करते हैं।

५. एए ओघं तरिस्संति समुद्दं व ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसण्णासी किच्चंती सयकम्मुणा।।
(सू० १, ३ (४) : १८)

ऐसे पुरुष इस संसार-सागर को, जिसमें दूसरे जीव डूब गए हैं और अपने-अपने कर्मों से दुःख पाते हैं, उसी तरह तिर जाते हैं जिस तरह वणिक् समुद्र को।

७. देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति दुक्करं जे करंति तं।। (उ० १६ : १६)

देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी उस ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

२. ब्रह्मचर्य-साधना-सूत्र

१. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स।। (भग० आ० ८७८)

आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा में ही चर्या करना ब्रह्मचर्य है। जो साधक परदेह से विमुक्त होकर ब्रह्म में चर्या करता है वही सच्चा ब्रह्मचारी है।

२. मण बंभचेर वचि बंभचेर तह काय बंभचेरं च।
अहवा हु बंभचेरं दव्वं भावं ति दुवियप्पं।। (मू० ६६४)

मन में ब्रह्मचर्य, वचन में ब्रह्मचर्य और काय में ब्रह्मचर्य—इस तरह ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है अथवा द्रव्य-ब्रह्मचर्य और भाव-ब्रह्मचर्य—इस प्रकार दो तरह का है।

३. भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी।। (मू० ६६५)

जो भावतः (अंतरंग से) विरत है वही वास्तव में विरत है। जो केवल द्रव्यतः (बाहर से) विरत है उसकी सुगति नहीं होती। इसलिए मनरूपी हाथी को—जो विषय-वन में रमण करता है—वश में करना चाहिए।

४. पढसं विउलाहारं बिदियं कायसोहणं।
तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं।।
तह सयणसोधणंपि य इत्थिसंसग्गंपि अत्थसंगहणं।
पुव्वरदिसरणमिंदियविसयरदी पणीदरससेवा।।

दसविहमव्वंभमिणं संसारमहादुहाणमावाहं।
परिहरइ जो महप्पा सो दढबंभव्वदो होदि।। (मू० ६६६-६८)

बहुत भोजन करना, शरीर-शृंगार, गन्धमाल्य का धारण, गीत-वादित्र का सुनना, शयन—शृंगारपूर्ण घर—चित्रशाला की खोज, स्त्री-संसर्ग, भोग्य वस्तुओं का संग्रह, भोगे हुए भोगों का स्मरण, इन्द्रियों के विषय में प्रेम और इष्ट-पुष्ट रस का सेवन—इस तरह दस प्रकार का अब्रह्मचर्य है, जो संसार के दुःखों का उत्पत्ति-स्थान है। जो महात्मा इनका त्याग करता है, वह दृढ़ ब्रह्मचर्य व्रत का धारी होता है।

५. एवं विसग्गिभूदं अब्बंभं दसविहंपि णादव्वं।
आवादे मधुरम्मिव होदि विवागे य कडुयदरं।। (भग० आ० ८८१)

यह दस प्रकार का अब्रह्म विष और अग्नि के समान है। यह अब्रह्म आदि में बड़ा मधुर होता है पर विपाक के समय कड़वा होता है।

६. संकप्पंडयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण।
विसयबिलवासिणा रदिमुहेण चिंतादिरोसेण।। (भग० आ० ८६०)

यह कामरूपी सर्प संकल्परूपी अंडे से उत्पन्न होता है। राग और द्वेष इसकी दो जिह्वाएँ हैं। यह विषयरूपी बिल में रहता है। विषयासक्ति ही इसका मुख है और यह चिन्तारूपी रोष से युक्त है।

७. जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होंति।
सव्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स।। (भग० आ० ८८३)

जितने भी दोष इहलोक और परलोक में दुःखों को उत्पन्न करनेवाले हैं, वे सब मनुष्य की अब्रह्मचर्य की इच्छा से ही पैदा होते हैं।

८. आलओ थीजणाइण्णो थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं तासिं इंदियदरिसणं।।
कूइयं रुइयं गीयं हसियं भुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयणं।।
गतभूसणमिट्ठं च कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा।। (उ० १६ : ११-१३)

(१) स्त्रियों से आकीर्ण निवास, (२) मनोहर स्त्री-कथा, (३) स्त्रियों से संसर्ग और परिचय, (४) उनकी इन्द्रियों का दर्शन, (५) उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्य का सुनना, (६) भुक्त भोग और उनके साथ एकासन का स्मरण, (७) स्निग्ध रसदार भक्त-पान, (८) अति मात्रा में खान-पान, (९) शरीर-शृंगार की इच्छा तथा

(१०) कामभोग—शब्दादि विषयों—में आसक्ति (ये सब बातें प्रिय होती है और उनका त्याग बड़ा कठिन होता है परन्तु) आत्मगवेषी पुरुष के लिए सब तालपुट विष की तरह है।

१०. जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं।। (द० ८ : ५३)

जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से हमेशा (प्राण-नाश का) भय (बना रहता) है, उसी तरह ब्रह्मचारी को स्त्री-शरीर से (शील-भंग का) भय (बना रहता) है।

११. चित्तभित्तिं न निज्झाए नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे।। (द० ८ : ५४)

आत्मगवेषी पुरुष चित्र-भित्ति (स्त्रियों के चित्रों से चित्रित दीवार) या सुअलंकृत नारी को गिद्धं-दृष्टि से न देखे। ऐसे चित्र अथवा स्त्री को देखकर वह अपनी दृष्टि उसी तरह प्रतिसमाहृत करे—खींच ले—जैसे भास्कर (की किरणों) को देखकर मनुष्य आँखों को खींच लेता है।

१२. वीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्सवि तहित्थिरुवस्स।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स।। (मू० ६६०)

काठ से बने हुए स्त्रीरूप से भी सदा डरना चाहिए क्योंकि कारणवश उससे भी जीव का मन चलायमान हो जाता है।

१३. अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीणं तं न निज्झाए कामरागविवड्ढणं।। (द० ८ : ५७)

स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, संस्थान, उनकी मनोहर बोली और चक्षु-विन्यास (कटाक्ष)—इन सब पर ब्रह्मचारी ध्यान न लगावे। ये बातें कामराग की वृद्धि करनेवाली हैं।

१४. मायाए वहिणीए धूआए मूइय वुड्ढ इत्थीए।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं।। (मू० ६६२)

माता, बहन, पुत्री, गूँगी, बूढ़ी स्त्री से भी सदा डरते रहना चाहिए। निरपेक्ष भाव से स्त्री के रूप का निरीक्षण नहीं करना चाहिए।

१५. विसएसु मणुन्नेसु पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय परिणामं पोग्गलाण य।। (द० ८ : ५८)

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पुद्गल-परिणामों को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग-भाव न करे।

१६. पोग्गलाण परिणामं तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे सीईभूएण अप्पणा।। (द० ८ : ५६)

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पुद्गल-परिणामों को यथातथ्य जानकर ब्रह्मचारी तृष्णारहित हो उपशान्त आत्मापूर्वक विहार करे।

१७. घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी वलंतअग्गिसमा।
तो महिलेयं दुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इदरे।। (मू० ६६१)

पुरुष घी से भरे हुए घड़े के समान है और स्त्री जलती हुई अग्नि के समान। जिन पुरुषों ने स्त्री का संसर्ग प्राप्त किया वे नाश को प्राप्त हुए, और जो उससे बचे वे मोक्ष को गये।

१८. अह सेऽणुतप्पई पच्छा भोच्चा पायसं व विसमिस्सं।
एवं विवागमायाए संवासो ण कप्पई दविए।।
(सू० १, ४ (१) : १०)

विषमिश्रित खीर का भोजन करनेवाले मनुष्य की तरह स्त्रियों के सहवास में रहने वाले ब्रह्मचारी को पीछे विशेष अनुताप पड़ता है। इसलिए पहले से ही विवेक रखकर मुमुक्षु स्त्रियों के साथ सहवास न करे।

१९. कुव्वंति संथवं ताहिं पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।
तम्हा उ वज्जए इत्थी विसलित्तं व कंटगं णच्चा।।
(सू० १, ४ (१) : १६, ११)

जो स्त्रियों के साथ परिचय करता है, वह समाधि-योग से भ्रष्ट हो जाता है। अतः स्त्रियों को विष-लिप्त कंटक के समान जानकर ब्रह्मचारी उनके संसर्ग का वर्जन करे।

२०. मा पेह पुरा पणामए अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
जे दूवणया ते हि णो णया ते जाणंति समाहिमाहियं।।
(सू० १, २ (२) : २७)

दीन बनानेवाले पूर्व के भोगे हुए विषय-भोगों का स्मरण मत कर, न उनकी कामना कर। सारी उपाधियों—दुष्प्रवृत्तियों को दूर कर। मन को दुष्ट बनानेवाले विषयों के सामने जो नतमस्तक नहीं होता वह जिन-कथित समाधि को जानता है।

२१. दुज्जए कामभोगे य निच्चसो परिवज्जए।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं।। (उ० १६ : १४)

एकाग्र मनवाला ब्रह्मचारी दुर्जय कामभोगों का सदा वर्जन करे तथा ब्रह्मचर्य के लिए जो विघ्न के स्थान हों, उन सबसे दूर रहे।

: २२ :

परिग्रह-विरति

१. धन का अभिशाप

१. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमंमि लोए अदुवा परत्था।
दीव-प्पणट्ठे व अणंत-मोहे नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव।। (उ० ४ : ५)

प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में। हाथ मे दीपक होने पर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामने का मार्ग दिखाई नहीं देता, उसी तरह से धन के अनन्त मोह में फँसा हुआ मूढ़ मनुष्य पार पहुँचानेवाले मार्ग को देखता हुआ भी नहीं देख सकता।

२. जे पावकम्मेहि धणं मणूसा समाययंता अमइं गहाय।
पहाय ते पास पयट्ठिए नरे वेराणुबद्धा नरयं उवेंति।। (उ० ४ : २)

जो मनुष्य धन को अमृत मानकर अनेक पाप-कृत्यों द्वारा उसे कमाते हैं, उन्हें देख। वे अनेक जीवों से वैर-विरोध बाँधकर सारी धन-सम्पत्ति यहीं छोड़ नरकवास प्राप्त करते हैं।

३. परिव्वयंते अणियत्तकामे अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च।। (उ० १४ : १४)

धन के लिए चक्कर लगानेवाला, काम-लालसा से अनिवृत्त, दूसरों के लिए रात-दिन परिताप करता हुआ प्रमत्त मनुष्य धन की कामना और खोज करते-करते ही जरा और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

४. वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं ममत्तबंधं च महब्भयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं धारेह निव्वाणगुणावहं महं।। (उ० १६ : ६८)

धन को दुःख बढ़ानेवाला, ममत्व-बन्धन का कारण और महा भयावह जानकर उस सुखावह, अनुपम महान् धर्म-धुरा को धारण करो, जो निर्वाण के हेतुभूत गुणों को प्राप्त करानेवाली है।

५. आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे ममाइ से साहसकारि मंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे अट्ठेसुमूढे अजरामरे व्व।।
(सू० १, १० : १८)

आयु पल-पल क्षीण हो रही है, यह न समझकर मन्दबुद्धि मनुष्य दुस्साहसपूर्वक बिना विचारे ममता करता रहता है। धन में आसक्त मूढ़ मनुष्य अजर-अमर पुरुष की तरह रात-दिन धन के लिए परिताप सहन करता है।

६. हम्मदि मारिज्जदि वा बज्झदि रुंभदि य अणवराधे वि।
आमिसहेदुं घण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी।।
(भग० आ० ११४६)

परिग्रही मनुष्य बिना अपराध ही परिग्रह को चाहनेवाले दूसरे लोगों द्वारा पीटा और मारा जाता है तथा बन्द कर दिया जाता है। दूसरे परिग्रहाभिलाषी बनकर उसे दुःख देते हैं। जिसके मुंह में मांस है, ऐसा पक्षी निर्दोष होने पर भी क्या दूसरे मांसाभिलाषी पक्षियों द्वारा नहीं खाया जाता और नहीं लूटा जाता ?

७. थावरं जंगमं चेव धणं धण्णं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं नालं दुक्खाउ मोयणे।। (उ० ६ : ५)

स्थावर और जंगम सम्पत्ति, धन-धान्य और घर-सामान आदि कर्मों से दुःख पाते हुए प्राणी को दुःख से मुक्त करने में समर्थ नहीं होते।

८. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च पुत्तदारं च बंधवा।
चइत्ताणं इमं देहं गंतव्वमवसस्स मे।। (उ० १६ : १६)

मनुष्य को सोचना चाहिए—क्षेत्र (भूमि), घर, सोना-चाँदी, पुत्र, स्त्री, बान्धव तथा इस देह को भी छोड़कर मुझे एक दिन अवश्य जाना पड़ेगा।

९. चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।
अण्णं वा अणुजाणाइ एवं दुक्खा ण मुच्चई।। (सू० १, १ (१) : २)

जब तक मनुष्य सचित्त या अचित्त (कामिनी-कांचन आदि) पदार्थों में थोड़ा भी परिग्रह (ममत्व, आसक्ति) रखता है या रखनेवाले का अनुमोदन करता है, तब तक वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

१०. जस्सिं कुले समुप्पण्णे जेहिं वा संवसे णरे।
ममाती लुप्पती बाले अण्णमण्णेहिं मुच्छिए।। (सू० १, १ (१) : ४)

मूर्ख मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न होता है अथवा जिसके साथ निवास करता है उनमें ममत्व करता हुआ अन्यान्य वस्तुओं में मूर्च्छित होता हुआ अन्त में बहुत पीड़ित होता है।

११. वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेयं ण ताणइ।
संधाति जीवितं चेव कम्मणा उ तिउट्टइ।। (सू० १, १ (१) : ५)

धन और सहोदर—ये सब रक्षा करने में समर्थ नहीं होते, तथा जीवन अल्प है—यह जानकर परिग्रह से विरक्त होनेवाला कर्मों से छूट जाता है।

१२. जो संचिऊण लच्छि धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण-समाणियं कुणदि।। (द्वा० अ० १४)

जो पुरुष लक्ष्मी का संचय कर उसे बहुत नीचे जमीन में गाड़ता है वह लक्ष्मी को पत्थर बना देता है।

१३. लच्छी-संसत्त-मणो जो अप्पाणं धरेदि कट्ठेण।
सो राइ-दाइयाणं कज्जं साहेदि मूढप्पा।। (द्वा० अ० १६)

जो पुरुष लक्ष्मी में मन से आसक्त होकर कष्ट से अपना गुजर करता है वह मूढ़ात्मा राजा तथा कुटुम्बियों का कार्य सिद्ध करता है।

१४. जो वड्ढारदि लच्छिं बहु-विह-बुद्धीहिं णेय तिप्पेदि।
सव्वारंभ कुव्वदि रत्ति-दिणं तं पि चिंतेई।।
ण य भुंजदि वेलाए चिंतावत्थो ण सुयदि रयणीए।
सो दासत्तं कुव्वदि किमोहिदो लच्छि तरुणीए।।
(द्वा० अ० १७, १८)

जो पुरुष अनेक प्रकार की बुद्धि के द्वारा लक्ष्मी को बढ़ाता है, तृप्त नहीं होता, उसके लिए सर्व आरंभ करता है, रात-दिन उसी का चिंतन करता है, समय पर भोजन नहीं करता, चिंतित होता हुआ रात में भी नहीं सोता वह लक्ष्मी-रूपी युवती पर मोहित हो उसका दासत्व करता है।

२. परिग्रही बनाम निष्परिग्रही

१. रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा।
तो तइया घेत्तुं जे गंथे बुद्धी णरो कुणइ।। (भग० आ० ११२१)

राग, लोभ, मोह, संज्ञा, गौरव आदि का उदय होता है, तब मनुष्य धन आदि परिग्रह के संग्रह की बुद्धि करता है।

२. मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं।
गंथणिमित्तं जग्गइ कंक्खंतो सव्वरत्तीए।। (भग० आ० ११४७)

परिग्रही मनुष्य माता, पिता, पुत्र और स्त्री का भी विश्वास नहीं करता। परिग्रह की रक्षा के लिए सारी रात ठुनकता हुआ जागता रहता है।

३. सोदूण किंचसद्दं सग्गंथो होइ उट्ठिदो सहसा।
सव्वतो पिच्छंतो परिमसदि पलादि मुज्झदि य।।
(भग० आ० ११५०)

थोड़ा-सा भी शब्द सुनकर परिग्रही सहसा खड़ा हो जाता है, चारों ओर देखने लगता है, सोच में पड़ जाता है, भय से भागने लगता है अथवा मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है।

४. संगणिमित्तं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा।
पहणेज्ज व मारेज्ज व मारेजेज्ज व य हम्मेज्जा।।
(भग० आ० ११५३)

परिग्रह के लिए क्रुद्ध हुआ मनुष्य कलह करता है, हल्ला मचाता है, वैर करता है, दूसरों को मारता है, पीटता है, उनके प्राण हरण करता है अथवा दूसरों के द्वारा वही मारा पीटा जाता है।

५. जदि वि कहंचि वि गंथा संचीएजण्ह तह वि से णत्थि।
तित्ती गंथेहिं सदा लोभो लाभेण वड्ढदि खु।। (भग० आ० ११४२)

यदि किसी उपाय से परिग्रह का संग्रह भी हो जाता है, तो मनुष्य को उससे तृप्ति नहीं होती, क्योंकि लाभ से सदा लोभ ही बढ़ा करता है।

६. जध इंधणेहिं अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं।
तह जीवस्स य तित्ती अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि।।
(भग० आ० ११४३)

जैसे ईंधन से अग्नि की और हजारों नदियों से लवण-समुद्र की तृप्ति नहीं होती, वैसे ही तीनों लोकों की प्राप्ति हो जाने पर भी जीव की तृप्ति नहीं होती।

७. तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्स घण्णचित्तस्स।
किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स।।
(भग० आ० ११४५)

जिसका चित्त लोभ से लंपट हो रहा है, जिसे संतोष नहीं है, जो सदा हाय-हाय करता रहता है, जो आशा से ग्रस्त है, उसे क्या कभी सुख हो सकता है ?

८. संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं।
भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमिव य जीवो।।
(भग० आ० ११२५)

परिग्रह के लिए ही मनुष्य हिंसा करता है, मिथ्या वचन बोलता है, चोरी करता है, अपरिमित इच्छा रखता है और मैथुन का सेवन करता है।

९. सण्णागारवपेसुण्णकलहफरुसाणि णिठ्ठुरविवादा।
संगणिमित्तं ईसासूयासल्लाणि जायंति।। (भग० आ० ११२६)

परिग्रह के निमित्त से ही संज्ञा, गौरव, पैशून्य, कलह, कठोरता, निष्ठुर विवाद, ईर्ष्या, असूया और शल्य उत्पन्न होते हैं।

१०. संगा हु उदीरंति कसाए अग्गीव कठ्ठाणि।
(भग० आ० : ११७५)

परिग्रह निश्चय से ही क्रोधादि कषायों को वैसे ही प्रदीप्त करते हैं, जैसे काष्ठ अग्नि को।

११. जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स।। (भग० आ० ११२०)

जैसे तुष सहित तंदुल का अंतर्मल दूर नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार परिग्रह-सहित जीव का मोहरूपी मल दूर नहीं किया जा सकता।

१२. आसं तण्हं संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च। (भग० आ० ११८१)

सर्व परिग्रहों की आशा और तृष्णा का त्याग कर। संग, ममत्व और मूर्च्छा का त्याग कर।

१३. अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो। (स० सा० २१२)

इच्छा (ममत्व) का त्याग ही अपरिग्रह है।

१४. रागो हवे मणुण्णे विसए दोसो य होइ अमणुण्णे।
गंथच्चाएण पुणो रागद्दोसा हवे चत्ता।। (भग० आ० ११७०)

इष्ट विषयों मे रागभाव उत्पन्न होता है और अनिष्ट विषयों में द्वेष उत्पन्न होता है। परिग्रह के त्याग से राग और द्वेष दोनों का परित्याग होता है।

१५. गंथच्चाएण पुणो भावविसुद्दी वि दीविदा होइ।
ण हु संगघडिदबुद्धी संगे जदिहुं कुणदि बुद्धी।। (भग० आ० ११७४)

परिग्रह के त्याग से भावविशुद्धि दीप्त होती है। परिग्रह में जिसका मन लुब्ध होता हे, वह परिग्रह के त्याग करने की इच्छा नहीं करता।

१६. सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिब्भओ य सव्वत्थ।
होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सव्वत्थ।।
(भग० आ० ११७७)

निष्परिग्रही मनुष्य सर्वत्र स्वाधीन होता है। उसे कहीं भी भय नहीं होता। वह आरम्भ से निवृत्त होता है। वह सब जगह काम की चिन्ता से मुक्त होता है।

१७. भारक्कंतो पुरिसो भारं ऊरुहिय णिव्वुदो होइ।
जह तह पयहिय गंथे णिस्संगो णिव्वुदो होइ।। (भग० आ० ११७८)

जैसे भार ढोनेवाला मनुष्य भार को उतारकर सुखी होता है, वैसे ही परिग्रह का त्याग कर अनासक्त रहनेवाला पुरुष सुखी होता है।

१८. सव्वग्गंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ।। (भग० आ० ११८२)

जो सर्व परिग्रह से मुक्त होता है, वह शीतीभूत हो जाता है। उसका अन्तःकरण आत्मानन्द से प्रसन्न होता है। इस तरह उसे जो सुख प्राप्त होता है, वह एक चक्रवर्ती को भी प्राप्त नहीं होता।

१९. सव्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासियं हवदि तस्स।
गुरुगो हि संगसत्तो संक्किज्जइ चावि सव्वत्थ।।
(भग० आ० ११७६)

निष्परिग्रही मनुष्य सर्वत्र हल्का होता है। उसका रूप स्वयं विश्वास उत्पन्न करता है। परिग्रही सब जगह भारी होता है। वह सब जगह अविश्वसनीय होता है।

: २३ :

त्रिशल्य

१. शल्य-दोष

१. जइ कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्धुदो होदि।
तह्मि दु समुट्ठिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि।।(भग० आ० ५३६)

जिस प्रकार किसी के शरीर में कहीं काँटा चुभ जाने पर वह सारे शरीर में वेदना का अनुभव करता है, परन्तु जब शरीर से काँटा निकाल दिया जाता है तब वह निःशल्य होकर पीड़ा से निवृत्त होता है।

२. एवमणुद्धुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ।
सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ।। (भग० आ० ५३७)

ऐसे ही जो मायावी पुरुष अपने दोषरूपी शल्य को दूर नहीं करता है, वह उससे दुःखी होता है। पर जो अपने दोषरूपी शल्य को निकाल देता है वह निःशल्य सुविशुद्ध होकर निवृत्त--पाप-मुक्त होता है।

३. मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च।
अहदा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं।। (भग० आ० ५३८)

शल्य दो प्रकार का जानना चाहिए—द्रव्य और भाव। मिथ्यादर्शन शल्य, माया शल्य और निदान शल्य—ये तीन भावशल्य हैं।

४. तिविहे तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य।
(भग० आ० ५३६)

तीन प्रकार के भावशल्य दर्शन, ज्ञान और योग—इनमें उत्पन्न होते हैं।

५. एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं।
लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि।।(भग० आ० ५४०)

जो लज्जा या अहंवश एक भी भावशल्य को निकाले बिना मृत्यु को प्राप्त होता है, वह आराधक नहीं होता।

६. कल्ले परे व परदो काहं दंसणचरित्तसोधित्ति।
इय संकप्पमदीया गयं पि कालं याणंति।। (भग० आ० ५४१)

कल, परसों अथवा तरसों मैं दर्शन, ज्ञान और चारित्र की शुद्धि करूँगा—जो ऐसा संकल्प करते हैं, वे कितना आयुष्य बीत गया, यह नहीं जानते।

७. रागद्दोसाभिहदा ससल्लमरणं मरंति जे मूढा।
ते दुक्खसल्लबहुले भमंति संसारकांतारे।। (भग० आ० ५४२)

जो मूर्ख राग और द्वेष से पराजित होकर सशल्य मृत्यु को प्राप्त होते हैं वे दुःख-रूपी काँटों से भरे हुए संसार-रूपी जंगल में भ्रमण करते हैं।

८. तिविहं पि भावसल्लं समुद्धरित्ताण जो कुणदि कालं।
पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे।। (भग० आ० ५४३)

जो तीनों ही भाव-शल्यों को निकालकर विशुद्ध हो मृत्यु को प्राप्त होता है वह मरण के समय आराधक होता है।

९. णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं।।
(भग० आ० १२१४)

शल्य रहित पुरुष के ही सारे महाव्रत विशुद्ध होते हैं। जो शल्यों का आश्रय लेते हैं उनके व्रतों का निदान, मिथ्यात्व और माया से उपहनन होता है।

१०. ससल्लो जइ वि कट्टुग्गं, घोरवीरं तवं चरे।
दिव्वं वाससहस्सं पि ततो वी तं तस्स निप्फलं।। (महानि० १, १५)

शल्य सहित व्यक्ति चाहे देवताओं के हजार वर्ष तक भी घोर एवं उग्र तप करे, परन्तु उसका वह सारा प्रयत्न निष्फल जाता है।

२. मिथ्यात्व शल्य

१. संसारमूलहेदुं मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि।
बुद्धिं गुणण्णिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि।। (भग० आ० ७२४)

हे जीव! संसार के मूल कारण मिथ्यात्व को सर्वदा दूर कर। मिथ्यात्व गुणान्वित बुद्धि को निश्चय ही मोहित कर देता है।

२. मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा।
सब्भूदंति असब्भूदं तध मण्णंति मोहेण।। (भग० आ० ७२६)

प्यास से जिनकी आँखें संतप्त हो रही हैं, ऐसे हरिनों को मरीचिका में जल का आभास होने लगता है, वैसे ही मोह के वश जीव असत् पदार्थ को सत् मानने लगता है।

३. मिच्छत्तमोहणादो धत्तूरयमोहणं वरं होदि।
वढ्ढेदि जम्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं।। (भग० आ० ७२७)

मिथ्यात्व से उत्पन्न मोह की अपेक्षा धतूरे से उत्पन्न मोह अच्छा होता है। मिथ्यात्व जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है, जबकि धतूरे से उत्पन्न मोह ऐसा नहीं करता।

४. जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविदो संतो।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं सु कादव्वं।। (भग० आ० ७२८)

यह जीव अनादिकाल से प्रवृत्त मिथ्यात्व की भावना से भावित होता हुआ सम्यक्त्व में रमण नहीं करता। इसलिए सम्यक्त्व में प्रयत्न करना चाहिए।

५. अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हू।
जं कुणदि महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं।। (भग० आ० ७२६)

अग्नि, विष और कृष्ण सर्प आदि उतना दोष नहीं करते जितना जीव का तीव्र मिथ्यात्व करता है।

६. अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं करंति एयभवे।
मिच्छत्तं पुण दोसं करेदि भयकोडिकोडीसु।।(भग० आ० ७३०)

अग्नि, विष, नाग आदि एक ही भव में दोष करते हैं, किन्तु मिथ्यात्व कोटि-कोटि जन्मों तक दोष उत्पन्न करता रहता है।

७. मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति।
विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णीप्पडीयारा।। (भग० आ० ७३१)

मिथ्यात्व-रूपी शल्य से बींधा हुआ प्राणी तीव्र वेदनाओं का अनुभव करता है। विष-लिप्त वाण से बींधे हुए मनुष्य की तरह उसकी वेदना का प्रतिकार नहीं हो पाता।

८. जो जेण पगारेणं भावो णियओ तमन्नहा जो तु।
मन्नति करेति वदति व विप्परियासो भवे एसो।। (स० सु० ५६)

जो भाव जिस प्रकार से नियत है, उसे अन्य रूप से मानता है, करता है अथवा कहता है। यह उसका विपर्यास—मिथ्यात्व है।

६. मिच्छंत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं पि रसं जहा जरिदो।।(पंच० सं० १ : ६)

जो जीव मिथ्यात्व का सेवन करता है वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। उसे धर्म वैसे ही रुचिकर नहीं होता, जैसे ज्वरग्रस्त पुरुष को मधुर रस।

१०. जो जहवायं न कुणइ मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्ना।
वड्ढइ य मिच्छत्तं परस्स संकं जणेमाणो।। (स० सु० ७०)

जो तत्त्वों के अनुसार आचरण नहीं करता, उससे बड़ा मिथ्यादृष्टि अन्य कौन है, वह दूसरों में शंका उत्पन्न करता हुआ अपने मिथ्यात्व को बढ़ाता है।

३. माया शल्य

१. जध कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं।
मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदिं तव समिद्धो वि।।
(भग० आ० १३८२)

जैसे कोट्याधीश होने पर भी यदि शरीर में शल्य प्रविष्ट हो तो वह शारीरिक सुख का अनुभव नहीं कर सकता, वैसे ही तप से समृद्ध होने पर भी माया-रूपी शल्य से बींधा हुआ मनुष्य निवृत्ति—मोक्ष-सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता।

२. पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि।
सच्चाण सहस्साण वि माया एक्का वि णासेदि।।
(भग० आ० १३८४)

माया के कारण अल्प अपराध करने पर भी मायावी जीव महान् दोष को प्राप्त होता है। एक माया सहस्रों सत्याचरणों का नाश करती है।

३. माया करेदि णीचागोदं इच्छी णवुंसयं तिरियं।
मायादोसेण य भवसएसु डंभिज्जदे बहुसो।। (भग० आ० १३८६)

माया से नीच गोत्र की प्राप्ति होती है। माया से स्त्री, नपुंसक और तिर्यञ्च के रूप में जन्म होता है। माया-दोष के कारण जीव सैकड़ों जन्मों में बहुत बार वंचना का शिकार होता है।

४. अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति।
मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो।। (भग० आ० १४३१)

अत्यन्त छिपाए हुए दोष कालांतर में लोग जान लेते हैं तब माया का प्रयोग करने से कौन-सा लाभ प्राप्त होता है ?

५. पडिभोगम्मि असंते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स।
चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पापडो होइ।। (भग० आ० १४३२)

भाग्य प्रबल न हो तो हजारों कपट से छिपाया हुआ भी दोष क्षणमात्र में ही प्रगट हो जाता है जैसे चन्द्रमा का राहू द्वारा ग्रसा जाना।

६. जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स।
जह समलत्ति ण घिप्पदि समलं पि जए तलायजलं।।
(भग० आ० १४३३)

जो भाग्यशाली होता है उसका दोष लोगों को मालूम हो जाने पर भी वे उसको दोष रूप में ग्रहण नहीं करते, जैसे तालाब का जल समल होने पर भी उसे समल नहीं मानते। (इस स्थिति में मायाचार की आवश्यकता नहीं)।

७. डंभसएहिं बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स।
हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो।। (भग० आ० १४३४)

पुण्यहीन मनुष्य द्वारा अनेक दंभ-प्रयोग करने पर भी पुण्य के अभाव के कारण उसके हाथ धन नहीं आता। (ऐसी स्थिति में अर्थ के लिए भी माया करने की आवश्यकता नहीं)।

८. इह य परत्तए लोए दोसे बहुए य आवहइ माया।
इदि अप्पण्णो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया। (भग० आ० १४३५)

माया से इहलोक और परलोक में बहुत दोष उत्पन्न होते हैं। यह सोचकर माया का परित्याग करना चाहिए।

४. निदान (फल-कामना) शल्य

१. संजमसिहरारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि।
पगरिज्ज जइ णिदाणं सोवि य वढ्ढेइ दीहसंसारं।।
(भग० आ० १२२०)

जो संयमरूपी शिखर पर आरूढ़ है, घोर तपरूपी पराक्रम से युक्त है, तीन गुप्तियों से गुप्त है, वह पुरुष भी यदि निदान (फल-कामना) करता है, तो दीर्घ संसार को बढ़ाता है।

२. जो अप्पसुक्खहेदुं कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुहं।
सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकीडिसयमोल्लं।।
(भग० आ० १२२१)

जो अल्प वैषयिक सुख के लिए मोक्ष के परमसुख की अवगणना कर निदान करता है वह अनेक कोटि मुद्रा की मूल्य वाली मणि को काकिणि हेतु बेचता है।

३. सो भिंदइ लोहत्थं णावं भिंदइ मणिं च सुत्तत्थं।
छारकदे गोसीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि।। (भग० आ० १२२२)

जो मनुष्य निदान करता है वह लोह की कील के लिए नौका का भेदन करता है, धागे के लिए मणि के टुकड़े करता है, भस्म के लिए गोशीर्ष चन्दन को जलाता है।

४. कोढी संतो लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं एसो।
सो सामण्णं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण।। (भग० आ० १२२३)

जैसे कोई कुष्ठरोगी मनुष्य कुष्ठरोग नाशक ईख रूपी रसायन को पाकर उसको जलाता है, वैसे ही भोग के लिए निदान करनेवाला मनुष्य सर्व दुःख रूपी रोग का नाश करनेवाले संयम को जलाता है।

५. पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति।
जं पुरिसत्ताइमओ भावो भवमओ य संसारो।।
(भग० आ० १४२४)

मोक्षकामी पुरुष पुरुषत्व, बल, वीर्य आदि का भी निदान करना नहीं चाहता, क्योंकि पुरुषत्वादि पर्याय भी भव ही है और भव संसाररूप है।

६. भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं।
साहोलंबो जह अत्थिदो वि णेको वि भोगत्थं।। (भग० आ० १२४२)

भोगों का निदान करने से साधना भोगों के निमित्त ही हो जाती है। जैसे फल की इच्छा से शाखा को पकड़कर रखनेवाले यात्री की यात्रा फल के लिए ही हो जाती है।

७. आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो।
सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ।। (भग० आ० १२४३)

जैसे एक बकरे से दूसरे बकरे का पीछे हटना आघात करने के लिए ही होता है, उसी तरह निदानयुक्त (फल की कामना करनेवाला) ब्रह्मचर्य मैथुन के लिए ही होता है।

८. जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण।
भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो।। (भग० आ० १२४४)

जैसे वणिक् लोभवश लाभ के लिए अपना माल बेचता है, वैसे ही निदान करनेवाला भोगों के लिए धर्मरूपी माल बेचता है।

९. सपरिग्गहस्स अब्बंभचारिणो अविरदस्स से मणसा।
काएण सीवहणं होदि हु णडसमणरूवं व।। (भग० आ० १२४५)

जो निदान करता है वह परिग्रही है, वह अब्रह्मचारी है, क्योंकि वह मन से विरत नहीं है। वह केवल शरीर से ही शीलव्रत को धारण करनैवाला है। नट की तरह केवल उसका रूप ही साधक का है।

१०. मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं।
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं।।
(भग० आ० १२७४)

जैसे कुएँ के किनारे पर स्थित मनुष्य मधु को ही देखता है, अपने गिरने की ओर ध्यान नहीं देता वैसे ही निदान करनेवाला व्यक्ति भोगों को ही देखता है, दीर्घ संसार (भव-भ्रमण) को नहीं देखता।

११. जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता।
तह संगादिसु जीवा रमंति संसारमगणंता।।
(भग० आ० १२७५)

जाल के भय को नहीं जाननेवाली मछलियाँ जैसे जाल के समीप खेलती-कूदती हैं वैसे ही संसारी जीव संसार-भय से रहित होकर परिग्रह में रमण करते हैं अर्थात् उसका निदान करते हैं।

१२. जह सुत्तबद्धसउणो दूरंपि गदो पुणो व एदि तहिं।
तह संसारमदीदि हु दूरंपि गदो णिदाणगदो।।
(भग० आ० १२७८)

जैसे सूत्र से बँधा पक्षी दूर चले जाने पर भी पुनः अपने स्थान पर आ जाता है वैसे ही यह जीव भी निदान के प्रभाव से महाऋद्धि-सम्पन्न स्वर्गादि स्थान में जाकर पुनः कुत्सित संसार में भ्रमण करता है।

१३. णच्चा दुरंतमद्धुयमत्ताणमतिप्पयं अविस्सायं।
भोगसुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मदिं कुज्जा।। (भग० आ० १२८२)

यह भोग-सुख अन्तरहित दुःख-रूप फल को देता है, अध्रुव है, रक्षा करने में असमर्थ है, अतृप्तिकर है, बार-बार प्राप्त होनेवाला है, अतः यह जानकर उसकी कामना से विरत हो मोक्ष-सुख में मति करे।

१४. अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोधेदि।
तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मक्खयं कुणइ।।
(भग० आ० १२८३)

निदान न करनेवाला संयमी पुरुष ज्ञान, दर्शन, चरण की विशुद्धि करता है। ऐसा शुद्ध ज्ञान और चरण से युक्त संत तप से कर्मों का क्षय करता है।

१५. अवगणिय जो मुक्खसुइं कुणइ णिआणं असारसुहहेउं।
सो कायमणिकएणं वेरुल्लियमणिं पणासेइ।।
(भक्त० परि० १३८)

जो मोक्ष के शाश्वत-सुख की उपेक्षा कर असार सांसारिक सुख के लिए निदान करता है, वह मूर्ख काँच की मणि के लिए वैदूर्य मणि को खोता है।

: २४ :

स्व-श्लाघा : पर-निंदा

१. आत्म-प्रशंसा

१. अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि।।

(भग० आ० ३५६)

आत्म-प्रशंसा को हमेशा के लिए छोड़ो। अपने यश का अपने हाथों विनाश करने वाले मत बनो। अपनी प्रशंसा करता हुआ मनुष्य लोगों में तृण के समान हल्का होता है।

२. संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति।
अकहिंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो।।

(भग० आ० ३६१)

न कहने वाले पुरुष के गुण नष्ट नहीं हो जाते। जैसे अपने तेज का बखान न करने वाले सूर्य का तेज स्वयं ही विश्रुत होता है वैसे ही गुणी के गुण स्वयं प्रकाशित होते हैं।

३. ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स।
धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव।।

(भग० आ० ३६२)

गुणों का बखान करनेवाले पुरुष में जो गुण नहीं हैं वे उत्पन्न नहीं हो जाते। स्त्रियों की तरह आचरण करने पर भी नपुंसक नपुंसक ही रहता है।

४. संतं सगुणं कित्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूणं।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा।।

(भग० आ० ३६३)

सुजन अपने गुणों की लोगों में प्रशंसा सुनकर लज्जित होता है, तब वह स्वयं ही अपने गुणों की प्रशंसा कैसे कर सकता है?

५. अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि।
सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पणं ण थोएइ।।

(भग० आ० ३६४)

न कहता हुआ गुणहीन मनुष्य भी सज्जनों के बीच गुणवान् होता है। अपनी प्रशंसा अपने-आप नहीं करता वही गुण है।

६. वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं।
होदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुब्भासणं तेसिं।। (भग० आ० ३६५)

वचन से अपने गुणों का कहना उन गुणों का नाश करना है। अपने चरित्र से ही गुणों को कहना उनका उद्भाषण है।

७. वायाए अकहंता सुजणो चरिदेहिं कहियगा होंति।
विकहिंतगा य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव।। (भग०आ० ३६६)

सज्जन अपने गुणों को वाणी से नहीं, चरित्र से कहनेवाले होते हैं। अपने गुणों का स्वयं कथन न करनेवाले पुरुष लोक में ऊँचे उठ जाते हैं।

८. सगुणम्मि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकत्थिंतो।
सगुणो वा अकहिंतो वायाए होंति अगुणेसु।।
(भग० आ० ३६७)

गुणवान् व्यक्ति गुणवानों के बीच स्वयं ही अपने गुणों का बखान करने लगता है तो वह वैसे ही हल्का हो जाता है जैसे गुणहीन लोगों में अपने वचनों से अपने गुणों को न कहनेवाला गुणवान व्यक्ति।

९. चरिएहिं कत्थमाणो सगुणं सगुणेसु सोभदे सगुणो।
वायाए वि कहिंतो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि।। (भग० आ० ३६८)

अपने गुणों को कार्य से कहता हुआ पुरुष वैसे ही शोभा को प्राप्त होता है जैसे गुणहीन मनुष्य गुणहीन लोगों में वचनों से अपनी प्रशंसा करता हुआ।

१०. जसं कित्ती सिलोगं च जा य वंदणपूयणा।
सव्वलोगंसि जे कामा तं विज्जं ! परिजाणियां।। (सू० १, ६ : २२)

हे विज्ञ ! यश, कीर्ति, श्लाघा, वंदन, पूजन तथा लोक में जो भी विषय-इच्छा है, उन्हें पतनकारी जानकर उनका विवर्जन कर।

११. पूयणट्ठी जसोकामी माणसम्माणकामए।
बहुं पसवई पावं मायासल्लं च कुव्वई।। (द० ५ (२) : ३५)

जो मनुष्य पूजा का अर्थी, यश का इच्छुक और मान-सम्मान की कामना करनेवाला होता है, वह बहुत पाप को उत्पन्न करता है तथा माया-शल्य का सेवन करता है।

९२. अच्चणं रयणं चेव वन्दणं पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माणं मणसा वि न पत्थए।। (उ० ३५ : १८)

अतः साधक अर्चना, रचना, वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी अभिलाषा न करे।

२. पर-निन्दा

१. न बाहिरं परिभवे अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा जच्चा तवसि बुद्धिए।। (द० ८ : ३०)

दूसरे का तिरस्कार न करे। अपनी बड़ाई न करे। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का मद न करे।

२. आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ।
परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा।। (भग० आ० ३७०)

परनिंदा पापजनक, दुर्भाग्य उत्पन्न करने वाली और सज्जनों को अप्रिय होती है। वह खेद, वैर, भय, दुःख, शोक और हल्केपन को उत्पन्न करती है।

३. किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए।। (भग० आ० ३७१)

जो दूसरे की निंदा कर अपने को गुणवानों में स्थापित करने की इच्छा करता है, वह दूसरों को कड़वी औषधि पिलाकर स्वयं रोगरहित होना चाहता है।

४. दठ्ठूण अण्णादोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ।
रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंपणभएण।।(भग० आ० ३७२)

सत्पुरुष दूसरे के दोष को देखकर स्वयं लज्जित हो जाता है। वह दूसरे की निंदा के भय से उसके दोष को अपने दोष की तरह छिपाता है।

५. अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि।
उदए व तेल्लबिंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं।।
(भग० आ० ३७३)

जल में तैल-बिंदु की तरह दूसरे का अल्प गुण भी सत्पुरुष को प्राप्त होकर बहुतर हो जाता है। ऐसा सत्पुरुष दूसरे के दोष को क्या कहेगा?

३. उपेक्षा धर्म

१. सुकडं दुक्कडं वा वि अप्पणो यावि जाणति।
ण य णं अण्णो विजाणाति सुक्कटं णेव टुक्कडं।। (इसि० ४ : १२)

अपने अच्छे या बुरे कर्मों को आत्मा स्वयं ही जानता है, किन्तु किसी के अच्छे या बुरे कर्मों को दूसरा व्यक्ति जान नहीं सकता।

२. नरं कल्लाणकारिं पि पावाकारिंति वाहिरा।
पावकारिं पि ते बूया सीलमंतो त्ति बाहिरा।। (इसि० ४ : १३)

बाहर से देखनेवाले कल्याणकारी आत्मा को भी पापकारी बतला देते हैं और दुराचारी को भी सदाचारी कह डालते हैं।

३. चोरं पि ता पसंसंति मुणी वि गरिहिज्जती।
ण से एत्तावताऽचोरे ण से इत्तवताऽमुणी।। (इसि० ४ : १४)

स्थूल-दृष्टि जनता कभी चोर की भी प्रशंसा कर डालती है और कभी-कभी मुनि उसके द्वारा गर्हा को प्राप्त होता है, किन्तु इतने मात्र से चोर अचोर नहीं हो जाता और न मुनि अमुनि।

४. णण्णस्स वयणा चोरे णण्णस्स वयणा मुणी।
अप्पं अप्पा वियाणाति जे वा उत्तणाणिणो।। (इसि० ४ : १५)

किसी के कथनमात्र से कोई चोर नहीं हो जाता और न किसी के कहने मात्र से कोई मुनि। या तो स्वयं मनुष्य ही अपने-आप को जानता है या सर्वज्ञ।

५. जइ मे परो पसंसाति असाधुं साधु माणिया।
न मे सा तायए भासा अप्पाणं असमाहितं।। (इसि० ४ : १६)

मैं असाधु हूँ और दूसरा साधु मानकर मेरी प्रशंसा करता है, पर मेरी आत्मा असंयत है तो प्रशंसा की भाषा मेरा रक्षण नहीं कर सकती।

६. जति मे परो विगरहाति साधुं संतं णिरंगणं।
ण मे सक्कोसए भासा अप्पाणं सुसमाहितं।। (इसि० ४ : १७)

यदि मैं निर्ग्रन्थ हूँ और जनता मेरी अवमानना करती है तो निन्दा की वह भाषा मुझमें आक्रोश नहीं पैदा कर सकती है, क्योंकि मेरी आत्मा सुसमाधिस्थ है।

७. जं उलूका पसंसंति जं वा निंदंति वायसा।
निंदा वा सा पसंसा वा वायुजालेव्व गच्छती।। (इसि० ४ : १८)

उलूक जिसकी प्रशंसा करें और कौवे जिसकी निन्दा करें, वह निन्दा और वह प्रशंसा दोनों ही हवा की भाँति उड़ जाती है।

८. जं च बाला पसंसंति जं वा णिंदंति कोविदा।
णिंदा वा सा पसंसा वा पप्पाति कुरुए जगे।। (इसि० ४ : १६)

अज्ञानी जिसकी प्रशंसा करता है और विद्वान् जिसकी निन्दा करता है, ऐसी निन्दा और प्रशंसा इस छली दुनिया में सर्वत्र उपलब्ध है।

९. वदतु जणे जं से इच्छियं किं णु कलेमि उदिण्णमप्पणो।
भावित मम णत्थि एलिसे इति संखाए न संजलामहं।।
(इसि० ४ : २२)

कोई भी जो चाहे वह बोल सकता है। मैं अपने-आप को उद्विग्न क्यों करूँ? मुझसे वह सन्तुष्ट नहीं है, यह समझकर मैं कुपित नहीं होता।

१०. अक्खोवंजणमाताया सीलवं सुसमाहिते।
अप्पणा चेवमप्पाणं चोदितो वहते रहं।। (इसि० ४ : २३)

अष्ट प्रवचनमाता रूपी अक्ष से युक्त शीलवान सुसमाहित आत्मा का रथ आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर चलता है।

११. सीलक्खरहमारूढो णाण-दंसण-सारही।
अप्पणा चेवमप्पाणं जदित्ता सुभमेहती।। (इसि० ४ : २४)

ज्ञान और दर्शन जिसके सारथी हैं, ऐसे शील नाम के रथ पर आरूढ़ होकर आत्मा अपने द्वारा अपने-आप को जीतता है और शुभ स्थिति को प्राप्त करता है।

: २५ :

संगति

१. संगति-फल

१. दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि।
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण।।
(भग० आ० ३४४)

दुर्जन की संगति से सज्जन भी निश्चय ही अपने गुण को वैसे ही छोड़ देता है जैसे जल अग्नि के संयोग से अपने शीतल स्वभाव को।

२. सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण।
माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिट्ठा।।
(भग० आ० ३४५)

दुर्जन की संगति के दोष से सज्जन भी हल्का हो जाता है, जैसे मोल में भारी माला मुर्दे के संसर्ग से हल्की हो जाती है।

३. जहदि य णिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण।
जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि।।
(भग० आ० ३५०)

दुर्जन सज्जन की संगति के गुण से अपने दोष छोड़ देता है, जैसे मेरु का आश्रय ग्रहण करता हुआ कौवा अपने रंग को छोड़ देता है।

४. कुसुमगंधमवि जहा देवयसेसत्ति कीरदे सीसे।
तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ।। (भग० आ० ३५१)

जिस प्रकार गंध-रहित फूल भी यह देवता की 'शेषा' है, सोचकर सिर पर चढ़ा लिया जाता है, उसी प्रकार सज्जनों के बीच रहनेवाला दुर्जन भी पवित्र हो जाता है।

५. तरुणस्स वि वरेग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स बुढ्ढेहिं।
पण्हाविज्जइ पाइच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण।।
(भग० आ० १०८३)

जैसे जिसका दूध सूख गया है ऐसी भी गाय बछड़े के स्पर्श से प्रस्रावित हो जाती है, वैसे ही तरुण मनुष्य को ज्ञानवृद्धों की संगति से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

६. वड्ढादे बोही संसग्गेण तध पुणो विणस्सेदि।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा गंधो।। (मू० ६५४)

संगति से ही बोधि की वृद्धि होती है और संगति से ही नष्ट हो जाती है। जैसे कमलादि की गंध के संसर्ग से जल शीतल और सुगंधित हो जाता है ओर अग्नि आदि के संबंध से उष्ण तथा विरस।

७. संसग्गितो पसूयंति दोसा वा जइ वा गुणा।
वाततो मारुतस्सेव ते ते गंधा सुहावहा।। (इसि० ३३ : १३)

दोष अथवा गुण संसर्ग से ही पैदा होते हैं। वायु जिस ओर बहती है वहां की सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध को ग्रहण कर लेती है।

८. संपुण्णवाहिणीओ वि आवन्ना लवणोदधिं।
पप्पा खिप्पं तु सव्वा पि पावंति लवणत्तणं।। (इसि० ३३ : १४)

सभी नदियाँ लवण-समुद्र में मिलती हैं और वहाँ पहुँचते ही सभी अपनी स्वाभाविक मधुरता को छोड़कर खारापन प्राप्त कर लेती हैं।

९. समस्सिता गिरिं मेरुं णाणावण्णा वि पक्खिणो।
सव्वे हेमप्पभा होंति तस्स सेलस्स सो गुणो।। (इसि० ३३ : १५)

विविध वर्णवाले पक्षीगण जब सुमेरु पर्वत पर पहुँचते हैं तो सभी स्वर्ण प्रभा युक्त हो जाते हैं, यह उस पर्वत की ही विशिष्टता है।

१०. सम्मतं च अहिंसं च सम्मं णच्चा जितिंदिए।
कल्लाणमित्तसंसग्गिं सदा कुवेज्ज पंडिए।। (इसि० ३३ : १७)

जितेन्द्रिय और प्रज्ञाशील साधक सम्यक्त्व और अहिंसा को सम्यक् प्रकार से जान कर सदैव कल्याणकारी मित्र का ही साथ करे।

२. संगति-योग्य

१. दुभासियाए भासाए दुक्कडेण य कम्मुणा।
बालमेतं वियाणेज्जा कज्जाकज्ज-विणिच्छए।। (इसि० ३३ : १)

दुर्भाषित वाणी, दुष्कृत कर्म तथा कार्याकार्य के विनिश्चय के द्वारा यह बाल (अज्ञानी) है, ऐसा समझा जा सकता है।

२. सुभासियाए भासाए सुकडेण य कम्मुणा।
पंडितं तं वियाणेज्जा धम्माधम्म-विणिच्छए।। (इसि० ३३ : २)

सुभाषित वाणी, सुकृत कर्म और धर्माधर्म के विनिश्चय के द्वारा यह पंडित है, ऐसा समझा जा सकता है।

३. दुभासियाए भासाए दुक्कडेण य कम्मुणा।
जोगक्खेमं वहंतं तु उसु वायो व सिंचति।। (इसि० ३३ : ३)

दुर्भाषित वाणी और दुष्कृत कर्म के द्वारा जो योगक्षेम का वहन करना चाहता है, वह मानो ईख को वायु से सिंचन करता है।

४. सुभासियाए भासाए सुकडेण य कम्मुणा।
पज्जण्णे कालवासी वा जसं तु अभिगच्छति।। (इसि० ३३ : ४)

सुभाषित वाणी और सुकृत कर्मों के द्वारा मानव समय पर बरसनेवाले मेघ के सदृश यश को प्राप्त करता है।

५. णेव बालेहि संसग्गिं णेव बालेहिं संथवं।
धम्माधम्मं च बालेहिं णेव कुज्जा कडाइ वि।। (इसि० ३३ : ५)

साधक अज्ञानियों का संसर्ग न करे और न उनसे परिचय ही रखे। उनके साथ धर्मा-धर्म की चर्चा भी कभी न करे।

६. इहेवाऽकित्ति पावेहि पेच्चा गच्छेइ दोग्गतिं।
तम्हा बालेहिं संसग्गिं णेव कुज्जा कदावि वि।। (इसि० ३३ : ६)

पापों के द्वारा यहाँ भी अपयश मिलता है और बाद में आत्मा दुर्गति को जाती है। अतः साधक अज्ञानी आत्माओं का संसर्ग कभी न करे।

७. साहूहिं संगमं कुज्जा साहूहिं चैव संथवं।
धम्माधम्मं च साहूहिं सदा कुव्विज्ज पंडिए।। (इसि० ३३ : ७)

साधक साधु पुरुषों का संगम करे और साधु पुरुषों का ही संस्तव करे। प्रज्ञाशील पुरुष धर्म की चर्चा भी साधु पुरुषों के साथ ही करे।

८ इहेव कित्तिं पाउणति पेच्चा गच्छइ सोगतिं।
तम्हा साधूहि संसग्गि सदा कुविज्ज पंडिए।। (इसि० ३३ : ८)

संत पुरुषों के संग के द्वारा आत्मा यहाँ पर यश प्राप्त करती है और परलोक में शुभ गति। अतः सदा साधुओं की ही संगति करे।

९. सब्भाववक्कविवसं सावज्जारंभकारकं।
दुम्मित्तं तं विजाणेज्जा उभयो लोगविणासणं।। (इसि० ३३ : ११)

अपने वक्र स्वभाव से विवश होकर सावद्य आरंभ करनेवाले को दुर्मित्र समझना चाहिए; क्योंकि वह दोनों लोकों का विनाश करता है।

१०. सम्मत्तणिरयं धीरं सावज्जारंभवज्जकं।
तं मित्तं सुट्ठु सेवेज्जा उभओ लोकसुहावहं।। (इसि० ३३ : १२)

सम्यक्त्व-निरत, सावद्य आरंभ के त्यागी ऐसे धैर्यशील मित्र की भली प्रकार सत्संग करनी चाहिए। उसकी संगति उभय लोक में सुखप्रद होती है।

: २६ :

सुलभ-दुर्लभ

१. बोधि : दुर्लभ-सुलभ

१. मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही।। (उ० ३६ : २५७)

जो जीव मिथ्यादर्शन में रत हैं, जो निदान (फल पाने की कामना) सहित हैं तथा जो हिंसा में प्रवृत्त हैं—ऐसी स्थिति में जो जीव मरते हैं उनके लिए पुनः बोधि (सम्यक्त्व) का पाना दुर्लभ है।

२. सम्मद्दंसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरति जीवा सुलहा तेसिं भवे बोही।।[1] (उ० ३६ : २५८)

जो सम्यक्दर्शन में अनुरक्त, निदान से रहित और शुक्ललेश्या में प्रतिष्ठित हैं—ऐसी स्थिति में जो जीव मरते हैं, उनके लिए बोधि का पाना सुलभ होता है।

३. मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही।।[2] (उ० ३६ : २५६)

जो जीव मिथ्यादर्शन में रत, निदान से सहित तथा कृष्णलेश्या में प्रतिष्ठित हैं—इस प्रकार की स्थिति में जो जीव मरते हैं, उन्हें पुनः बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है।

४. जे पुण पणट्ठमदिया पचलियसण्णा य वक्कभावा य।
असमाहिणा मरंते ण हु ते आराहया भणिया।। (मू० ६०)

जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है,, जिनकी आहारादि की संज्ञाएँ क्रियाशील हैं, जिनके परिणाम वक्र हैं वे जीव असमाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर परलोक में जाते हैं। वे आराधक नहीं कहे गये हैं।

५. बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणि मरणाणि।
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति।। (मू० ७३)

जो जीव जिनदेव के वचनों को नहीं जानते वे अनाथ बहुत प्रकार के बाल-मरण करते हुए अनेक अकाम मरणों को प्राप्त होते हैं।

---

१. मू० ७०।
२. मू० ६६।

६. णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो।
अणिदाणो दिठिसंपण्णो मरंतो आराहओ होइ।। (मू० १०३)

जो ममतारहित है, अभिमानरहित है, कषायरहित है, जितेन्द्रिय है, धीर है, निदान-रहित है और सम्यक्दृष्टि से सम्पन्न है, ऐसा जीव मरता हुआ आराधक होता है।

२. सुगति : सुलभ-दुर्लभ

१. तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स।। (द० ४ : २७)

जिसके जीवन में तपरूपी गुण की प्रधानता है, जो ऋजुमति है, जो क्षान्ति और संयम में रत है तथा जो परीषहों को जीतनेवाला है—ऐसे पुरुष के लिए सुगति सुलभ है।

२. सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोइस्स दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स।। (द० ४ : २६)

जो श्रमण सुख का स्वादी होता है, सात—सुख के लिए आकुल होता है, जो अकाल में सोनेवाला होता है और जो हाथ-पैर आदि को बार-बार धोनेवाला होता है—ऐसे साधु के लिए सुगति दुर्लभ है।

३. जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारी।।[1] (उ० ३६ : २६०)

जो जीव जिन-वचनों में अनुरक्त, जिन-वचनों के अनुसार भाव से आचरण करने वाले, मिथ्यात्व-मल और रागादि क्लेशों से रहित हैं, वे परित-संसारी (अल्प जन्म-मरण करनेवाले) होते हैं।

४. मरणे विरधिदे देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही।
संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले।। (मू० ६१)

मरण के समय जो सम्यक्त्व की विराधना करते हैं, उनकी नीच देवगति होती है और उन्हें बोधि दुर्लभ होती है। ऐसे जीवों के आगामी काल में अनन्त संसार होता है।

५. जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य।
असमाहिणा मरंते ते होंति अणंतसंसारा।। (मू० ७१)

जो गुरुओं के प्रतिकूल है, बहुत मोहवाले हैं, बड़े दोषों का सेवन करनेवाले हैं—ऐसे जीव असमाधिपूर्वक मरण कर अनन्त संसारी होते हैं।

---

१. मू० ७०।

: २७ :

हेतु-विज्ञान

१. पुण्य-बंध विज्ञान

१. पावेण जणो एसो दुक्कम्मवसेण जायदे सव्वो।
पुणरवि करेदि पावं ण य पुण्णं को वि अज्जेदि।। (द्वा० अ० ४७)

कोई भी दुखी मनुष्य पाप तथा दुष्कर्म से दुखी होता है तब भी पाप ही करता है। शुभ योग, ध्यान आदि तप से पुण्य का अर्जन नहीं करता, यह आश्चर्य है।

२. विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो।
उवसमभावे सहिदो णिंदणगरहाहिं संजुत्तो।। (द्वा० अ० ४८)

सम्यग्दृष्टि, व्रतों से संयुक्त, उपशम भाव से सम्पन्न, स्व-निंदा और गर्हा से युक्त ऐसा बिरला ही जीव है, जो शुभ योग से पुण्य का अर्जन करता है।

३. पुण्णजुदस्स वि दीसदि इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुयभाएण।। (द्वा० अ० ४६)

पुण्य से युक्त पुरुष के भी इष्ट-संयोग देखा जाता है। अभिमान सहित भरत चक्रवर्ती भी छोटे भाई बाहुबली से पराजित हुए।

४. सयलट्ठविसयजोओ बहु पुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं जेणिच्छिदं लहदि।। (द्वा० अ० ५०)

समस्त पदार्थ और इन्द्रिय-विषयों का योग बड़े पुण्यवानों को भी पूर्ण रूप से नहीं होता है। ऐसा पुण्य किसी के भी नहीं है, जिससे सब ही मनवांछित बातें मिल जाए।

५. पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि।
पुण्णं सुग्गईहेदुं पुण्णखएणेव णिव्वाणं।। (द्वा० अ० ४१०)

जो पुण्य को भी चाहता है वह पुरुष संसार को ही चाहता है, क्योंकि पुण्य सुगति के बंध का हेतु है और मोक्ष पुण्य के भी क्षय से ही होता है।

६. जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही विसोहीमूलाणि पुण्णाणि।।
(द्वा० अ० ४११)

जो कषायसहित होता हुआ विषय-सुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है, उसके विशोधि दूर है और पुण्य विशोधिमूलक है, अतः विशोधि के बिना पुण्य नहीं होता।

७. पुण्णासाए ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह। (द्वा० अ० ४१२)

पुण्य की कामना से पुण्यबंध नहीं होता। निरीह वांछारहित पुरुष के पुण्य होता है, ऐसा जानकर पुण्य में भी आदर बुद्धि मत करो।

८. पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहि परिणदो संतो।
तम्हा मंदकसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा।। (द्वा० अ० ४१३)

जीव मंदकषायरूप परिणमन करता हुआ पुण्यबंध करता है, इसलिए पुण्यबंध का कारण मंदकषाय है, न कि वांछा।

२. पर्याय-हेतु बोध

१. अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि।
उवसमदि जह्मि काले तक्काले संजदो होदि।। (मू० ६८२)

कषाय का अभाव चारित्र है। जो कषाय के वश में होता है, वह असंयमी हो जाता है। पुरुष जिस समय कषाय का उपशम करता है तब वह संयमी होता है।

२. पच्चयभूदा दोसा पच्चयभावेण णत्थि उप्पत्ती।
पच्चयभावे दोसा णस्संति णिरासया जहा वीयं।। (मू० ६८४)

दोष, मोह, राग, द्वेषादिक से उत्पन्न होते हैं। मोह आदि के अभाव में दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। उनके अभाव में दोष निराधार बीज की तरह विनाश को प्राप्त होते हैं।

३. हेदू पच्चयभूदा हेदुविणासे विणासमुवयंति।
तह्मा हेदुविणासो कायव्वो सव्वसाहूहिं।। (मू० ६८५)

हेतु से उत्पन्न दोष हेतु के विनाश को प्राप्त होते हैं। इसलिए सब को हेतुओं का नाश करना चाहिए।

४. जं जं जे जे जोवा पज्जायं परिणमंति संसारे।
रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा।। (मू० ६८६)

इस संसार में जो-जो जीव जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करता है, वह पर्याय वह राग, द्वेष, मोह के वश ग्रहण करता है, यह जानना चाहिए।

५. अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारणं जीवो।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालम्हि।। (मू० ६८७)

अर्थ, जीवन, आहार और काम के कारण यह जीव आप मरता है और सर्वकाल में अन्य प्राणियों को भी अनंत बार मारता है।

६. जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे।
पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जह दाणिं।। (मू० ६८८)

इस अनादि संसार में इस जीव ने जिह्वा-इन्द्रिय और स्पर्शन-इन्द्रिय के कारण ही अनंत बार दुःख पाया है। इसलिए तू जिह्वा और उपस्थ—इन दोनों इन्द्रियों को जीत।

३. कषाय-हेतु बोध

१. जह इंधणेहिं अग्गी वढ्ढइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा।
गंथहि तह कसाओ वढ्ढइ विज्झाइं तेहिं विणा।।
(भग० आ० १९१३)

जैसे आग ईंधन से बढ़ती है और ईंधन के बिना बुझ जाती है, उसी प्रकार कषाय-रूपी अग्नि परिग्रहरूपी ईंधन से बढ़ती है और परिग्रह के न होने से वह बुझ जाती है।

२. जह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंकं।
खोभेइ पसंतं पि कसायं जीवस्स तह गंथो।।
(भग० आ० १९१४)

जैसे तालाब में गिरा हुआ पत्थर प्रशान्त पंक को क्षुभित कर देता है, उसी तरह परिग्रह जीव के प्रशान्त कषाय को भी क्षुभित कर देता है।

३. उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा।
गंथफललोलाहिदया णासंति हु संजमारामं।।
(भग० आ० १४०३)

संयम का हरण करनेवाला अति चंचल और जिसका हृदय परिग्रह-रूपी फल के लिए लोलुप है, ऐसा अनियंत्रित कषायरूपी पापी बानर संयम-रूपी बगीचे को नष्ट कर देता है।

४. हिंसा-हेतु बोध

१. अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तियत्ति मदा।। (प्रव० ३: १६)

श्रमण की सोने, बैठने, खड़े होने और चलने आदि में जो असावधानता पूर्वक प्रवृत्ति है, वह सदा अखंडित रूप से हिंसा मानी गयी है।

२. मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।। (प्रव० ३: १७)

जीव मरे अथवा न मरे अयतनाचार पूर्वक क्रिया करनेवाले साधक के निश्चित रूप से हिंसा होती है। जो समितियों से समित है उस अप्रमादी साधक के हिंसा हो जाने मात्र से बंध नहीं होता।

३. अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरूलेवो।।
(प्रव० ३ : १८)

जो श्रमण अयतनाचारी है, वह छहों ही कायों के जीवों का घातक माना गया है। किन्तु यदि वह सर्वदा सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करता है, तो जल में कमल की तरह कर्म- बन्ध-रूपी लेप से रहित रहता है।

४. जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि।। (मू० १०१४)

यतना से आचरण करनेवाला, दया पर दृष्टि करनेवाला साधु नवीन कर्मों का बंध नहीं करता और पुराने कर्म का क्षय कर डालता है।

५. तम्हा चेट्ठिदुकामो जइयः तइया भवाहिं तं समिदो।
समिदो हु अण्ण णदियदि खवेदि पोराणयं कम्मं।।[1] (मू० ३३०)

अतः हे मुनि ! जब गमन आदि करने की इच्छा हो तब तू समिति से युक्त हो; क्योंकि जो मुनि समिति से युक्त होता है वह नवीन कर्मों को तो ग्रहण नहीं करता और पुराने कर्मों का क्षय करता है।

---

१. भग० आ० १२०४।

: २८ :

लाक्षणिक

१. त्यागी

१. वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइ त्ति वुच्चइ।। (द० २ : २)

जो वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियों और पलंग आदि भोग्य पदार्थों का परवशता से अथवा उनके अभाव में सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता।

२. जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ।। (द० २ : ३)

त्यागी वह कहलाता है जो कांत और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है और स्वाधीनतापूर्वक उनका त्याग करता है।

३. जो परिहरेइ संतं तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि।
जो मणलड्डु व भक्खदि तस्स वयं अप्पसिद्धियरं।।
(द्वा० अ० ३५१)

जो पुरुष विद्यमान वस्तु को छोड़ता है, उसके व्रत की सुरेन्द्र भी प्रशंसा करता है। जो मनमोदक को खाता है—अपने पास नहीं है उस वस्तु का त्याग करता है उसके व्रत तो होता है परन्तु वह थोड़ा ही लाभ पहुँचानेवाला होता है।

४. जो परिवज्जइ गंथं अब्भंतरबाहिरं च साणंदो।
पावं ति मण्णमाणे णिग्गंथो सो हवे णाणी।। (द्वा० अ० ३८६)

जो अभ्यंतर और बाह्य दो प्रकार के परिग्रह को, पाप का कारण मानता हुआ आनन्दपूर्वक छोड़ता है वह निष्परिग्रही ही त्यागी होता है।

५. बाहिरगंथविहीणा दलिद्दमणुआ सहावदो होंति।
अब्भंतरगंथ पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं।। (द्वा० अ० ३८७)

दरिद्र मनुष्य स्वभाव से ही बाह्य परिग्रह से रहित होते हैं, पर इससे वे त्यागी नहीं होते। क्योंकि अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ने में कोई भी समर्थ नहीं होता है अर्थात् विरले ही समर्थ होते हैं।

२. तीव्र-मंद कषायी

१. सव्वत्थ वि पियवयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं ं गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता।। (द्वा० अ० ६१)

सब जगह प्रिय वचन, दुर्वचन सुनकर दुर्जन को भी क्षमा करना, सब जीवों के गुण ही ग्रहण करना—ये मंदकषायी पुरुष के दृष्टान्त हैं।

२. अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं।
वेरधरणं च सुइरं तिव्वकसायाण लिंगाणि।। (द्वा० अ० ६२)

अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में भी दोष ढूँढ़ने का स्वभाव और बहुत समय तक वैर धारण करना—ये तीव्र कषायवाले पुरुष के चिन्ह हैं।

३. मोक्षार्थी

१. पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भिंतरबाहिरओ तवोकम्मंसि उज्जुओ।। (उ० १६ : ८८)

मोक्षार्थी पुरुष पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त और बाह्य और अभ्यन्तर तप-कर्म में उद्यत होता है।

२. निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।। (उ० १६ : ८९)

वह ममत्वरहित, अहंकाररहित, बाह्य और अभ्यंतर संगरहित तथा त्यक्त-गौरव होता है। वह सर्व त्रस और स्थावर प्राणियों के प्रति समभाव रखनेवाला होता है।

३. लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ।। (उ० १६ : ९०)

वह लाभ-अलाभ, सुख-दुःख जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान—सब में सम होता है।

४. गारवेसु कसाएसु दण्डसल्लभएसु य।
नियत्तो हाससोगाओ अनियाणो अबंधणो।। (उ० १६ : ९१)

वह गौरव (ऋद्धि, रस, सुख का गर्व), कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ), दण्ड (मन, वचन, काय की दुष्प्रवृत्ति), शल्य (माया, निदान, मिथ्यात्व), भय और हर्ष-शोक से निवृत्त होता है। वह फल की कामना नहीं करता और बन्धन-रहित होता है।

५. अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो य असणे अणसणे तहा।। (उ० १६ : ६२)

वह इहलोक (के सुखों) की इच्छा नहीं करता, न परलोक (के सुखों) की इच्छा करता है। वसूले से छेदा जाता हो या चन्दन से लेपा जाता, आहार मिलता हो या न मिलता हो, वह सब स्थितियों में सम होता है।

६. अप्पसत्थेहिं दारेहिं सव्वओ पिहियासवे।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं पसत्थदमसासणे।। (उ० १६ : ६३)

मोक्षार्थी पुरुष अप्रशस्त द्वार (कर्म आने के हेतु—हिंसादि) को चारों ओर से रोक कर अनास्रव होता है तथा आध्यात्मिक ध्यानयोग से प्रशस्त जितेन्द्रिय और आत्मानुशासित होता है।

७. सुक्कझाणं झियाएज्जा अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा जाव कालस्स पज्जओ।। (उ० ३५ : १६)

ऐसा मोक्षार्थी शुक्ल ध्यान का अभ्यास करता रहे। जीवन-पर्यन्त फल की कामना न करता हुआ अकिंचन और त्यक्त-देह होकर रहे।

८. एवं नाणेण चरणेण दंसणेण तवेण य।
भावणाहि य सुद्धाहिं सम्मं भावेत्तु अप्पयं।। (उ० १६ : ६४)
निज्जूहिऊण आहारं कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण माणुसं बोंदिं पहू दुक्खे विमुच्चई।। (उ० ३५ : २०)

इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और शुद्ध भावना से आत्मा को भलीभाँति भावित करता हुआ मोक्षार्थी कालधर्म—मृत्यु के उपस्थित होने पर आहार का परित्याग कर, इस मनुष्य शरीर को छोड़कर सर्व दुःखों से मुक्त होता है।

९. निम्ममो निरहंकारो वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं सासयं परिणिव्वुए।। (उ० ३५ : २१)

ममतारहित, अहंकाररहित, आस्रवरहित वीतराग पुरुष केवलज्ञान को प्राप्त कर हमेशा के लिए परिनिवृत्त (मुक्त) होता है।

४. वीतराग

१. चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु व वीयरागो।।
(उ० ३२ : २२)

जो चक्षु का ग्रहण—विषय है, उसे रूर कहा गया है। (चक्षु का जो विषय है वह रूप है)। जो रूप राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो रूप द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में सम होता है, वह वीतराग है।

२. सोयस्स सद्दं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो।।
(उ० ३२ : ३५)

जो श्रोत्र का ग्रहण—विषय है, उसे शब्द कहा गया है। (श्रोत का जो विषय है वह शब्द है)। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो शब्द द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में सम होता है वह वीतराग है।

३. घाणस्स गंधं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो।।
(उ० ३२ : ४८)

जो घ्राण का ग्रहण—विषय है, उसे गन्ध कहा गया है। (घ्राण का विषय है वह गन्ध है)। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो गन्ध द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में सम होता है, वह वीतराग है।

४. जीहाए रसं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो।।
(उ० ३२ : ६१)

जो जिह्वा का ग्रहण—विषय है, उसे रस कहा गया है। (जिह्वा का जो विषय है वह रस है)। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो रस द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में सभ होता है वह वीतराग है।

५. कायस्स फासं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीतरागो।।
(उ० ३२ : ७४)

जो काय का ग्रहण—विषय है, उसे स्पर्श कहा गया है (काय का विषय है वह स्पर्श है)। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो स्पर्श द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में सम होता है—समान भाव रखता है—वह वीतराग है।

६. मणस्स भावं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो।।
(उ० ३२ : ८७)

जो मन का ग्रहण—विषय है, उसे भाव कहा गया है। (मन का जो विषय है वह भाव है)। जो भाव राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा गया है। जो भाव द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ भावों में सम होता है—समान भाव रखता है—वह वीतराग है।

७. एविंदिपत्था य मणस्स अत्था दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं न वीयरागस्स करेंति किंचि।।
(उ० ३२ : १००)

इस प्रकार इन्द्रियों के और मन के विषय रागी मनुष्य को ही दुःख के हेतु होते हैं। ये ही विषय वीतराग को कदापि किंचित् भी—थोड़ा भी—दुखी नहीं कर सकते।

८. सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि संतो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।
(उ० ३२ : ४७)

शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव इनके विषयों में विरक्त पुरुष शोकरहित होता है। वह इस संसार में रहता हुआ भी दुःख-समूह की परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल से।

९. न कामभोगा समयं उवेंति न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य सो तेसु मोहा विगइं उवेइ।।
(उ० ३२ : १०१)

कामभोग—शब्द, रूप आदि विषय समभाव को प्राप्त नहीं कराते—उसके हेतु नहीं हैं और न ये विकार को प्राप्त कराते हैं—उसके हेतु हैं। किन्तु जो उनमें परिग्रह (राग अथवा द्वेष बुद्धि) करता है, वही उन विषयों में मोह को प्राप्त होता है।

१०. विरज्जमाणस्स य इंदियत्था सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयंवा निव्वत्तयंती अमणुन्नयं वा।।
(उ० ३२ : १०६)

जो विरक्त है उसके लिए ये सब नाना प्रकार के शब्दादि इन्द्रिय-विषय मनोज्ञता या अमनोज्ञता का भाव पैदा नहीं करते।

११. कोहं च माणं च तहेव मायं लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं नपुंसवेयं विविहे य भावे।।
आवज्जई एवमणेगरूवे एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से।।
(उ० ३२ : १०२-३)

जो काम-गुणों में आसक्त होता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद आदि विविध भाव और इसी तरह अन्य विविध रूपों को—विकारों तथा अन्य भी उनसे उत्पन्न विशेष परिणामों को प्राप्त होता है और वह करुणा, दीनता, लज्जा और घृणा के भावों का पात्र बन जाता है।

१२. स वीयरागो कयसव्वकिच्चो खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तवेह जं दंसणमावरेइ जं चऽंतरायं पकरेइ कम्मं।।
(उ० ३२ : १०८)

जो वीतराग है, वह सर्व कृतकृत्य हो क्षण-मात्र में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर देता है और इसी तरह से जो दर्शन को ढँकता है उस दर्शनावरणीय और विघ्न करता है, उस अन्तराय कर्म का भी क्षय कर डालता है।

१३. सव्वं तवो जाणइ पासए य अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे।।
(उ० ३२ : १०६)

तदन्तर वह आत्मा राब कुछ जानती-देखती है तथा मोह और अन्तराय से सर्वथा रहित हो जाती है। फिर आस्रवों से रहित ध्यान और समाधि से युक्त वह विशुद्ध दशा को प्राप्त आत्मा, आयु समाप्त होने पर मोक्ष को प्राप्त करती है।

१४. सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को जं बाहई सययं जंतुमेयं।
दोहाभयविप्पमुक्को पसत्थो तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो।।
(उ० ३२ : ११०)

फिर वह सिद्ध आत्मा सर्व दुःखों से, जो जीव को सतत पीड़ा देते हैं, मुक्त हो जाती है। दीर्घ रोग से विप्रमुक्त हो वह कृतार्थ आत्मा अत्यन्त प्रशस्त और सुखी होती है।

५. योगी

१. जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।। (मो० पा० : १२)

जो योगी शरीर के विषय में निरपेक्ष (उदासीन) है, निर्द्वन्द्व है, ममत्वरहित है, आरंभ-रहित है और आत्म-स्वभाव में लीन है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

२. जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं।। (मो० पा० २०)

योगी को जिनवर भगवान द्वारा बतलाए हुए मार्ग के अनुसार ध्यान में शुद्ध आत्मा को ध्यान चाहिए। जिस ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, क्या उससे स्वर्गलोक की प्राप्ति नहीं हो सकती ?

३. मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोइ जोयत्थो जोयए अप्पा।। (मो० पा० : २८)

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य को मन, वचन, काय से त्यागकर योग में स्थित योगी मौनव्रतपूर्वक आत्मा का ध्यान करता है।

४. जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणेइ सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण हं।। (मो० पा० : २६)

क्योंकि वह सोचता है कि जो रूप (शरीर) मैं देखता हूँ वह (अचेतन होने से) कुछ भी नहीं जानता और जो जाननेवाला आत्मा है वह दिखाई नहीं देता, तब मैं किससे बोलूं ?

५. सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं।
जोयत्था जाणए जोई जिणदेवेण भासियं।। (मो० पा० : ३०)

योग में स्थित योगी सब कर्मों के आस्रव को रोककर पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है और फिर (केवलज्ञान होकर) सब भावों को जानता है, ऐसा जिनदेव ने कहा है।

६. जो सुत्तो ववहारे सो जोइ जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे।। (मो० पा० : ३१)

जो योगी लोक-व्यवहार में सोता है वह आत्मिक-कार्य में जागता है, और जो लोक-व्यवहार में जागता है वह आत्मिक-कार्य में सोता है।

७. इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेणं।। (मो० पा० ३२)

ऐसा जानकर योगी सब प्रकार के व्यवहार को सर्वथा छोड़ देता है और जैसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है उसी प्रकार से परमात्मा का ध्यान करता है।

८. परमप्पयं झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।। (मो० पा० : ४८)

परमात्मा का ध्यान करनेवाला योगी कर्मरूपी महामल के ढेर से मुक्त हो जाता है तथा नये कर्मों को ग्रहण नहीं करता,, ऐसा जिनवर देव ने कहा है।

९. होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पणं परमपयं पावए जाई।। (मो० पा० : ४९)

इस प्रकार चारित्र में दृढ़ होकर और मन में दृढ़ सम्यग्दर्शन की भावना लेकर आत्मा का ध्यान करनेवाला योगी परमपद मोक्ष को प्राप्त करता है।

१०. उद्धद्धमज्झलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं ठाणं।। (मो० पा० : ८१)

ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला ही हूँ, इस भावना से योगी शाश्वत स्थान—मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

११. णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं।। (मो० पा० : ८३)

निश्चयनय का ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा में आत्मा के द्वारा अच्छी तरह से लीन आत्मा ही सम्यक् चारित्र का पालक योगी है, और वही निर्वाण को प्राप्त करता है।

१२. दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणं दुक्खं।
भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं।। (मो० पा० : ६५)

बड़ी कठिनता से आत्मा को जाना जाता है। आत्मा को जानकर उसी में भावना का होना और भी कठिन है और आत्मा की भावना करनेवाला पुरुष भी कठिनता से ही विषयों से विरक्त होता है।

१३. ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाण।। (मो० पा ६६)

जब तक मनुष्य विषयों में लीन रहता है तब तक आत्मा को नहीं जानता। जिसका चित्त विषयों से विरक्त है वह योगी ही आत्मा को जानता है।

१४. अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा।। (मो० पा० : ६७)

विषयों में विमोहित हुए कुछ मूढ़ मनुष्य आत्मा को जानकर भी आत्म-भावना से भ्रष्ट होने के कारण चार गतिरूप संसार में भ्रमण करते हैं।

१५. जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण सदेहो।। (मो० पा० : ६८)

किन्तु जो विषयों से विरक्त हैं और आत्मा को जानकर आत्मा की भावना भाते हैं, तथा तप और सम्यग्दर्शन आदि गुणों से विशिष्ट हैं, वे योगी चतुर्गतिरूप संसार को छोड़ देते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

६. सम्यग्दृष्टि

१. किं जीवदया धम्मो जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो।
इच्चेवमादि-संका तदकरणं जाण णिस्संका।।
(द्वा० अ० : ४१४)

क्या जीवदया धर्म है? अथवा यज्ञ में पशुओं की हिंसा होती है वह धर्म है? इत्यादि रूप संशय होना शंका है। ऐसी शंका नहीं करना ही निशंका गुण है।

२. दयभावो वि य धम्मो हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो।
इदि संदेहाभावो णिस्संका णिम्मला होदि।। (द्वा० अ० ४१५)

दयाभाव ही धर्म है, हिंसाभाव धर्म नहीं कहलाता—ऐसा संदेह का अभाव निर्मल निःशंकित गुण है।

३. जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० : २२६)

जो कर्मबंधसंबंधी मोह को उत्पन्न करनेवाले—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग इन चारों ही पायों को काट डालता है, उस निःशंक चैतन्य आत्मा को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

४. जो सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं।
मुक्खं समीहमाणो णिक्खंखा जायदे तस्स।। (द्वा० अ० ४१६)

जो सम्यग्दृष्टि दुर्द्धर तप से मोक्ष की ही वांछा करता है, स्वर्गसुख के लिए धर्म का आचरण नहीं करता है, उसके निःकांक्षित गुण होता है।

५. जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३०)

जो सब कर्मों के फलों में और सब वस्तुधर्मों में आकांक्षा नहीं रखता उस आत्मा को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

६. दहविहधम्मजुदाणं सहावदुग्गंधअसुइदेहेसु।
जं णिंदणं ण कीरइ णिव्विदिगिंछा गुणो सो हु।। (द्वा० अ० ४१७)

दस प्रकार के धर्म से युक्त मुनि का शरीर स्वभाव से ही दुर्गन्धित और अशुचि होता है। उसकी निन्दा नहीं करना, यही निर्विचिकित्सा गुण है।

७. जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३१)

जो आत्मा सभी वस्तुधर्मों के प्रति ग्लानि नहीं करता उस निर्विचिकित्सा गुण के धारण करनेवाले को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

८. भयलज्जालाहादो हिसारंभो ण मण्णदे धम्मो।
जो जिणवयणे लीणो अमूढदिट्ठी हवे सो हु।। (द्वा० अ० : ४१८)

जो भय, लज्जा और लाभ से हिंसापूर्ण आरंभ कार्यों को धर्म नहीं मानता और जिन-वचनों में लीन है, वह पुरुष अमूढ़दृष्टि गुण से युक्त है।

९. जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढादिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३२)

जो चेतन आत्मा सब भावों में अमूढ़ है, यथार्थ दृष्टिवाला है, उस अमूढ़ दृष्टि को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१०. जो परदोसं गोवदि णियसुकयं णो पयासदे लोए।
भवियव्वभावणरओ उवगूहणकारओ सो हु।। (द्वा० अ० ४१९)

जो सम्यग्दृष्टि दूसरे के दोषों को गुप्त रखता है, अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता फिरता तथा जो ऐसी भावना में लीन रहता है कि जो भवितव्य है वह होता है और वही होगा वह उपगूहण गुण करनेवाला है।

११. जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३३)

जो आत्मा सिद्धभक्ति से युक्त है और मिथ्यात्व, रागादि विभावरूप धर्मों का उपगूहक—विनाशक है, उस उपगूहनकारी को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१२. धम्मादो चलमाणं जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि।
अप्पाणं सुदिढयदि ठिदिकरणं होदि तस्सेव।। (द्वा० अ० ४२०)

जो धर्म से विचलित होते हुए दूसरे को, धर्म में स्थापित करता है और अपने आत्मा को भी सुदृढ़ करता है, उसके निश्चय से स्थितिकरण गुण होता है।

१३. उम्मग्गं गच्चंतं सगं पि मग्गे ठेवेदि जो अप्पा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३४)

जो आत्मा उन्मार्ग में जाते हुए अपने को भी मार्ग में स्थापित करता है, उस स्थितिकरण गुण से युक्त आत्मा को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१४. जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरण कुणदि परमसद्धाए।
पियवयणं जंपंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स।। (द्वा० अ० ४२१)

जो सम्यग्दृष्टि जीव धार्मिकों के प्रति भक्तिवान होता है, उनके अनुसार प्रवृत्ति करता है तथा परम श्रद्धा से प्रिय वचन बोलता है, उसके वात्सल्य गुण होता है।

१५. जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३५)

जो मोक्षमार्ग में स्थित आचार्य, उपाध्ययाय और साधुओं के प्रति वात्सल्यभाव करता है, उस वात्सल्यभाव युक्त आत्मा को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१६. जो दसभेयं धम्मंभव्वजणाणं पयासदे विमलं।
अप्पाणं पि पयासदि णाणेण पहावणा तस्स।। (द्वा० अ० ४२२)

जो सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान से दस भेद-रूप विमल धर्म को भव्य जीवों के निकट प्रगट करता है तथा अपनी आत्मा को दस प्रकार के धर्म से प्रकाशित करता है, उसके प्रभावनागुण होता है।

१७. जिणसासणमाहप्पं बहुविहजुत्तीहिं जो पयासेदि।
तह तिव्वेण तवेण य पहावणा णिम्मला तस्स।। (द्वा० अ० ४२३)

जो सम्यग्दृष्टि पुरुष अनेक प्रकार की युक्तियों से तथा महान दुर्द्धर तपश्चरण से जिनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करता है, उसके निर्मल प्रभावना गुण होता है।

१८. विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।। (स० सा० २३६)

जो आत्मा विद्यारूपी रथ में चढ़कर मनरूपी रथ के मार्ग में भ्रमण करता है, उस जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करनेवाले पुरुष को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

१६. जो ण कुणदि परतत्तिं पुण पुण भावेदि सुद्धमप्पाणं।
इंदियसुहणिरवेक्खो णिस्संकाई गुणा तस्स।।
(द्वा० अ० ४२४)

जो पुरुष दूसरों की निन्दा नहीं करता, पुनः-पुनः शुद्ध आत्मा की भावना करता है तथा जो इन्द्रियसुखों के प्रति निरपेक्ष होता है, उसके निःशंकित आदि आठ गुण होते हैं।

२०. णिस्संकापहुडिगुणा जह धम्मे तह य देवगुरुतच्चे।
जाणेहि जिणमयादो सम्मत्तविसोहया एदे।। (द्वा० अ० ४२५)

ये निःशंकित आदि आठ गुण जैसे धर्म वैसे ही देव, गुरु और तत्त्वों के विषयों में भी लागू होते हैं। इनको प्रवचन से जानना चाहिए। ये आठ गुण सम्यक्त्व को विशुद्ध करनेवाले हैं।

२१. जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु।
उवसमभावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमित्तं।। (द्वा० अ० ३१३)

जो सम्यग्दृष्टि होता है वह पुत्र-कलत्र आदि सब अर्थों में गर्व नहीं करता है। वह उपशम भावों को भाता है तथा अपने को तृण के समान तुच्छ मानता है।

२२. विसयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि।
मोहविलासो एसो इदि सव्वं मण्णदे हेयं।। (द्वा० अ० ३१४)

अविरत सम्यग्दृष्टि इन्द्रियविषयों में आसक्त रहता हुआ भी तथा सब आरंभों को करता हुआ भी उन सबको हेय (त्यागने योग्य) मानता है और ऐसा जानता है कि यह मोह का विलास है।

२३. उत्तमगुणगहणरओ उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो
साहम्मियअणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो।। (द्वा० अ० ३१५)

जो उत्तम गुण—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप आदि के ग्रहण करने में अनुरागी होता है, उन गुणों के धारक उत्तम साधुओं के प्रति विनय संयुक्त होता है और साधर्मियों में अनुरागी होता है वह उत्तम सम्यग्दृष्टि होता है।

२४. देहमिलियं पि जीवं णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं।
जीवमिलियं पि देहं कंचुवसरिसं वियाणेइ।। (द्वा० अ० ३१६)

यह जीव देह से मिला हुआ है तो भी सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान-गुण से अपने को देह से भिन्न हीं जानता है। देह जीव से मिला हुआ है तो भी उसको काँचली के समान जानता है।

२५. ण म को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि।। (द्वा० अ० ३१६)

सम्यग्दृष्टि सोचता है—इस जीव को कोई व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी नहीं देते हैं, न अन्य कोई इस जीव का उपचार करता है। जीव के पूर्व संचित शुभ-अशुभ कर्म ही उपकार-अपकार करते हैं।

२६. भत्तीए पुज्जमाणो विंतरदेवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी।।
(द्वा० अ० ३२०)

सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि यदि भक्ति से पूजा हुआ व्यन्तर देव ही लक्ष्मी को देता है, तो धर्म क्यों किया जाता है ?

२७. एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी।। (द्वा० अ० ३२३)

जो निश्चयपूर्वक सर्व द्रव्य और उनकी सब पर्यायों को आगम के अनुसार जानता है वह जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है। जो उनमें शंका करता है वह प्रगट रूप से मिथ्या दृष्टि है।

२८. सम्माइट्ठी जीवो दुग्गइहेदुं ण बंधदे कम्मं।
जं बहुभवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि।। (द्वा० अ० ३२७)

सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गति के कारण अशुभ कर्म को नहीं बाँधता है और जो अनेक पूर्वभवों में बाँधे हुए पापकर्म हैं उनका भी नाश करता है।

७. वन्दनीय

१. दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।। (द० पा० २)

जिनवर ने दर्शनमूलक धर्म का उपदेश दिया है। हे सुकर्ण ! उसे सुनकर जो दर्शनहीन है उसकी वन्दना नहीं करनी चाहिए।

२. जे दंसणेसु भट्ठा पाए ण पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमूआ वोही पुण दुल्लहा तेसिं।। (द० पा० १२)

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होने पर भी अन्य सम्यग्दर्शन के धारकों को अपने चरणों में गिराते हैं—नमस्कार कराते हैं वे परभव में लूले और मूक होते हैं। उन्हें पुनः बोधि की प्राप्त दुर्लभ होती है।

३. जे पि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं।। (द० पा० १३)

जो सम्यक्दर्शन से युक्त पुरुष उन्हें मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी लज़्जा, गौरव और भय के वश हो उनके चरणों में गिरते हैं उनके बोधि की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वे पाप का अनुमोदन करते हैं।

४. दुविहं हि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होइ।। (द० पा० १४)

जिनमें बाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह का परित्याग है, जिनमें मन, वचन और काय तीनों का संयम है, जिनमें ज्ञान है, करणशुद्धि है, भोजन-विशुद्धि है ऐसे साधु पुरुष दर्शन योग्य हैं।

५. दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकालमुवजुत्ता।
एदे खु वंदणिज्जा जे गुणवादी गुणधराणं।। (मू० ५९६)

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—इन चार विनयों में जो सदा काल लीन हैं, जो शीलादि गुणों को धारण करनेवाले पुरुषों के गुणों का बखान करनेवाले हैं, वे निश्चय ही वन्दनीय होते हैं।

६. अस्संजदं ण वंदे वच्छविहीणो वि सो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। (द० पा० २६)

असंयमी को वन्दना नहीं करनी चाहिए। वस्त्रविहीन हो (पर संयमी न हो तो) उसकी भी वंदना नहीं करनी चाहिए। दोनों ही संयम-रहित समान हैं। इनमें कोई भी संयमी नहीं।

७. ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो।
को वंदमि गुणाहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ।। (द० पा० २७)

देह वन्दनीय नहीं होता, न कुल और जाति-सम्पन्न ही वन्दनीय होते हैं। गुणहीन न श्रमण होता है और न श्रावक ही। गुणहीन की कौन वंदना करेगा ?

८. समणं वंदेज्ज मेधावी संजतं सुसमाहितं।
पंचमहव्वदकलिदं असंजमजुगंछयं धीरं।। (मू० ५९५)

हे बुद्धिमान ! तू ऐसे श्रमण की वंदना कर जो आचरण में संयत है, सुसमाहित—ध्यान और अध्ययन में लीन है, अहिंसादि पांच महाव्रतों से युक्त है, असंयम से ग्लानि रखनेवाला है तथा धीर है।

८. स भिक्षुः स पूज्यः

१. निक्खम्ममाणाए बुद्धवयणे निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा।
इत्थीणं वसं न यावि गच्छे वंतं नो पडियायई जे न भिक्खू।।
(द० १० : १)

जो निष्क्रमण कर—प्रव्रज्या ले—बुद्धपुरुष के वचनों में सदा समाहित-चित्त होता है, जो स्त्रियों के वशीभूत नहीं होता और जो वमन किए हुए भोगों को पुनः ग्रहण नहीं करता—वह भिक्षु है।

२. चत्तारि वमे सया कसाए धुवयोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूवरयए गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू।।
(द० १० : ६)

जो क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का सदा परित्याग करता है, जो जिन-वंचनों में धुव्रयोगी (स्थिर-चित्त) होता है, जो निष्किंचन है, जो चांदी-सोना आदि किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता और जो सदा गृहस्थोचित्त कार्यों का परिवर्जन करता है—वह भिक्षु है।

३. सम्मद्दिट्ठी सया अमूढ़े अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।
तवसा धुणइ पुराणपावगं मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू।।
(द० १० : ७)

जो सम्यग्दृष्टि है, जो सदा अमूढ़ है, जो ज्ञान, तप और संयम में सदा विश्वासी है, जो मन, वचन और शरीर को अच्छी तरह संवृत रखनेवाला है, जो तप द्वारा पुराने पाप-कर्मों को धुन डालता है—वह भिक्षु है।

४. न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमधुवजोगजुत्ते उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू।।
(द० १० : १०)

जो कलह उत्पन्न करनेवाली कथा नहीं कहता, जो किसी पर क्रोध नहीं करता, जो इन्द्रियों को सदा वश में रखता है, जो मन से प्रशान्त है, जो संयम में सदा धुव्रयोगी (स्थिर मन) है, जो कष्ट के समय आकुल-व्याकुल नहीं होता और जिसकी उचित के प्रति उपेक्षा नहीं होती—वह भिक्षु है।

५. असइं वोसट्ठचत्तदेहे अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढवि समे मुणी हवेज्जा अनियाणे अकोउहल्ले य जे स भिक्खू।।
(द० १० : १३)

जो मुनि बार-बार व्युत्सर्ग करता है, त्यक्तदेह होता है, जो आक्रोश किए जाने, पीटे जाने या घायल किये जाने पर भी पृथ्वी के समान क्षमाशील होता है, जो निदान (फल की कामना) नहीं करता तथा जो नाच-गान आदि में उत्सुकता नहीं रखता—वह भिक्षु है।

६. अभिभूय काएण परीसहाइं समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं।
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं तवे रए सामणिए जे स भिक्खू।।
(द० १० : १४)

जो शरीर से परीषहों को जीतकर, विविध योनिरूप संसार से अपनी आत्मा का समुद्धार कर लेता है, जो जनम-मरण को महा भयंकर जानकर श्रमण-योग्य तप में रत रहता है—वह भिक्षु है।

७. हत्थसंजए पायसंजए वायसंजए सजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा सुतत्थं च वियाणई जे स भिक्खू।।
(द० १० : १५)

जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, वाणी से संयत है, इनिद्रयों से संयत है, जो आध्यात्म में रत है, जो आत्मा से सुसमाधिस्थ है और सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है—वह भिक्षु है।

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे उंछं चरे जीविय नाभिकंखे।
इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू।।
(द० १० : १७)

जो अलोलुप है, रसों में गृद्ध नहीं है, उञ्छ की चर्या करता है, असंयम जीवन की आकांक्षा नहीं करता, ऋद्धि, सत्कार और पूजा की भावना का त्याग करता है तथा जो स्थितात्मा है और मायारहित है—वह भिक्षु है।

९. न परं वएज्जासि अयं कुसीले जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू।।
(द० १० : १८)

प्रत्येक के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा जानकर जो दूसरे को 'यह कुशील है' ऐसा नहीं कहता, जो जिससे दूसरा कुपित हो ऐसी बात नहीं कहता, जो अपनी बड़ाई नहीं करता—वह भिक्षु है।

१०. न जाइमत्ते न य रूवमत्ते न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू।।
(द० १० : १९)

जो जाति का मद नहीं करता, रूप का मद नहीं करता, लाभ का मद नहीं करता, श्रुत (ज्ञान) का मद नहीं करता—इस प्रकार सब मदों को विवर्जन कर जो धर्मध्यान में सदा रत रहता है—वह भिक्षु है।

११. पवेयए अज्जपयं महामुणी धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्मं वज्जेज्ज कुसीललिंगं न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू।।
(द० १० : २०)

जो महामुनि आर्यपदों का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित रह दूसरों को स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुसील-लिग्ङ का परित्याग करता है, जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है।

१२. गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : ११)

गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। सद्गुणों को ग्रहण करो और दुर्गुणों को छोड़ो। जो अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को जानकर राग और द्वेष में समभाव रखता है—वह पूज्य है।

१३. अन्नायउंछ चरई विसुद्धं जवणट्ठया समुयाण च निच्चं।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : ४)

जो जीवन-यापन के लिए सदा अज्ञात रह—बिना अपना परिचय दिए—विशुद्ध सामुदायिक उञ्छ की गवेषणा करता है, जो न मिलने पर खेद नहीं करता, मिलने पर श्लाघा नहीं करता—वह पूज्य है।

१४. अलोलुए अक्कुहए अमाई अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा अकोउहल्ले य सया स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : १०)

जो लोलुप नहीं है, चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता, अमायी है, चुगली नहीं करता, वृत्ति में दीन नहीं है, जो दूसरों को अकुशल भावना से भावित नहीं करता, न स्वयं अकुशल भावना से भावित है और जो कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है।

१५. तेसिं गुरूण गुणसागराणं सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो चउक्कसायावगए स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : १४)

जो मेधावी मुनि उन गुणों के सागर गुरुओं के सुभाषितों को सुनकर उनके अनुसार चलता है, पाँच महाव्रतों में रत होता है, मन, वचन और काय से गुप्त होता है तथा जो क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों से रहित होता है—वह पूज्य है।

१६. सक्का सहेउं आसाए कंटया अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए वईमए कण्णमए स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : ६)

उच्च कामना की आशा से मनुष्य लोहे के तीक्ष्ण काँटों को सहन करने में समर्थ हो सकता है, किन्तु कानों में बाणों की तरह चुभनेवाले कठोर वचनरूपी कांटों को जो सहन कर लेता है—वह पूज्य है।

१७. समावयंता वयणाभिघाया कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे जिइंदिए जो सहई स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : ८)

समूहरूप से आते हुए कठोर वचनरूपी प्रहार कान में पड़ते ही दौर्मनस्यभाव उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु 'क्षमा करना परम धर्म है' ऐसा मानकर जो इन्हें समभावपूर्वक सहन कर लेता है, वह क्षमासूरों में अग्रणी और जितेन्द्रिय पुरुष पूज्य है।

१८. संथारसेज्जासणभत्तपाणे अप्पिच्छया अइलाभे वि संते।
जो एवमप्पाणभितोसएज्जा संतोसपाहन्न रए स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : ५)

जो संस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदि के अधिक मिलने पर भी अल्प इच्छावाला होता है और प्रधानतः संतोष में रत होता है—इस प्रकार जो साधु अपनी आत्मा को सदा तुष्ट रखता है—वह पूज्य है।

६. अबहुश्रुत : बहुश्रुत

१. जे यावि होइ निव्विज्जे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
अभिक्खणं उल्लवई अविणीए अबहुस्सुए।। (उ० ११ : २)

जो कोई निर्विद्य—शास्त्रज्ञानरहित, अभिमानी, क्षुब्ध, अजितेन्द्रिय, बार-बार असम्बद्ध बोलनेवाला और अविनीत होता है, वह अबहुश्रुत है।

२. अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण य।। (उ० ११ : ३)

इन पाँच स्थानों (कारणों) से शिक्षा प्राप्त नहीं होती—मान से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से।

३. अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दंते न य मम्ममुदाहरे।।
नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
आकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई।। (उ० ११ : ४, ५)

आठ स्थानों (कारणों) से व्यक्ति को शिक्षाशील कहा जाता है। (१) जो हास्य नहीं करता, (२) सदा इन्द्रियों और मन का दमन करता रहता है, (३) मर्मभेदी बात नहीं कहता, (४) शीलरहित नहीं होता, (५) विषमशील (दोषयुक्त चरित्रवाला) नहीं होता, (६) अति लोलुप नहीं होता, (७) अक्रोधी होता है और (८) सत्यरत होता है, वह शिक्षाशील कहलाता है।

४. वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई।। (उ० ११ : १४)

जो नित्य गुरुकुल में वास करता है, जो योगयुक्त और तपस्वी होता है, जो प्रिय करनेवाला होता है, जो प्रियवादी होता है, वह शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होता है।

५. विणयहीया विज्जा देंति फलं इह परे य लोगम्मि।
न फलंति विणयहीणा सस्साणि व तोयहीणाई।। (स० सु० ४७१)

विनयपूर्वक प्राप्त की गई विद्या इस लोक तथा परलोक में शुभ फल देती है। विनय-रहित विद्या वैसे ही नहीं फलती जैसे जल बिना धान्य।

६. तम्हा सव्वपयत्ते विणीयत्तं मा कदाइ छंडेज्जा।
अप्पसुदो वि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण।। (मू० ५८६)

इसलिए सब प्रकार का प्रयत्न करके विनयभाव को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। अल्पश्रुत पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मों का नाश करता है।

७. जहा संखम्मि पयं निहियं दुहओ वि विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू धम्मो कित्ती तहा सुयं।। (उ० ११ : १५)

जिस प्रकार संख में रखा हुआ दूध दोनों ओर से सुशोभित होता है, वैसे ही बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति तथा श्रुत दोनों ओर से सुशोभित होते हैं।

८. जहा से तिमिरविद्धंसे उत्तिट्ठंते दिवायरे।
जलंते इव तेएण एवं हवइ बहस्सुए।। (उ० ११ : २४)

जिस प्रकार अंधकार का नाश करनेवाला उगता हुआ सूर्य तेज से जाज्वल्यमान होता है उसी प्रकार बहुश्रुत तप-तेज से प्रकाशमान होता है।

६. जहां से सयंभूरमणे उदही अक्खओदए।
नाणारयणपडिपुण्णे एवं हवइ बहुस्सुए।। (उ० ११ : ३०)

जिस प्रकार अक्षय उदकवाला स्वयंभूरमण समुद्र विविध प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

१०. तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा उत्तमट्ठगवेसए।
जेणऽप्पाणं परं चेव सिद्धिं संपाउणेज्जासि।। (उ० २१ : ३२)

अतः उत्तम अर्थ की गवेषणा करनेवाला श्रुत का आश्रय ले, जिससे स्वयं को और दूसरों को सिद्धि की प्राप्ति करा सके।

१०. शिष्य : प्राज्ञ और अप्राज्ञ

१. अणुसासणमोवायं दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मन्नए पण्णो वेसं होइ असाहुणो।। (उ० १ : २८)

प्राज्ञ शिष्य गुरु के अनुशासन रूप उपाय और असदाचरण के लिए भर्त्सना को हितकारी मानता है, किन्तु वही असाधु के लिए द्वेष का हेतु बन जाता है।

२. हियं विगयभया बुद्धा फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं खंति-सोहिकरं पयं।। (उ० १ : २९)

विगत-भय, बुद्धिमान शिष्य, गुरु के रूक्ष अनुशासन को भी हितकर मानते हैं, किन्तु मूर्खों के लिए वही क्षमा और चित्त-विशुद्धि का हेतु अनुशासन द्वेष का निमित्त बन जाता है।

३. खड्डुया मे चवेडा मे अक्कोसा य वहा य मे।
कल्लाणमणुसासंतो पावदिट्ठि त्ति मन्नई।। (उ० १ : ३८)

पापदृष्टि शिष्य गुरु द्वारा कल्याण के लिए अनुशासित किए जाने पर ऐसा मानता है—मुझे ठोकर मार दी, मुझे चपेटा लगा दिया, मुझ पर आक्रोश किया, मुझे पीटा।

४. पुत्तो मे भाय नाइ त्ति साहु कल्लाण मन्नई।
पावदिट्ठि उ अप्पाणं सासं दासं व मन्नई।। (उ० १ : ३९)

विनीत शिष्य सोचता है—मुझे पुत्र, भाई, ज्ञाति मानकर गुरु मुझ पर शासन कर रहे हैं। इस तरह विनीत साधु गुरु के अनुशासन को कल्याणकारी मानता है परन्तु पाप-दृष्टि शिष्य शासित किये जाने पर अपने को दास की तरह सोचने लगता है।

५. अणासवा थूलवया कुसीला मिउं पि चण्डं पकरेंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयं पि।।
(उ० १ : १३)

गुरु के वचन को न माननेवाले और बिना विचारे बोलनेवाले कुशील शिष्य मृदु स्वभाववाले गुरु को भी क्रोधी कर देते हैं। गुरु के चित्त के अनुसार चलनेवाले और थोड़े बोलनेवाले चतुर शिष्य अति क्रोधी गुरु को भी अपने गुणों से प्रसन्न कर लेते हैं।

६. आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई।। (उ० १ : २)

गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करनेवाला, उसके समीप रहनेवाला (अथवा शुश्रूषा करनेवाला) तथा गुरु के इंगित और आकार को भलीभाँति समझनेवाला शिष्य विनीत कहलाता है।

७. आणाऽनिद्देसकरे गुरूणमणुववायकारए।
पडिणीए असंबुद्धे अविणीए त्ति वुच्चई।। (उ० १ : ३)

जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करनेवाला नहीं होता, उसके समीप नहीं रहता (अथवा शुश्रूषा नहीं करता) तथा जो प्रतिकूल चलनेवाला और बोधरहित होता है, वह अविनीत कहलाता है।

८. दुग्गओ वा पओएणं चोइओ वहई रहं।
एयं दुबुद्धि किच्चाणं वुत्तो वुत्तो पकुव्वई।। (द० ६ (२) : १६)

जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर ही कार्य करता है।

९. जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।।
(द० ६ (२) : २२)

जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है, जो पिशुन है, जो साहसिक है, जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नहीं करता, जो अदृष्ट-(अज्ञात-) धर्मा है, जो विनय में अकोविद है, जो असंविभागी है उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

१०. निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया।।
(द० ६ (२) : २३)

और जो गुरु के आज्ञाकारी हैं, जो गीतार्थ हैं, जो विनय में कोविद हैं, वे इस दुस्तर संसार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

११. प्रव्रज्या

१. गिह-गंथ-मोह-मुक्का बावीसपरीसहाजि अकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ४५)

जो घर और परिग्रह के मोह से मुक्त है, जिसमें बाईस परीषहों को सहा जाता है, कषायों को जीता जाता है और जो पापपूर्ण आरम्भ से रहित है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

२. सत्तू-मित्ते व समा पसंस-णिंदा-अलद्धि-लद्धिसमा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ४७)

जिसमें शत्रु और मित्र के विषय में समभाव है, प्रशंसा और निन्दा तथा लाभ और अलाभ में समभाव है, तृण और कंचन में समभाव है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

३. उत्तम-मज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खो।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ४८)

जिसमें मुनि उत्तम और मध्यम घर में तथा दरिद्र और धनवान में भेद न करके निरपेक्ष भाव से सर्वत्र आहार ग्रहण करता है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

४. णिग्गंधा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ४६)

जो परिग्रहरहित है, आसक्तिरहित है, मान-मदरहित है, आशारहित है, रागरहित है, दोषरहित है, ममत्वरहित है और अहंकाररहित है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

५. णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।(बो० पा० ५०)

जो स्नेहरहित है, लोभरहित है, मोहरहित है, विकाररहित है, भयरहित है, कालिमारहित है, आशा-भाव से रहित है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

६. उवसम-खम-दमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा।
मय-राय-दोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।।(बो० पा० ५२)

जो उपशम (शान्त भाव), क्षमा और इन्द्रिय-निग्रह सहित है, जिसमें शरीर का संस्कार नहीं किया जाता, तैल-मर्दन नहीं किया जाता और जो मद, राग तथा द्वेष से रहित है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

७. विवरीयमूढभावा पणट्ठ-कम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ५३)

जो मूढ़भाव—अज्ञानता से रहित है, जिसके द्वारा आठों कर्म नष्ट कर दिए जाते हैं, जिसमें मिथ्यात्व का नाश हो जाता है और जो सम्यग्दर्शन गुण से निर्मल है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

८. तिलओसत्तणिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं।। (बो० पा० ५५)

जिसमें तिल बराबर भी आसक्ति में कारणभूत बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं, जैसा कि सर्वज्ञ देव ने कहा है।

९. पसु-महिल-संढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झाय-झाण-जुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।।
(बो० पा० ५७)

जिसमें पशु, स्त्री, नपुंसक की संगति और व्यभिचारियों की संगति नहीं की जाती और न स्त्री आदि की खोटी कथाएँ की जाती हैं तथा जिसमें स्वाध्याय और ध्यान में तन्मय होना होता है, उसे प्रव्रज्या कहते हैं।

१०. तव-वय-गुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। (बो० पा० ५८)

जो तप, व्रत और गुणों से शुद्ध है, संयम और सम्यक्त्व गुण से अत्यन्त निर्मल है तथा शुद्ध गुणों से शुद्ध है, उसे प्रव्रज्या कही गई है।

: २६ :

स्वगत-चिन्तन

१. आत्मा और चिन्तन

१. सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनियचित्तो।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि।।
(आव० ४ : ३)

धर्म में स्थिर-चित्त होकर मैं भावपूर्वक—अन्तःकरण से सब जीवों से अपने अपराधों की क्षमा चाहता हूँ। अपनी ओर से मैं उनके अपराधों को क्षमा करता हूँ।

२. खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएस वेरं मज्झं न केणइ।। (आव० ४ : ५)

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव मुझे भी क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है, किसी के भी साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है।

३. सम्मं सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ताण समाहिं पडिवज्जए।। (मू० ४२)

सब प्राणियों के प्रति मेरे मन में साम्य है, किसी के प्रति वैर-भाव नहीं है। आशा-तृष्णा का परित्याग कर मैं समाधि को अंगीकार करता हूँ।

४. रायबंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे।। (मू० ४४)

साम्य की साधना के लिए मैं स्नेह-बंधन, द्वेष, हर्ष, दीनभाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति और अरति का परित्याग करता हूँ।

५. ममत्तिं परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।।[1] (मू० ४५)

मै निर्ममत्व में उपस्थित हो ममत्व का विसर्जन करता हूं। (साधना-पथ में) मेरी आत्मा ही मेरा आलम्बन है। शेष सबका परित्याग करता हूँ।

६. आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए।। (मू० ४६)

---

१. भा० पा० ५७; नि० सा० ६६।

मेरी आत्मा मेरे ज्ञान में है, मेरी आत्मा मेरे दर्शन म है, मेरी आत्मा मेरे चारित्र में है, मेरी आत्मा मेरे प्रत्याख्यान में है, मेरी आत्मा मेरे संवर में है तथा मेरी आत्मा मेरे योग में है—अतः इसका त्याग कैसे कर सकता हूँ।

७. एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ।। (मू० ४७)

यह जीव अकेला ही मरता है, अकेला ही जन्मता है। इस अकेले के ही जन्म-मरण होते हैं। सर्व कर्म-रज से रहित हो अकेला ही जीव सिद्ध (मुक्त) होता है।

८. एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। (मू० ४८)

ज्ञान और दर्शन लक्षणवाला एक मेरा आत्मा ही नित्य है। शेष शरीरादिक मेरे बाह्यभाव हैं। वे संयोग लक्षणवाले हैं—आत्मा के सम्बन्ध से उत्पन्न हैं, अतः वे विनाशशील हैं।

९. संजोयमूलं जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे।। (मू० ४९)

इस जीव ने परद्रव्य के साथ संयोग के निमित्त से हमेशा दुःख-परम्परा को प्राप्त किया। इसलिए सब संयोग-संबंध को मन, वचन, काया—इन तीनों से छोड़ता हूँ।

१०. अस्संजमंमण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्तिं।
जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि।। (मू० ५१)

असंयम, अज्ञान, मिथ्यात्व और जीव तथा अजीवपदार्थों में ममत्व—ऐसे सब भावों की मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

११. णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं।
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं।। (मू० ५५)

मैं निन्दनीय की निन्दा करता हूँ। गर्हणीय की गर्हा करता हूँ। मैं अभ्यन्तर और बाह्य सर्व उपधि—परीग्रह की आलोचना करता हूँ।

१२. जह बालो जप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जयं भणदि।
तह आलोचेदव्वं माया मोसं च मोत्तूण।। (मू० ५६)

जैसे बालक बोलता हुआ कार्य-अकार्य को सरल वृत्ति से कहता है, उसी तरह माया तथा असत्य को छोड़कर आलोचना करना उचित है।

१३. णाणम्हि दंसणम्हि य तवे चरित्ते य चउसुवि अकंपो।
धीरो आगमकुसलो अपरस्सावी रहस्साणं।। (मू० ५७)

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चार आचार में अकंप (दृढ़) हो, जो धीर, आगम-कुशल और रहस्य में की गयी आलोचना को प्रगट करनेवाला नहीं हो उसी के पास आलोचना करनी चाहिए।

१४. रागेण व दोसेण व जं मे अकदण्हुयं पमादेण।
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि।। (मू० ५८)

राग अथवा द्वेष के वश मैंने कोई अकृतज्ञता की हो अथवा प्रमाद के कारण मैंने किसी को अनुचित कहा हो तो मैं उन सब से क्षमा चाहता हूँ।

१५. जं जं मणेण बद्धं जं जं वायाए भासिअं पावं।
जं जं कएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स।।
(पंच० प्र० संथारा सूत्र)

मैंने जो-जो पाप मन से विचारे हैं, वाणी से बोले हैं और शरीर से किए हैं, वे मेरे सब पाप मिथ्या हों।

२. मृत्यु-भय और चिन्तन

१. सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य।
अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणी।। (मू० ७४)

शस्त्र-घात, विष-भक्षण, अग्नि-प्रवेश और जल-प्रवेश द्वारा अथवा अनाचार उत्पन्न करनेवाली वस्तु के सेवन द्वारा होनेवाले मरण, जन्म और मृत्यु की परंपरा को बढ़ाने-वाले होते हैं।

२. अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव।। (भा० पा० ३२)

हे जीव! इस संसार में तू पहले अनेक जन्मांतरों में कु-मरण से मरा है। अब तो जरा और मरण के विनाश करनेवाले सु-मरण की भावना कर।

३. लद्धं अलद्धपुव्वं जिणवयणसुभासिदं अमिदभूदं।
गहिदो सुग्गइमग्गो णाहं मरणस्स बीहेमि।। (मू० ६६)

मुझे अलब्धपूर्व सुभाषित और अमृततुल्य जिन-वचन प्राप्त हुआ है। मैंने इसके प्रभाव से मोक्ष-मार्ग को ग्रहण किया है। अब मैं मरण से नहीं डरता।

४. धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेणवि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं।। (मू १००)

धीर पुरुष भी मरता है और अधीर पुरुष भी अवश्य मरता है। जब दोनों ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तब मेरे लिए श्रेष्ठ यही है कि धैर्य के साथ मरूँ।

५. सीलेणवि मरिदव्वं णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्वं।
जइ दोहिंवि मरियव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं।। (मू० १०१)

शील से सम्पन्न मनुष्य भी मरता है और शीलरहित मनुष्य भी अवश्य मरता है। जब दोनों ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तब मेरे लिए श्रेष्ठ यही है कि शील-सहित मृत्यु को वरण करूँ।

६. जा गदी अरिहंताणं णिट्ठिदट्ठाण जा गदी।
जा गदी वीनमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा।। (मू० १०७)

जो गति अर्हतों को प्राप्त हुई है, जो गति सिद्धों को प्राप्त हुई है, जो गति वीतरागों को प्राप्त हुई है वही शाश्वत गति मेरी भी हो।

: ३० :

साधक-चर्या

१. हित-मित आहार

१. रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी।।
(उ० ३२ : १०)

रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। रस प्रायः मनुष्यों की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएँ उद्दीप्त होती हैं उसे काम-भोग सताते हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

२. जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई।।
(उ० ३२ : ११)

जैसे पवन के झोंकों के साथ प्रचुर ईंधन वाले वन में लगा हुआ दावानल उपशान्त नहीं होता, उसी प्रकार ठूँस-ठूँसकर खाने वाले पुरुष की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नहीं होती। इसलिए अति भोजन किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता।

३. ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो।। (मू० ४८१)

साधक बल के लिए, आयु के लिए, स्वाद के लिए, शरीर की पुष्टि के लिए, तेज के लिए भोजन नहीं करते, किन्तु वे ज्ञान के लिए, संयम के लिए तथा ध्यान के लिए ही भोजन करते हैं।

४. जमणट्ठं भुंजंति य णवि य पयामं रसट्ठाए। (मू० ८१०)

साधक स्वाध्याय में प्रवृत्ति के लिए आवश्यक हो उतना मात्र ही आहार करते हैं, स्वाद के लिए बहुत आहार नहीं करते।

५. सीदलमसीदलं वा सुक्कं लुक्खं सुणिद्ध सुद्धं वा।
लोणिदमलोणिदं वा भुंजंति मुणी अणासादं।। (मू० ८१४)

ज्ञानी ठण्डा, गर्म, सूखा, रूखा, स्निग्ध, शुद्ध, नमक सहित अथवा बिना नमक का आहार स्वाद न लेते हुए खाता है।

६. अक्खोमक्खणमुत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मंपि चरंति मोक्खट्ठं।। (मू० ८१५)

गाड़ी की धुरी को चुपड़ने के समान प्राणों के धारण के निमित्त ही ज्ञानी आहार करते हैं। वे प्राणों को धर्म के निमित्त और धर्म को मोक्ष के निमित्त धारण करते हैं।

७. पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयणं।
नरस्तऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा।। (उ० १६ : १२, १३)

स्निग्ध, रसदार भक्त-पान तथा अति मात्रा में भक्त-पान आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष की तरह होता है।

८. पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं। (उ० १६ : ७)
साधक के लिए विषय-विकार को शीघ्र बढ़ानेवाला प्रणीत भक्त-पान वर्जनीय है।

२. निद्रा-जय

१. णिद्दं जिणेहि णिच्चं णिद्दा खलु णरमचेदणं कुणदि।
वट्टेज्ज हू पसूतो समणो सव्वेसु दोसेसु।। (मू० ६७२)

तू सदा निद्रा को जीत ! निन्द्रा जीव को अचेतन करती है। प्रसुप्त मनुष्य सब दोषों में वर्तन करता है।

२. जदि अधिवाधिज्ज तुमं णिद्दा तो तं करेहि सज्झायं।
सुहुमत्थे वा चिंतेहि सुणव संवेगणिव्वेगं।।
(भग० आ० १४४०)

यदि निद्रा तुम्हें सतावे तो तू स्वाध्याय कर, सूक्ष्म अर्थों का विचार कर, संवेग और निर्वेद उत्पन्न करनेवाली कथाओं को सुन।

३. पीदी भए य सोगे य तहा णिद्दा ण होइ मणुयाणं।
एदाण तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं।।
(भग० आ० १४४१)

प्रीति, भय और शोक इनमें से कोई भी होने पर निद्रा नहीं आती है। अतः निद्रा को जीतने के लिए तू प्रीति आदि का सेवन कर।

४. भयमागच्छसु संसारादो पीदिं च उत्तमठ्ठम्मि।
सोगं च पुरादुच्चरिदादो णिंद्दाविजयहेदुं।। (भग० आ० १४४२)

निद्रा-विजय के लिए तू संसार से भययुक्त हो, उत्तमार्थ—रत्नत्रय की आराधना मे प्रीतियुक्त हो और पूर्वकृत पापों के विषय में मन में शोक कर।

५. जागरणत्थं इच्चेवमादिकं कुण कमं सदा उत्तो।
झाणेण विणा बंज्झो कालो हु तुमे ण कायव्वो।। (भग०अ० १४४३)

जागरण के लिए इत्यादिक उपर्युक्त क्रम तू सदा सावधानीपूर्वक कर। ध्यान के बिना एक समय भी नष्ट करना योग्य नहीं।

६. संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहिं।
सोदुं ण खमो अहिमणपणीय सोदुं व सघरम्मि।।
(भग० आ० १४४४)

संसाररूपी जंगल में से निकलने की इच्छा रखनेवाले पुरुष का दोषों को बिना दूर किये ही सोना योग्य नहीं है। क्या सर्प को घर में से बाहर निकाले बिना ही सोना योग्य है ?

७. को णाम णिरुव्वेगो लोगे मरणादिअग्पिज्जलिदे।
पज्जलिदम्मि व णाणि घरम्मि सोदुं अभिलसिज्ज।।
(भग० आ० १४४५)

मरणादि-रूप अग्नि से प्रज्वलित इस लोक में कौन उद्वेग-रहित है ? कौन ज्ञानी पुरुष अग्नि से घर प्रज्वलित होने पर सोने की इच्छा करेगा ?

८. को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेषु।
गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारे व सत्तूणं ।।
(भग०आ० १४४६)

जिन्होंने हाथों में शस्त्र धारण कर रखे हैं उन अनेक शत्रुओं के बीच कौन निर्भय रह सकता है ? रागादि दोषों में शांत न होने की अवस्था में कौन निश्चित होकर सोयेगा ?

९. णिद्दा तमस्स सरिसी अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साणं।
इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्दा ज्झणस्स विग्घयरी।।
(भग० आ० १४४७)

मनुष्यों के लिए निद्रारूपी अंधकार के समान जगत् में अन्य कोई अंधकार नहीं है। ऐसा समझकर ध्यान में विघ्न डालनेवाली इस निद्रा को तुम जीतो।

३. समभाव

१. चरणं हवइं सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्य अणण्णपरिणामो।। (मो० पा० ५०)

चरित्र ही स्व-धर्म है। आत्मसम-भाव—सर्व जीवों के प्रति आत्म्वत भाव ही धर्म है। राग-द्वेष रहित जीव का अनन्य परिणाम समभाव है।

२. जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदिं हु अण्णविहो।।
(मो० पा० ५१)

जैसे स्फटिक मणि विशुद्ध होने पर भी पर द्रव्य से युक्त होने पर अन्य हो जाता है वैसे ही रागादि से युक्त जीव अन्य प्रकार का होता है।

३. सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं।
(भग० आ० १६८३)

साधक शरीर आदि सब वस्तुओं में ममत्वरहित हो सर्वत्र समभाव प्राप्त करता है।

४. सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्चं ममत्तिदो विजडो।
णिप्पणयदोसमोहो उबेदि सव्वत्थ समभावं।।
(भग० आ० १६८४)

सर्व द्रव्य और उनके पर्याय-भेदों में साधक सदा ममतारहित होता है। वह स्नेह, मोह और द्वेषरहित होकर सर्वत्र समताभाव धारण करता है।

५. संजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु।
रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तहा।।
(भग० आ० १६८५)

वह संयोग-वियोग में, इष्ट-अनिष्ट में, रति, अरति, उत्सुकता, हर्ष और दीन-भाव का त्याग करता है।

६. मित्तेसुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि।
रागं वा दोसं वा पुव्वं जायंपि सो जहइ।। (भग०आ० १६८६)

मित्र, स्वजन आदि शिष्य और साधार्मिक के प्रति जो भी राग-द्वेष हुआ हो उसका वह त्याग करता है।

७. भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पच्छणं खवओ।
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति।। (भग०आ० १६८७)

साधक देव और मनुष्य के भोगों की अभिलाषा नहीं करता है। यह विषयेच्छा मुक्तिमार्ग की विराधक कही कई है, अतः उसका त्याग करता है।

८. इठ्ठेंसु अणिठ्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु।
इहपरलोए जीविदमणे माणावमाणे च।। (भग० आ० १६८८)

इष्ट और अनिष्ट ऐसे शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श विषयों में, इहलोक और परलोक में, जीवित और मरण में, मान और अपमान में साधक सम भाव रहता है।

९. सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रोगरोसरहिदप्पा।
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमठ्ठं विराधेंति।। (भग०आ० १६८६)

राग-द्वेष उत्तमार्थ का विनाश करते हैं, अतः साधक की आत्मा सर्वत्र राग-द्वेष रहित होती है।

१०. एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा।
मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि।। (भग०आ० १६६५)

इस प्रकार सम्पूर्ण वस्तुओं में समता भाव को प्राप्त विशुद्ध अतःकरण वाला साधक मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना को प्राप्त करता है।

४. कष्ट और चिन्तन

१. कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं काएण अहियासए।। (द० ८ : २६)

मुमुक्षु कानों को प्रिय लगने वाले शब्दों में प्रेम न करे तथा दारुण और कर्कश स्पर्शों को काया से समभावपूर्वक सहन करे।

२. खुहं पिवासं दुस्सेज्जं सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्विहिओ देहे दुक्खं महाफलं।। (द० ८ : २७)

क्षुधा, प्यास व दुःशय्या, सर्दी, गर्मी, अरति, भय—इन सब कष्टों को मुमुक्षु अव्यथित चित्त से सहन करे। समभाव से सहन किए गये दैहिक कष्ट महाफल के हेतु होते हैं

३. ण वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोगंसि पाणिणो।
एवं सहिएऽहियासए, अणिहे से पुट्ठेऽहियासए।।
(सू० १, २ (१) : १३)

ज्ञानी इस प्रकार देखे—"मैं ही इन सब कष्टों से पीड़ित नहीं हूँ, परन्तु लोक में अन्य प्राणी भी इनसे पीड़ित होते हैं" ऐसा सोचकर कष्ट पड़ने पर वह उन्हें अम्लान मन से सहन करे।

४. अणुस्सुओ उरालेसु जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थऽहियासए।। (सू० १, ६ : ३०)

उदार भोगों के प्रति अनासक्त रहता हुआ मुमुक्षु, यत्नपूर्वक संयम में रमण करे। धर्मचर्या में अप्रमादी हो और कष्ट आ पड़ने पर अदीन भाव से—हर्षपूर्वक सहन करे।

५. अह णं वत्तमावण्णं फासा उच्चावया फुसे।
ण तेहिं विणिहण्णेज्जा वातेण व महागिरी।। (सू० १, ११ : ३७)

जिस तरह महागिरि वायु के झोंके से कंपित नहीं होता, उसी तरह व्रतप्रतिपन्न पुरुष सम-विषम, ऊँच-नीच, अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों के स्पर्श करने पर धर्म-च्युत नहीं होता।

६. जइ उपज्जइ दुःखं तो दट्ठव्वो सभावदो णिरये।
कदमं मए ण पत्तं संसारे संसरंतेण।। (मू० ७८)

यदि दुःख उत्पन्न हो तो नरक के स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। 'जन्म-जरा-मरण रूप संसार में भ्रमण करते हुए मैंने कौन से दुःख नहीं पाये'—ऐसा सोचना चाहिए।

७. रिणमोयणं व मण्णइ जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं।
पावफलं मे एदं मया वि जं संचिदं पुव्वं।। (द्वा० अ० ११०)

जो पुरुष उपसर्ग तथा तीव्र परीषह को ऋण की तरह मानता है वह जानता है—"उपसर्ग मेरे द्वारा पूर्वजन्म में संचित किए गये पाप कर्मों का फल है।"

८. रोगादंके सुविहिद विउलं वा वेदणं धिदिबलेण ।
तमदीणमसंमूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स।।(भग०आ० १५१५)

तू दीनभाव को छोड़कर मोह का त्याग करते हुए व्याधियों को तथा विपुल वेदना को धैर्य के बल से जीत। चरित्र के शत्रु—राग-द्वेष आदि को भी जीत।

९. मेरुव्वं णिप्पकंपा अक्खोभा सागरुव्व गंभीरा।
धिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावईए वि।। (भग०आ० १५३६)

बड़ी आपत्ति आने पर भी धैर्ययुक्त सत्पुरुष मेरु के समान निश्चल—अकंप रहते हैं और समुद्र के समान क्षोभरहित होते हैं।

१०. संखेज्जमसंखेज्जं कालं ताइं अविस्समंतेण।
दुक्खाइं सोढाइं किं पुण अदिअप्पकालमिमं।। (भग०आ० १६०३)

नरकादि गतियों में तुझे संख्यात-असंख्यात काल तक निरन्तर दुःख भोगना पड़ा। वह भी तूने भोगा। आज का दुःख तो अत्यन्त अल्प है और वह अतिशय अल्पकाल-पर्यन्त ही रहनेवाला है।

११. जदि तारिसाओ तह्मे सोढाओ वेदणाओ अवसेण।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कहं सोढुं ण तीरेज्ज।।
(भग० आ० १६०४)

ऐसी घोर वेदनाएँ भी तुमने परवशता में सही हैं तब अपने-आप अंगीकार किए हुए इन कष्टों को सहना धर्म है ऐसा मानकर स्वेच्छा से उन्हें सहन करना क्या शक्य नहीं ?

१२. पुरिसस्स पावकम्मोदएण ण करंति वेदणोवसमं।
सुठ्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरिवाणी वि।। (भग०आ० १६१०)

पाप कर्म के उदय से अतिशय सामर्थ्ययुक्त उत्तम औषधियाँ भी मनुष्य की वेदना का उपशम करने में असमर्थ होती हैं।

१३. रायदिकुडुंवीणं अदयाए असंजमं करंताणं।
धण्णंतरी कि कादुं ण समत्थो वेदणोवसमं।। (भग०आ० १६११)

राजादि के कुटुम्बी तथा धन्वतरि वैद्य भी, असंयम और दया की उपेक्षा करते हुए भी, कर्मोदय से उत्पन्न राजा की वेदना का उपशमन करने में समर्थ नहीं होते।

१४. कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे ।
सव्वबलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणिवणं।।
(भग० आ० १६२१)

जगत् में कर्म अतिशय बलवान होते हैं। उनसे बलवान जगत् में अन्य कुछ नहीं है। जैसे हाथी नलिनी के वन का नाश कर देता है वैसे ही कर्म सब बलों का नाश कर देते हैं।

१५. इच्चेवं कम्मुदओ अवारणिज्जोत्ति सुठ्ठु पाऊण।
मा दुक्खायसु मणसा कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि।। (भग०आ० १६२२)

इस प्रकार कर्म का उदय दुर्निवार है, ऐसा समझकर स्वकीय कर्म का उदय होने पर तू मन में दुःखित मत हो।

१६. हदमाकासं मुठ्ठीहिं होइ तह कंडिया तुसा होंति।
सिगदाओ पीलिदाओ धंसिलिदभुदयं च होइ जहा।।
(भग० आ० १६२५)

जैसे आकाश को मुट्ठियों से मारना, तंदुलों के लिए भूसा कूटना, तैल के लिए बालू को यंत्र से पीसना, घी के लिए जल का मंथन करना व्यर्थ है वैसे ही दुःख निवारण के लिए शोक, विषाद आदि करना व्यर्थ है।

१७. किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्से णिव्वुदिं पुरिसो।
हत्थीहिं अतीरं तं मंतुं भुंजिहिदि किह सरसओ।।
(भग० आ० १६१६)

जब देव भी पुरुष के दुःख को नष्ट करने में असमर्थ हैं तो अन्य पुरुष कर्म उदय को प्राप्त मनुष्य की वेदनाओं को शांत करने में समर्थ कैसे हो सकते हैं ? जिस वृक्ष को गिराने में महाबली हाथी असमर्थ है उसे शशक कैसे गिरा सकेगा ?

१८. पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं।
को धारणीओ धणिदस्य देंतओ दुक्खिओ होज्ज।। (भग० आ० १६२६)
तह चेव सयं पुव्वं कदस्स कम्मस्य पाककालम्मि।
णायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंता।।
(भग० आ० १६२७)

जैसे कोई पुरुष धनिक से ऋण लेकर धन का उपयोग करता है और जब वह धनिक यथासमय उससे धन लेता है तब क्या वह पुरुष खिन्न होता है ? उसी प्रकार पूर्वजन्म में किये हुए स्व-कर्मों के न्याय प्राप्त फलदान के समय कौन ज्ञानी पुरुष दुःखी होगा।

१९. इय पुव्वकद इण मज्ज महं कम्माणुगत्ति णाऊण।
रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होज्ज।।
(भग० आ० १६२८)

जो दुःख मैं इस समय भोग रहा हूँ वह पूर्वकृत कर्म के अनुसार ही है। दुःख भोग रहा हूँ यह तो मैं ऋण-मोक्ष कर रहा हूँ, ऐसा मन में चिंतन करता हुआ तू दुःखी मत हो।

: ३१ :

भावनायोग

भावना और शुद्धि

१. तहिं तहिं सुयक्खायं से य सच्चे सुआहिए।
सदा सच्चेण संपण्णे मेत्तिं भूतेसु कप्पए।। (सू० १, १५ : ३)

वीतराग पुरुष ने भिन्न-भिन्न स्थानों में भावों का भलीभाँति कथन किया है, वही सत्य है और सुभाषित है। सदा सत्य से सम्पन्न मनुष्य सब जीवों के प्रति मैत्री-भाव का आचरण करे।

२. भूतेसु ण विरुज्सेज्ज एस धम्मे वुसीमओ।
वुसीमं जगं परिण्णाय अस्सि जीवियभावणा।। (सू० १, १५ : ४)

मनुष्य किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध-द्वेष न करे। यही संयमी पुरुष का धर्म है। संयमी पुरुष जगत् को अच्छी तरह समझकर धर्म में कथित भावनाओं (एकान्त निश्चित सत्यों) की आराधना करे।

३. भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
णावा व तीरसंपण्णा सव्वदुक्खा तिउट्टति।। (सू० १, १५ : ५)

भावना योग से शुद्ध आत्मा जल में नाव की तरह कही गयी है। तीर को प्राप्त नाव की तरह उक्त आत्मा सर्व दुःखों से मुक्त हो जाती है।

४. से हु चक्खू मणुस्साणं जे कंखाए य अंतए।
अंतेण खुरो वहती चक्कं अंतेण लोट्टति।।
अंताणि धीरा सेवंति तेण अंतकरा इहं।
इस माणुस्सए ठाणे धम्मारमाहिउं णरा।।
(सू० १, १५ : १४, १५)

जो कांक्षा (विषय-वासना) के अन्त में है (उसको पार कर चुका) वही पुरुष मनुष्य के लिए चक्षुरूप है। क्षुर (अस्तुरा) अन्त पर चलता है, चक्का—पहिया—भी अन्त पर ही चलता है। धीर पुरुष भी अन्त का सेवन करते हैं (एकान्त निश्चित सत्यों पर जीवन को स्थिर रखते हैं) और इसीसे वे संसार का अन्त करते हैं। इस मनुष्य-लोक में धर्म की आराधना कर मनुष्य निष्ठितार्थ होता है।

१. अनित्य भावना

१. अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।।
(उ० १३ : ३१)

काल बीता जा रहा है। रात्रियाँ भी भागी जा रही हैं। ये मनुष्यों के कामभोग नित्य नहीं हैं। जैसे पक्षी क्षीण फल वाले द्रुम को छोड़कर चले जाते हैं, उसी तरह कामभोग भी पुरुष को छोड़ देते हैं।

२. गब्भाइ मिज्जंति बुआबुयाणा णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य चयंति ते आउखए पलीणा।।
(सू० १, ७ : १०)

कई जीव गर्भावस्था में ही मर जाते हैं, कई स्पष्ट बोलने की अवस्था में तथा कई बोलने की अवस्था आने के पहले ही चल बसते हैं। कई कुमार अवस्था में, कई युवा होकर, कई आधी उमर के होकर और कई वृद्ध होकर मर जाते हैं। मृत्यु हर अवस्था में आ घेरती है।

३. डहरा बुड्ढा य पासहा गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयंमि तुट्टई।।
(सू० १, २ (१) : २)

देखो ! युवक और बूढ़े यहाँ तक कि गर्भस्थ बालक तक चल बसते हैं। जैसे बाज पक्षी को हर लेता है वैसे ही आयु शेष होने पर काल जीवन को हर लेता है।

४. ठाणी विविहठाणाणि चइस्संति ण संसओ।
अणितिए अयं वासे णातिहि य सुहीहि य।। (सू० १, ८ : १२)
एवमायाव मेहावी अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसंपज्जे सव्वधम्ममकोवियं।। (सू० १, ८ : १३)

विविध स्थानों में स्थित प्राणी एक-न-एक दिन अपने स्थान को छोड़कर जाने वाले हैं—इसमें जरा भी संशय नहीं है। ज्ञाति और मित्रों के साथ यह संवास भी अनित्य है। उपर्युक्त सत्य को जानकर विवेकी पुरुष अपनी आसक्ति को हटा दे और सर्व शुभ धर्मों से युक्त मोक्ष ले जानेवाले आर्य धर्म को ग्रहण करे।

५. असासयं दुट्ठु इमं विहारं बहुअन्तरायं न य दीहमाउं।
(उ० १४ : ७)

हमने देखा है कि यह मनुष्य-जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है।

६. उवणिज्जई जीवियमप्पमायं वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं।
पंचालराया ! वयणं सुणाहि मा कासि कम्माइं महालयाइं।।
(उ० १३ : २६)

राजन् ! कर्म बिना भूल किए (निरन्तर) जीवन को मृत्यु के समीप ले जा रहे हैं। बुढ़ापा मनुष्य के वर्ण (सुस्निग्ध कांति) का हरण कर रहा है। पंचाल-राज ! मेरा वचन सुन ! प्रचुर कर्म मत कर।

७. जया सव्वं परिच्चज्ज गन्तव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं रज्जम्मि पसज्जसि।। (उ० १८ : १२)

हे राजन् ! सब चीजों को छोड़कर तुम्हें एक दिन परवशता से अवश्य जाना है, फिर इस अनित्य लोक में इस राज्य पर तुम्हें आसक्ति क्यों है ?

८. जीवियं चेव रूवं च बिज्जुसंपायचंचलं।
जत्थ तं मुज्झसि रायं पेच्चत्थं नावबुज्झसे।। (उ० १८ : १३)

जिसमें तुम मूर्च्छित हो रहे हो—वह जीवन और रूप विद्युत-सम्पात की तरह चंचल है। हे राजन् ! परलोक में क्या अर्थकारी (हितकर) है यह क्यों नहीं समझते ?

९. सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे।। (कुन्द० अ० ४)

समस्त इद्रियाँ, रूप, आरोग्य, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य, लावण्य ये सब शाश्वत नहीं हैं, किन्तु इन्द्रधनुष के समान चंचल हैं।

१०. जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि।। (कुन्द० अ० ६)

जब जीव से सम्बद्ध शरीर ही दूध में मिले जल की तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तब भोगोपभोग के कारण शरीर से भिन्न जो द्रव्य हैं वे कैसे नित्य हो सकते हैं ?

११. जं किंचि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
परिणामसरूवेण वि ण य किंचि वि सासयं अत्थि।। (द्वा० अ० ४)

जो कुछ भी उत्पन्न है, उसका नियम से नाश होता है। परिणामस्वरूप से तो कुछ भी नित्य नहीं है।

१२. जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणाससहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह।। (द्वा० अ० ५)

जन्म मरण सहित, यौवन जरा सहित, लक्ष्मी विनाश सहित उत्पन्न होती है। इस प्रकार सब वस्तुओं को क्षणभंगुर जानो।

१३. अथिरं परियणसयणं पुत्तकलत्तं सुमित्तलावण्णं।
गिहगोहणाइ सव्वं णवधणविंदेण सारित्थं।। (द्वा० अ० ६)

परिजन, स्वजन, पुत्र, स्त्री, अच्छे मित्र, लावण्य, गृह, गोधन इत्यादि समस्त वस्तुएँ नवीन मेघ के समूह के समान अस्थिर हैं।

१४. पंथे पहियजणाणं जह संजोओ हणेइ खणमित्तं।
बंधुजणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ।। (द्वा० अ० ८)

जैसे मार्ग में पथिक जनों का संयोग क्षण-मात्र होता है वैसे ही बंधु जनों का संयोग अस्थिर होता है।

१५. अइलालिओ वि देहो ण्हाणसुयंधेहिं विविहभक्खेहिं।
खणमित्तेण वि विहडइ जलभरिओ आमघडओ व्वं।। (द्वा० अ० ६)

स्नान तथा सुगंधित पदार्थों से सजाया हुआ, अनेक प्रकार के भोजनादि भक्ष्य पदार्थों से अत्यंत लालन-पालन किया हुआ यह देह भी जल से भरे हुए कच्चे घड़े की तरह क्षण-मात्र में ही नष्ट हो जाता है।

१६. जलबुब्बयसारिच्छं धणजोव्वणजीवियं पि पेच्छंता।
मण्णंति तो वि णिच्चं अइबलिओ मोहमाहप्पो।। (द्वा० अ० २१)

धन, यौवन, जीवन को जल के बुदबुदे के समान देखते हुए भी मनुष्य उन्हें नित्य मानता है, यह बड़ा आश्चर्य है। मोह का माहात्म्य अति बलवान है।

१७. चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ।। (द्वा० अ० २२)

समस्त विषयों को विनाशशील सुनकर, महामोह को छोड़कर अपने मन को विषयों से रहित करो, जिससे उत्तम सुख को प्राप्त कर सको।

२. अशरण भावना

१. जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया कालम्मि तम्मिंसहरा भवंति।।
(उ० १३ : २२)

निश्चय ही अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को वैसे ही पकड़कर ले जाती है, जैसे सिंह मृग को। अन्तकाल के समय माता, पिता या भाई कोई भी उसके भागीदार नहीं होते।

२. वित्तं पसवो य णाइयो तं बाले सरणं ति मण्णई।
एए मम तेसि वा अहं णो ताणं सरणं ण विज्जई।।
(सू० १, २ (३) : १६)

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और ज्ञानियों को अपना शरण—आश्रय-स्थल मानता है। सोचता है—'ये मेरे हैं और मैं उनका हूं'। परन्तु उनमें से कोई भी न त्राण है और न शरण।

३. अब्भागमियम्मि वा दुहे अहवोतक्कमिए भवंतिए।
एगस्स गई य आगई विदुमंता सरणं ण मण्णई।।
(सू० १, २ (३) : १७)

दुःख आ पड़ने पर मनुष्य अकेला ही उसे भोगता है। आयुष्य क्षीण होने पर अथवा भवान्त—मृत्यु के उपस्थित होने पर जीव अकेला ही गति-आगति करता है। विवेकी पुरुष धन, पशु आदि को शरण-रूप नहीं मानता।

४. माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय लुप्पंतस्स सकम्मुणा।। (उ० ६ : ३)

विवेकी पुरुष सोचे—"माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, भार्या तथा सुपुत्र—इनमें से कोई भी अपने कर्मों से दुःख पाते हुए मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।"

५. सव्वं जगं जइ तुहं सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं नेव ताणाय तं तव।। (उ० १४ : ३६)

यदि सारा जगत् और यह सारा धन भी तुम्हारा हो जाय, तो भी ये सब तुम्हारे लिए अपर्याप्त ही होंगे और न ये सब तुम्हारा रक्षण करने में ही समर्थ होंगे।

६. चिच्चा वित्तं च पुत्ते य णाइयो य परिग्गहं।
चिच्चाण अंतगं सोयं णिरवेक्खो परिव्वए।। (सू० १, ६ : ७)

विवेकशील मनुष्य धन, पुत्र, ज्ञाति और परिग्रह तथा अंतरशोक को छोड़कर निरपेक्ष हो संयम का अनुष्ठान करे।

७. सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे को वि।
तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि ण रक्खदे को वि।। (द्वा० अ० २४)

जैसे सिंह के पैर नीचे पड़े हुए हिरण की कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं होता वैसे ही मृत्यु के द्वारा ग्रहण किये हुए जीव की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता।

८. आउक्खएण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि।
तम्हा देविंदो वि .य मरणाउ ण रक्खदे को वि।। (द्वा० अ० २८)

आयु के क्षय से मरण होता है और आयु किसी को कोई देने में समर्थ नहीं है, अतः देवेन्द्र भी मरने से किसी की रक्षा नहीं कर सकता है।

९. दंसणणाणचरित्तं सरणं सेवेण परमसद्धाए।
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं।। (द्वा० अ० ३०)

हे जीव ! तू परम श्रद्धा से ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म का शरण ग्रहण कर। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों के लिए अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

१०. मरणभयह्मि उवगदे देवावि सइंदया ण तारेंति।
धम्मो त्ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं।। (मू० ६६७)

मरण-भय उपस्थित होने पर इंद्रसहित सारे देव भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते। एक धर्म ही त्राण, शरण और श्रेष्ठ गति है। इस शरण का चिंतन कर।

११. जह आइच्चमुदेंतं कोई वारेंतउ जगे णत्थि।
तह कम्ममुदीरंतं कोई वारेंतउ जगे णत्थि।। (भग० आ० १७४०)

जैसे लोक में कोई भी ऐसा नहीं जो उगते हुए सूर्य को रोक सकता हो, वैसे ही लोक में ऐसा कोई नहीं जो उदय में आये हुए कर्म को रोक सकता हो।

१२. दंसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च।
जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि।।
(भग० आ० १७४६)

जी के कर्मनाश के हेतु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ही हैं, इसलिए कर्म के उदय होने पर ये ही जीव के त्राण और शरण हो सकते हैं।

१३. जाइ-जर-मरण-रोग-भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आद। सरणं वंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो।। (कुन्द० अ० ११)

आत्मा ही जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से आत्मा की रक्षा करता है, इसलिए कर्मों के बन्ध, उदय और सत्ता से रहित शुद्ध आत्मा ही शरण है।

१४. अरुहा सिद्धाइरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। (कुन्द० अ० १२)

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाचों परमेष्ठी भी आत्मा में ही निवास करते हैं। इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है।

१५. सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। (कुन्द० अ० १३)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों भी आत्मा में ही हैं। इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है।

३. संसार भावना

१. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जंतवो।। (उ० १६ : १५)

यहाँ जन्म का दुःख है, जरा का दुःख है, रोगों का दुःख है, मरण का दुःख है। अहो ! यह संसार दुःखरूप ही है, जहाँ बेचारे प्राणी नाना प्रकार के क्लेश पाते हैं।

२. सारीरमाणसा चेव वेयणाओ अणंतसो।
मए सोढाओ भीमाओ असइं दुक्खभयाणि य।। (उ० १६ : ४५)

इस आत्मा ने अनन्त भयानक शरीरिक और मानसिक वेदनाएँ भोगी हैं और अत्यन्त दुःख और भय से वह बार-बार पीड़ित हुई है।

३. जरामरणकंतारे चाउरंते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाणि जम्माणि मरणाणि य।। (उ० १६ : ४६)

इस जन्म-मरणरूपी कांतार और चार गतिरूप अन्तवाले भय के धाम में मैंने अनन्त बार भयंकर दुःखपूर्ण जन्म और मरण सहे हैं।

४. निच्चं भीएणे तत्थेण दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा वेयणा वेइया मए।। (उ० १६ : ७१)

अत्यन्त भय, त्रास, दुःख और व्यथा का अनुभव करते हुए मैंने नित्य घोर दुःखदायी वेदनाएँ अनुभव की हैं।

५. जारिसा माणुसे लोए ताया ! दीसंति वेयणा।
एत्तो अणंतगुणिया नरएसु दुक्खवेयणा।। (उ० १६ : ७३)

मनुष्य लोक में जैसी वेदना दिखाई देती है, उससे अनन्तगुणी दुःखदायी वेदना नरक में है।

६. सव्वभवेसु अस्साया वेयणा वेइया मए।
निमेसंतरमित्तं पि जं साया नत्थि वेयणा।। (उ० १६ : ७४)

सब भवों—जन्मों में—मैंने दुःख ही दुःख भोगा है। वहाँ निमेष-काल के अन्तर जितनी भी सुखमय अनुभूति नहीं है।

७. संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च।। (कुन्द० अ० ३६)

संसार में प्राणियों को संयोग-वियोग, लाभ-हानि, दुःख-सुख और मान-अपमान प्राप्त होते रहते हैं।

८. एवं सट्टु-असारे संसारे दुक्खसायरे घोरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्चयदो।। (द्वा० अ० ६२)

इस प्रकार सब प्रकार से असार दुःख के सागर भयानक संसार में निश्चय से विचार किया जाय तो क्या कहीं भी कुछ सुख है ?

९. एवं मणुयगदीए णाणादुक्खाइं विसहमाणो वि।
ण वि धम्मे कुणदि मइं आरंभं णेय परिचयइ।। (द्वा० अ० ५५)

इस तरह मनुष्यगति में अनेक प्रकार के दुःखों को सहता हुआ भी मनुष्य धर्माचरण में बुद्धि नहीं करता है और पापारंभ को नहीं छोड़ता है।

१०. एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं।।
एवं जं संसरणं णाणादेहेसु होदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि मिच्छकसाएहिं जुत्तस्स।।
(द्वा० अ० ३२-३३)

मिथ्यात्व और कषाययुक्त इस जीव का जो अनेक शरीरों में संसरण—भ्रमण होता है वह संसार कहलाता है। यह जीव एक शरीर को छोड़ता है, फिर नवीन (शरीर) को ग्रहण करता है, फिर अन्य-अन्य शरीरों को कई बार ग्रहण करता है और छोड़ता है। यह ही संसार कहलाता है।

११. सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवारं।। (द्वा० अ० ६८)

समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जहाँ ये सब ही संसारी जीव कई बार उत्पन्न न हुए हों तथा न मरे हों।

१२. दुक्कियकम्मवसादो राया वि य असुइकीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रई पेक्खह मोहस्स माहप्पं।। (द्वा० अ० ६३)

हे प्राणियों ! तुम मोह के माहात्म्य को देखो कि पाप कर्म के वश से राजा भी विष्टा का कीड़ा हो जाता है और वहीं पर रति मानता है, क्रीड़ा करता है।

१३. मम पुत्तं मम भज्जा मम धण-धण्णोत्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे।।
(कुन्द० अ० ३१)

मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा धन-धान्य—इस प्रकार की तीव्र लालसा से धर्म-बुद्धि को त्यागकर बाद में वह जीव दीर्घ संसार में भटकता है।

१४. मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जोण्णभासियं धम्मं।
कुधम्म-कुलिंग-कुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे।। (कुन्द० अ० ३२)

मिथ्यात्व के उदय से यह जीव जिनेन्द्र के द्वारा कहे हुए धर्म की निन्दा करता है, और कुधर्म, कुलिंग और कुतीर्थ को मानता हुआ संसार में भ्रमण करता है।

१५. जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे।।
(कुन्द० अ० ३४)

मोहरूपी अंधकार में पड़ा हुआ जीव विषयों के लिए रात-दिन प्रयत्नपूर्वक पाप करता है और उससे संसार में भ्रमण करता है।

१६. विसयवसादो सुक्खं जे स तेसि कुदो तित्ती। (द्वा० अ० ५६)

जिनके सुख विषयों के आधीन हैं उनकी कैसे तृप्ति हो सकती है ?

१७. इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊणं।
तं झायह ससरूवं संसरणं जेण णासेइ।। (द्वा० अ० ७३)

इस तरह संसार को जानकर सब तरह के प्रयत्नपूर्वक मोह को छोड़कर उस आत्म-स्वरूप का ध्यान करो जिससे संसार-परिभ्रमण का अन्त हो।

१८. मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता एवं ताय ! वियाणह।। (उ० १४ : २३)

जानो—यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है, जाते हुए रात-दिन अमोघ हैं।

१९. जहा गेहे पलित्तम्मि तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ असारं अवउज्झइ।।

एवं लोए पलित्तम्मि जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि तुब्भेहिं अणुमन्निओ।। (उ० १६ : २२-२३)

(संकल्प करो)—जैसे घर में आग लगने पर गृहपति सार वस्तुओं को निकालता है और असार को छोड़ देता है, उसी तरह जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए इस संसार में से अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा।

२०. अत्थि एगो महादीवो वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स गई तत्थ न विज्जई।। (उ० २३ : ६६)

उदधि के बीच एक विस्तृत महाद्वीप है, जहाँ पर महान् उदक—समुद्र के प्रवाह की पहुँच नहीं होती।

२१. जरामरणवेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं।। (उ० २३ : ६८)

जरा और मरणरूपी जल के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

४. एकत्व भावना

१. एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं।। (मू० ६६६)

यह जीव अकेला ही शुभ-अशुभ कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसार में भटकता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इस तरह एकत्व भावना का तुम चिंतन करो।

२. संसारमावन्न परस्स अट्ठा साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले न बंधवा बंधवयं उवेंति।।
(उ० ४ : ४)

संसारी प्राणी अपने बन्धुजनों के लिए जो साधारण कर्म करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता नहीं दिखाते।

३. पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि।। (भग० आ० १७४७)

यह जीव बांधवों के लिए और शरीर के लिए पाप करता है किन्तु उस पाप का फल नरकादि गतियों में वह अकेला ही भोगता है।

४. सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुजंतओ दुहिदो।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणं कोई समं एदि।। (मू० ६६८)

स्वजन और परिजनों के मध्य में अकेला ही रोगी और दुखी हुआ जीव मृत्यु के वश में पड़ा परलोक को गमन करता है। उसके साथ कोई नहीं जाता।

५. आघातकिच्चमाहेउं णाइओ विसएसिणो।
अण्णे हरंति तं वित्तं कम्मी कम्मेहि किच्चती।। (सू० १, ६ : ४)

दाह-संस्कारादि अन्तिम क्रियाएँ करने के बाद विषयैषी ज्ञाति और अन्य लोग उसके धन को हर लेते हैं और पाप-कर्म करनेवाला अकेला ही अपने किए हुए कृत्यों द्वारा संसार में पीड़ित होता है।

६. न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्का सयं पच्चणुहोइ दुक्खं कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं।।
(उ० १३ : २३)

ज्ञाति-सम्बन्धी, मित्र-वर्ग, पुत्र और बांधव मनुष्य के दुःख में भाग नहीं बँटाते। उसे स्वयं अकेले को ही दुःख भोगना पड़ता है। कर्म करनेवाले का ही पीछा करता है, उसे ही कर्म-फल भोगना पड़ता है।

७. चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ परं भवं सुंदर पावगं वा।।
(उ० १३ : २४)

द्विपद और चतुष्पद, क्षेत्र और गृह, धन और धान्य—इन सबको छोड़कर पराधीन जीव केवल अपने कर्मों को साथ लेकर ही अकेला अच्छे या बुरे पर-भव में जाता है।

८. एगभूओ अरण्णे वा जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि संजमेण तवेण य।। (उ० १६ : ७७)

मनुष्य सोचे—जैसे मृग अरण्य में अकेला चर्या करता है, उसी तरह मैं चारित्ररूपी वन में तप और संयम से एकीभूत होकर धर्म का पालन करता हुआ विहार करूँगा।

९. जीवस्स णिच्छयादो धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो।
सो णेइ देवलोए सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ।।
(द्वा० आ० ७८)

इस जीव का स्वजन निश्चय से एक उत्तम क्षमादि से युक्त दशलक्षण धर्म ही है। धर्म ही मनुष्य को देवलोक में ले जाता है और वही सर्व दुःखों का क्षय करता है।

१०. सव्वायरेण जाणह इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं।
जम्हि दु मुणिदे जीवो होदि असेसं खणे हेयं।। (द्वा० आ० ७६)

शरीर से भिन्न अकेले जीव को सब प्रकार के प्रयत्न से जानो। जीव को जान लेने पर अवशेष सब प्रकार के द्रव्य क्षण-मात्र में त्यागने योग्य होते हैं।

११. एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो।। (कुन्द० अ० २०)

संयमी पुरुष ऐसा विचारता है कि मैं एकाकी हूँ, ममत्व से रहित हूँ, शुद्ध हूँ, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मेरे लक्षण हैं। ऐसा शुद्ध एकत्व ही उपादेय है।

५. अन्यत्व भावना

१. तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से चिईगयं डहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य दायारमन्नं अणुसंकमंति।।
(उ० १३ : २५)

मनुष्य के चितागत अकेले तुच्छ शरीर को अग्नि से जलाकर उसकी भार्या, पुत्र और जाति-बान्धव किसी अन्य दाता के पीछे चले जाते हैं।

२. दाराणि य सुया चेव मित्ता य तह बंधवा।
जीवंतमणुजीवंति मयं नाणुव्वयंति य।।[1] (उ० १८ : १४)

स्त्रियां और पुत्र, मित्र और बांधव जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं। मृतक के पीछे नहीं जाते।

३. नीहरंति मयं पुत्ता पियरं परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्त बन्धू रायं! तवं चरे।। (उ० १८ : १५)

जैसे अत्यन्त दुखी हुए पुत्र मृत पिता को श्मशान ले जाते हैं, वैसे ही पिता भी मरे पुत्रों को श्मशान ले जाता है। बान्धवों के विषय में भी यही बात है। हे राजन्! यह देखकर तू तप कर।

४. मादा-पिदर-सहोदर-पुत्त कलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति।। (कुन्द० अ० २१)

---

१. मू० ७०० :
मादुपिदु सयण संबंधिणो य सव्वेवि अत्तणो अण्णे।
इह लोग बंधवा ते ण य परलोगं समा णेंति।।

माता, पिता, सहोदर भ्राता, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुओं का समूह जीव के साथ सम्बद्ध नहीं है। ये सब अपने-अपने कार्यवश होते हैं।

५. अण्णं इमं सरीरादिगंपिजं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं।।[1] (कुन्द० अ० २३)

ये शरीर आदि जो बाह्य द्रव्य हैं, वे सब मुझसे अन्य हैं। आत्मज्ञान और दर्शनरूप है, सुज्ञ इस प्रकार अन्यत्व का चिन्तन करता है।

६. अण्णं देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो।।(द्वा० अ० ८०)

जीव देह को ग्रहण करता है, वह अपने से अन्य है। माता भी अन्य है, स्त्री भी अन्य होती है, पुत्र भी अन्य उत्पन्न होता है। ये सब कर्म-सुयोग से होते हैं।

७. एवं बाहिरदव्वं जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो।। (द्वा० अ० ८१)

इस तरह जीव सब बाह्य वस्तुओं को अपने स्वरूप से भिन्न जानता है। ऐसा जानता हुआ भी यह मूढ़ जीव उन परद्रव्यों से ही राग करता है। यह बड़ी मूर्खता है।

८. जो जाणिऊण देहं जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं।। (द्वा० अ० ८२)

जो जीव तत्त्वतः देह को अपने स्वरूप से भिन्न जानकर आत्मस्वरूप का सेवन करता है, उसके अन्यत्व भावना कार्यकारिणी होती है।

६. अशुचि भावना

१. इमं सरीरं अणिच्चं असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं दुक्खकेसाण भायणं।। (उ० १६ : १२)

यह शरीर अनित्य है, अशुचिपूर्ण है और अशुचि से उत्पन्न है। यह शरीर आत्म-रूपी पक्षी का अस्थिर आवास है और दुःख तथा क्लेशों का घर है।

२. अट्ठिं च चम्मं च तहेव मंसं पित्तं च सेंभं तह सोणिदं च।
अमेज्झसंघायमिणं सरीरं पस्संति णिव्वेदगुणाणुपेही।।
(मू० ८४८)

---

१. मू० ७०२।

संसार और भोगों से वैराग्य को प्राप्त हुए पुरुष इस शरीर को हड्डी, चमड़ा, माँस, पित्त, कफ, रक्त इत्यादि अपवित्र वस्तुओं का समूह-रूप देखते हैं।

३. अट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमिसंकुलेहि भरिदमचोक्खं देहं सयाकालं।।[1] (कुन्द० अ० ४३)

यह शरीर हड्डियों से बँधा हुआ है, माँस से लिपटा हुआ है, चर्म से ढँका है और कीट-समूहों से भरा है, अतः सदा अशुचि है।

४. दुग्गंधं बीभत्थं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं।। (कुन्द० अ० ४४)

यह शरीर दुर्गन्ध से युक्त है, वीभत्स है, कलुषित मल से भरा हुआ है, अचेतन है, मूर्तिक है तथा अवश्य ही सड़न-गलन नष्ट होनेवाले स्वभाव से युक्त है, सदा ऐसा विचारना चाहिए।

५. सुट्ठु पवित्तं दव्वं सरससुगंधं मणोहरं जं पि।
देहणिहित्तं जायदि घिणावणं सुट्ठुदुग्गंधं।। (द्वा० अ० ८४)

इस शरीर में डाले गये अत्यन्त पवित्र, सरस, सुगंधित और मन को हरनेवाले द्रव्य भी घिनौने तथा अत्यन्त दुर्गंधित हो जाते हैं।

६. मणुआणं असुइमयं विहिणा देहं विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमणकज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता।। (द्वा० अ० ८५)

हे भव्य! यह मनुष्यों का देह कर्म के द्वारा अशुचिमय रचा गया है, ऐसा जान। मानो यह देह ऐसा इन मनुष्यों में वैराग्य उत्पन्न होने के लिए ही रचा गया हो। परन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य इस अशुचि शरीर में भी अनुरक्त है।

७. एवंविहं पि देहं पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं।
सेवंति आयरेण य अलद्धपुव्वं ति मण्णंता।। (द्वा० अ० ८६)

इस प्रकार शरीर को प्रत्यक्ष अशुचि देखता हुआ भी आश्चर्य है कि यह मनुष्य उसमें अनुराग करता है और उसे अपूर्वलब्ध मानता हुआ आदरपूर्वक इसकी सेवा करता है।

८. जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूवसुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स।। (द्वा० अ० ८७)

---

१. तुलना करें मू० ८४६ :
अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्धं कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं।
मंसविलित्तं तयपडिछण्णं सरीरघरं तं सददमचोक्खं।।

जो भव्य परदेह से विरक्त होकर अपने शरीर में अनुराग नहीं करता है तथा अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त रहता है, उसकी अशुचि भावना सफल है।

६. देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा।। (कुन्द० अ० ४६)

देह से भिन्न, कर्मों से रहित और अनन्त सुख का भण्डार आत्मा ही श्रेष्ठ है, इस प्रकार सदा चिन्तन करना चाहिए।

१०. मंसट्ठिसिभवसरुहिरचम्मपित्तंतमुत्तकुणिपकुडिं।
बहुदुक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि।। (मू० ७२४)

मांस, हाड़, कफ़, मेद, रक्त, चाम, पित्त, आंत, मूत्र, मल इनका घर तथा बहुत दुःख और रोगों के पात्र शरीर को तुम अशुभ जानो।

११. अत्थं कामसरीरादिगंपि सव्वमसुभत्ति णाऊण।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं।। (मू० ७२५)

अर्थ, काम, शरीरादि ये सभी अशुभ हैं। ऐसा जानकर निर्वेद को प्राप्त हुआ तू वैराग्य का इस तरह ध्यान कर कि इस अशुचि शरीर को सदा के लिए छोड़ सके।

१२. एदारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिवपूदियमचोक्खे।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा।। (मू० ८५०)

दुर्गंधयुक्त, अशुचिद्रव्य से भरे, स्वच्छतारहित, सड़न-गलन युक्त साररहित शरीर से सुपुरुष प्रेम नहीं करते।

१३. पित्तंत-मुत्त-फेफस-कालिज्जय-रुहिर-खरिस-किमिजाले।
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहिं पत्तेहिं।।
(भा० पा० ३६)

हे पुरुष! तू पित्त, आंत, मूत्र, फेफड़ा, जिगर, रुधिर, खँखार और कीड़ों से भरे हुए उदर में बहुत बार नौ-दस मास तक रहा है।

१४. दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णंते।
छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए।। (भा० पा० ४०)

दाँतों के संसर्ग में स्थित भोजन को ग्रहण करके तूने माता के द्वारा खाये गए अन्न को खाया है और उदर में वमन और खंखार के बीच में निवास किया है।

१५. सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं।
असुई असिया बहुसो मुणिवर! वालत्तपत्तेण।। (भा० पा० ४१)

हे पुरुष ! बाल्यकाल में अज्ञानी होने से तू विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थों के बीच से लौटा है और बालपन होने से तूने अनेक बार अपवित्र वस्तुओं को खाया है।

१६. मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं।
खरिसवसपूयखिब्भिसभरियं चिंतेहि देहउडं।। (भा० पा० ४२)

हे पुरुष ! मांस, हड्डी, वीर्य, रुधिर, पित्त और आँत से बहनेवाली शव के समान दुर्गन्धित तथा खंखार, चर्बी और अपवित्र गन्दगी से भरे हुए इस शरीर-रूपी घड़े के स्वरूप पर विचार कर।

७. आस्रव भावना

१. ते चक्खु लोगस्सिह णायगा उ मग्गाणुसासंति हियं पयाणं।
तहा तहा सासयमाहु लोए जंसी पया माणव ! संपगाढा।।
(सू० १, १२ : १२)

अतिशय ज्ञानी वे तीर्थंकर आदि लोक के नेत्र के समान हैं। वे धर्म.नायक हैं। वे प्रजाओं को कल्याण-मार्ग की शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं—"हे मनुष्य ! ज्यों-ज्यों मिथ्यात्व आदि बढ़ता है, त्यों-त्यों संसार भी शाश्वत होता जाता है। संसार की वृद्धि इस तरह होती है, जिसमें नाना प्राणी निवास करते हैं।"

२. जे रक्खसा जे जमलोइया वा जे आसुरा गंधव्वा य काया।
आगासगामी य पुढोसिया ते पुणो पुणो विप्परियासुवेंति।।
(सू० १, १२ : १३)

जो राक्षस हैं, जो यमपुरवासी हैं, जो देवता हैं, जो गन्धर्व हैं, जो आकाशगामी व पृथ्वी-निवासी हैं वे सब मिथ्यात्व आदि कारणों से ही बार-बार भिन्न-भिन्न गतियों में जन्म धारण करते हैं।

३. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसण्णा विसयंगणाहि दुहतो वि लोयं अणुसंचरंति।।
(सू० १, १२ : १४)

जिस संसार को अपार सलिल वाले स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा दी गई है, वह भिन्न-भिन्न योनियों के कारण बड़ा ही गहन और दुस्तर है। विषय और स्त्रियों में आसक्त जीव स्थावर और जंगम दोनों ही प्रकार से जगत् में बार-बार भ्रमण करते हैं।

४. ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
(सू० १, १२, : १५)

जो अज्ञानी हैं, वे कर्म द्वारा कर्मों का क्षय नहीं कर सकते। जो धीर पुरुष हैं, वे अकर्म से—आस्रवों को रोककर—कर्मों का क्षपण करते हैं।

५. ते तीतउप्पण्णमणागयाइं लोगस्स जाणंति तहागताइं।
णेतारो अण्णेसि अणण्णणेया बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति।।
(सू० १, १२ : १६)

उपर्युक्त भावों को जिन्होंने कहा है, वे जीवों के भूत, वर्तमान और भविष्य को जाननेवाले, जगत् के नेता, अनन्य नेता और संसार का अंत करनेवाले ज्ञानी पुरुष हैं।

६. जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे।
जीवस्य परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि।।[1] (कुन्द० अ० ५६)

यह जन्म-मरण रूपी समुद्र बहुत दोषरूपी लहरों से और दुःखरूपी जलचरों से व्याप्त है, जिसमें जीव का परिभ्रमण कर्मों के आस्रव के कारण होता है।

७. कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे।
जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया।। (कुन्द० अ० ५७)

कर्मों के आस्रव के कारण जीव संसाररूपी भयानक समुद्र में डूब जाता है। जो क्रिया ज्ञानपूर्वक की जाती है, वह परम्परा से मोक्ष का कारण होती है।

८. मणवयणकायजोया जीवपएसाणफंदणविसेसा।
मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति।। (द्वा० अ० ८८)

मन, वचन, काय—ये योग हैं। जीव के प्रदेशों का स्पंदन विशेष योग है। वे ही आस्रव हैं। योग मोह के उदय सहित हैं और मोह के उदय से रहित भी।

९. मोहविभागवसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेयविहा।। (द्वा० अ० ८९)

मोह के उदय से जो परिणाम इस जीव के होते हैं, वे ही आस्रव हैं। तू ऐसा जान। वे परिणाम मिथ्यात्व को आदि लेकर अनेक प्रकार के हैं।

१०. कम्मं पुण्णं पावं हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु।। (द्वा० अ० ९०)

---

१. भग० आ० १८२१।

कर्म पुण्य और पाप के भेद से दो प्रकार के हैं और उनके कारण भी सत् और असत् दो प्रकार के होते हैं। उनमें मंदकषाय रूप परिणाम तो प्रशस्त हैं और तीव्र कषाय रूप परिणाम अप्रशस्त।

११. एवं जाणंतो वि हु परिचयणीए वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुपिक्खा सव्वा वि णिरत्थया होदि।। (द्वा० अ० ६३)

इस प्रकार से प्रत्यक्ष रूप से जानता हुआ भी जो त्यागने योग्य परिणामों को नहीं छोड़ता है, उसके आस्रव का सारा चिंतन निरर्थक है।

१२. एदे मोहयभावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो।
हेयमिदि मण्णमाणो आसवअणुवेहणं तस्स।। (द्वा० अ० ६४)

जो पुरुष उपशम परिणामों में लीन होकर उन मोह से उत्पन्न मिथ्यात्वादिक परिणामों को हेय मानता हुआ छोड़ता है, उसकी आस्रवानुप्रेक्षा कार्यकारी होती है।

१३. दुक्खभयमीणपउरे संसारमहण्णवे परमघोरे।
जंतू जं तु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं।। (मू० ७२७)

दुःख और भयरूपी मत्स्य जिसमें बहुत हैं ऐसे अत्यंत भयंकर संसार-समुद्र में यह प्राणी जिस कारण से डूबता है वह कर्मास्रव है।

१४. रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स।। (मू० ७२८)

राग, द्वेष, मोह, पाँच इन्द्रियाँ, आहारादि संज्ञा, ऋद्धि आदि गौरव, क्रोधादि कषाय, मन, वचन, काय की क्रिया सहित ये सब आस्रव हैं, इनसे कर्म आते हैं।

१५. हिंसादिएहिं पंचहिं आसवदारेहिं आसवदि पावं।
तेहिंतो धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे।। (मू० ७३६)

हिंसा, असत्य आदि पाँच आस्रवों के द्वार से पाप-कर्म आता है और उनसे निश्चय कर जीवों का नाश होता है। जैसे छिद्रसहित नाव समुद्र में डूब जाती है, इसी तरह कर्मास्रवों से जीव भी संसार-समुद्र में डूबता है।

१६. संसारसागरे से कम्मजलमसंवुडस्स आसवदि।
आसवणीणावाए जह सलिलं उदधिमज्झम्मि।। (भग० आ० १८२२)

संवररहित जीव में संसाररूपी सागर में कर्मरूपी जल का आस्रव होता है, जैसे समुद्र में चूनेवाली नौका में पानी का आस्रव।

८. संवर भावना

१. तिउट्टती उ मेहावी जाणं लोगंसि पावगं।
तुट्टंति पावकम्माणि णवं कम्ममकुव्वओ।। (सू० १, १५ : ६)

पाप कर्म को जाननेवाला बुद्धिमान पुरुष संसार में रहता हुआ भी पाप से छूट जाता है। जो पुरुष नए कर्म नहीं करता, उसके सभी पाप-कर्म छूट जाते हैं।

२. जं मतं सव्वसाहूणं तं मतं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा देवा वा अभविंसु ते।। (सू० १, १५ : २४)

सर्व साधुओं को मान्य जो संयम है, वह पाप को नाश करनेवाला है। इस संयम की आराधना कर बहुत जीव संसार-सागर से पार हुए हैं और बहुतों ने देवभव को प्राप्त किया है।

३. अकुव्वओ णवं णत्थि कम्मं णाम विजाणतो।
णच्चाण से महावीरे जे ण जाई ण मिज्जती।। (सू० १, १५ : ७)

जो नहीं करता उसके नए कर्म नहीं बँधते। कर्मों को जाननेवाला महावीर पुरुष उनकी स्थिति और अनुभाग आदि को जानता हुआ ऐसा करता है, जिससे वह संसार में न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है।

४. मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
अरिहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं।। (मू० २३७)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय योग—वे आस्रव अर्थात् कर्मों के आगमन के हेतु हैं। अर्हन्तकथित पदार्थों में विमोह—संशयादि करना मिथ्यात्व है।

५. अविरमणं हिंसादी पंचवि दोसा हवंति णादव्वा।
कोधादीय कसाया जोगो जीवस्स चिट्ठा दु।। (मू० २३८)

हिंसा आदि पाँच दोषों के अत्याग को अविरति जानना। क्रोधादि चार कषाय हैं और जीव की क्रिया को योग कहते हैं।

६. मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदढकवाडेण।
हिंसादिदुवारणिवि दढवदफलिहेहिं रुब्भंति।। (मू० २३६)

विवेक शील जीव मिथ्यात्वरूप आस्रवद्वार को सम्यक्त्वरूप दृढ़ कपाट से रोक देते हैं और हिंसादि अविरतिरूप आस्रवद्वार को दृढ़ पंचव्रत-रूप फलक से रोकते हैं।

७. आसवदि जं तु कम्मं कोधादीहिं तु अयदजीवाणं।
तप्पडिवक्खेहिं विदु रुंधंति तमप्पमत्ता दु।। (मू० २४०)

यतनाचार रहित जीवों के क्रोध आदि द्वारा जो कर्म आते हैं उनको प्रमादरहित ज्ञानी जीव क्रोधादि के प्रतिपक्षी उत्तम क्षमादि धर्मों से रोक देते हैं।

८. मिछत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं जं च आसवदि।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि।। (मू० २४१)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगों से जो कर्म आते हैं, वे कर्म सम्यग्दर्शन, विरति, क्षमादिभाव और योगनिरोध से नहीं आने पाते—रुक जाते हैं।

९. एदे संवरहेदुं वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
सो भमइ चिरं कालं संसारे दुक्खसंतत्तो।। (द्वा० अ० १००)

जो पुरुष इन (सम्यक्त्व, व्रत आदि संवर के हेतु का विचार करता हुआ भी आचरण नहीं करता है, वह दुःखों से संतप्तमान होकर बहुत समय तक संसार में भ्रमण करता है।

१०. जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ।
मणहरविसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि।। (द्वा० अ० १०१)

जो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता हुआ मन को प्रिय लगनेवाले विषयों से आत्मा को सदा दूर रखता है, उसके प्रगट रूप से संवर होता है।

११. संवरफलं तु णिव्वाणमिति संवरसमाधिसंजुत्तो।
णिच्चुज्जुत्तो भावय संवर इणमो विसुद्धप्पा।। (मू० ७४३)

संवर का फल मोक्ष है। अतः संवर-समाधि से युक्त विशुद्धात्मा सदा यतनापूर्वक इस संवर की भावना करे।

९. निर्जरा भावना

१. पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा।
पढमा विवागजादा बिदिया अविवागजादा य।। (मू० २४५)

पूर्व किये हुए कर्मों का जो झड़ जाना है वह निर्जरा है। उसके दो भेद हैं। पहली निर्जरा विपाकजा है और दूसरी अविपाकजा।

२. कालेण उवाएण य पच्चंति जधा वणप्फदिफलाणि।
तध कालेण उवाएण य पच्चंति कदा कम्मा।। (मू० २४६)

जैसे वनस्पति-फल अपने-अपने समय से तथा उपाय द्वारा जल्दी भी पक जाते हैं उसी तरह किये हुए कर्म अपने-अपने समय पर अथवा तप के उपाय द्वारा पहले भी फल देकर झड़ जाते हैं।

३. वारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स।। (द्वा० अ० १०२)

निदानरहित, अहंकाररहित ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्य भावना से निर्जरा होती है।

४. उवसमभावतवाणं जह जह वड्ढी हवेइ साहूणं।
तह तह णिज्जरवड्ढी विसेसदो धम्मसुक्कादो।। (द्वा० अ० १०५)

मुनियों के जैसे-जैसे उपशम भाव तथा तप की वृद्धि होती है वैसे-वैसे ही निर्जरा की वृद्धि होती है। धर्मध्यान ओर शुक्लध्यान से निर्जरा की विशेषता से वृद्धि होती है।

५. जो विसहदि दुव्वयणं साहम्मियहीलणं च उपसग्गं।
जिणिऊण कसायरिउं तस्स हवे णिज्जरा विउला।। (द्वा०अ० १०६)

जो कषायरूपी वैरी को जीतकर दुर्वचनों को सहन करता है, जो साधर्मी द्वारा किये गये अनादर को सहता है, जो उपसर्गों को सहन करता है, उसके विपुल निर्जरा होती है।

६. जो चिंतेइ सरीरं ममत्तजणयं विणस्सरं असुइं।
दंसणणाणचरित्तं सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं।। (द्वा० अ० १११)

जो शरीर को ममत्व उत्पन्न करनेवाला, नश्वर तथा अपवित्र मानता है और सुख को उत्पन्न करनेवाले निर्मल तथा नित्य दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी आत्मा का चिंतन करता है, उसके विपुल निर्जरा होती है।

७. अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ बहुमाणं।
मणइंदियाण विजई स सरूवपरायणो होउ।। (द्वा० अ० ११२)

जो अपने किये हुए दुष्कृत की निंदा करता है, गुणवान पुरुषों का बहुमान करता है, अपने मन और इन्द्रियों को जीतनेवाला होता है, वह अपने स्वरूप में तत्पर होता है। उसके विपुल निर्जरा होती है।

८. तस्स य सहलो जम्मो तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स वि पुण्णं वड्ढदि तस्स य सोक्खं परो होदि।।
(द्वा० अ० ११३)

जो ऐसे निर्जरा के कारणों में प्रवृत्ति करता है उसीका जन्म सफल है। उसी के पाप-कर्म की निर्जरा होती है। उसीके पुण्य-कर्म का अनुभाग बढ़ता है उसीको उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है।

६. जो समसोक्खणिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं।
इंदियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा।। (द्वा० अ० ११४)

जो वीतराग भावरूप—साम्यरूप—सुख में लीन होकर बार-बार आत्मा का स्मरण करता है तथा इन्द्रिय और कषायों को जीतता है उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

१०. णिज्जरियसव्वकम्मो जादिजरामरणबंधणविमुक्को।
पावदि सुक्खमणंतं णिज्जरणं तं मणसि कुज्जा।। (मू० ७४६)

उसके बाद सब कर्मों से रहित हो जन्म,, जरा और मरणरूपी बंधनों से रहित हुआ जीव अतुल सुख को प्राप्त होता है। इन सब कारणों से मन में निर्जरा भावना का चिंतन करना चाहिए।

१०. लोक भावना

१. सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झसंठियो लोओ।
सो केण वि णेय कओ ण य धरिओ हरिहरादीहिं।।
(द्वा० आ० ११५)

आकाश अनन्त है, उसके बहुमध्यप्रदेश में स्थित लोक है। वह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है तथा किसी हरिहरादि के द्वारा धारण किया हुआ नहीं है।

२. लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणे सहावणिप्पण्णो।
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो।। (मू० ७१२)

यह लोक अकृत्रिम है, अनादि निधन है, अपने स्वभाव से ही निष्पन्न है, जीव-अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है, नित्य है और ताड़वृक्ष के आकार का है।

३. धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीवपुग्गलाणं च।
जावत्तावल्लोगो आगासमदो परमणंतं।। (मू० ७१३)

जहाँ धर्म द्रव्य, अधर्म, द्रव्य है और लोकाकाश है और जितने में जीव द्रव्य और पुद्गलों का गमन-आगमन है उतना ही लोक है। इसके बाद केवल अनन्त आकाश है, उसको अलोकाकाश कहते हैं।

४. अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अत्थणं हवे लोओ।
दव्वाणं णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं।। (द्वा० अ० ११६)

जीवादिक द्रव्यों का एक-दूसरे में प्रवेश करने का स्थान लोक है। द्रव्य नित्य हैं, इसलिए लोक को भी नित्य जानो।

५. परिणामसहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं।। (द्वा० अ० ११७)

द्रव्य परिणाम-स्वभावी है इसलिए प्रति समय परिणाम करते रहते हैं। उनके परिणाम के कारण लोक को भी परिणामी जानो।

६. दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंतविहीणा विरायंते।। (द्वा० अ० १२१)

जहाँ जीवादिक पदार्थ देखे जाते हैं वह लोक कहलाता है। उसके शिखर पर अन्तरहित सिद्ध विराजमान हैं।

७. एइंदिएहिं भरिदो पंचपयारेहिं सव्वदो लोओ।
तसणाडिए वि तसा ण बाहिरा होंति सव्वत्थ।। (द्वा० अ० १२२)

यह लोक पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों से सब जगह भरा हुआ है। त्रसजीव त्रस-नाड़ी में ही है, बाहर नहीं है।

८. तत्थणुहवंति जीव सकम्मणिव्वत्तियं सुहं दुक्खं।
जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे।। (मू० ७१५)

उस लोक में ये जीव अपने कर्मों से उपार्जित सुख-दुःख को भोगते हैं और इस अनन्त भवसागर में जन्म-मरण का बार-बार अनुभव करते हैं।

९. मादा य होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि।
पुरिसोवि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जगे।। (मू० ७१६)

इस संसार में माता पुत्री हो जाती है और पुत्री माता हो जाती है। पुरुष स्त्री हो जाता है और स्त्री पुरुष और नपुंसक हो जाती है।

१०. होऊण तेयसत्ताधिओ दु बलविरियरूवसंपण्णो।
जादो वच्चघरे किमि धिगत्यु संसारवासस्स।। (मू० ७१७)

तेज और सत्ता में अधिक, बल, वीर्य, रूप से सम्पन्न राजा भी कर्मवश अशुचि स्थान में कृमि के रूप में उत्पन्न होता है इसलिए ऐसे संसार में रहने को धिक्कार है।

११. धिग्भवदु लोगधम्मं देवावि य सुरवदीय महधीया।
भोत्तूण य सुहमतुलं पुणरवि दुक्खावहा होंति।। (मू० ७१८)

लोक के स्वभाव को धिक्कार हो जिससे कि देव और महान ऋद्धिवाले इन्द्र भी अनुपम सुख को भोगकर बाद में पुनः दुःख के भोगनेवाले होते हैं।

१२. विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होंदि।।
(द्वा० अ० २७६)

संसार में विरले ही पुरुष तत्त्व को सुनते हैं, सुनकर भी तत्त्व को यथार्थ रूप से विरले ही जानते हैं, जानकर भी विरले ही तत्त्व की भावना (अभ्यास) करते हैं। भावना करने पर भी तत्त्व की धारणा विरलों के ही होती है।

१३. तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चलभावेण गिण्हदे जो हि।
तं चिय भावेदि सया सो वि य तच्चं वियाणेई।। (द्वा० अ० २८०)

जो पुरुष प्ररूपित तत्त्वों के स्वरूप को निश्चल भाव से ग्रहण करता है, उसकी निरन्तर भावना करता है वही पुरुष तत्त्व को जानता है।

१४. को ण वसो इत्थिजणे कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इंदिएहिं ण जिओ को ण कसाएहिं संतत्तो।।
(द्वा० अ० २८१)

इस लोक में स्त्रीजन के वश में कौन नहीं हुआ ? काम से जिसका मन खंडित नहीं हुआ हो वह कौन है ? जो इन्द्रियों से न जीता गया हो वह कौन है ? कषायों से संतप्त न हुआ हो वह कौन है ?

१५. सो ण वसो इत्थिजणे सो ण जिओ इंदिएहि मोहेण।
जो ण य गिण्हदि गंथं अब्भंतरबाहिरं सव्वं।।
(द्वा० अ० २८२)

जो पुरुष तत्त्व का स्वरूप जानकर बाह्य और अभ्यन्तर सब परिग्रह का ग्रहण नहीं करता वह पुरुष स्त्रीजन के वश में नहीं होता है। वही पुरुष इन्द्रियों से और मोह से पराजित नहीं होता है।

१६. एवं लोयसहावं जो झायदि उवसमेक्कसब्भाओ।
सो खविय कम्मपुंजं तिल्लोय सिहामणी होदि।। (द्वा० अ० २८३)

जो पुरुष इस प्रकार लोक के स्वरूप को उपशम से एक स्वभाव-रूप होता हुआ ध्याता है वह पुरुष कर्म-पुंज का क्षय करके उसी लोक का शिखामणि होता है।

१७. सरिसीए चंदिगाये कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो।
सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई।।
(भग० आ० १८१०)

चाँदनी समान होने पर भी जैसे कृष्णपक्ष द्वेष्य और शुक्लपक्ष प्रिय होता है वैसे ही आचरण समान होने पर भी कोई द्वेष्य और कोई प्रिय होता है।

१८. कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि।
कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो।।

(भग० आ० १८०६)

लोक में पुण्यहीन मनुष्य अपराध नहीं करता हुआ भी अपराधी हो जाता है और पुण्यवान जीव अपराध करता हुआ भी निरपराधी लोगों के समान होता है।

१९. विज्जू व चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहियमच्चुहदं।
णाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खदधुदं लोगं।।

(भग० आ० १८१२)

बिजली के समान चंचल, फेन की तरह दुर्बल, व्याधियों से मथित, दुःखों से कंपित और मृत्यु से उपद्रूत लोक को देखता हुआ ज्ञानी कैसे उसमें रति कर सकता है ?

११. दुर्लभबोधि भावना

१. संबुज्झह किण्ण बुज्झहा संवोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइयो णो सुलभं पुणरावि जीवियं।।

(सू० १, २ (१) : १)

बोध प्राप्त करो। क्यों नहीं बोध प्राप्त करते ? मनुष्य-भव बीत जाने पर परभव में सम्बोधि निश्चय ही दुर्लभ है। बीती हुई रातें नहीं फिरतीं और न मनुष्य-जीवन पुनः सुलभ होता है।

२. बुज्झाहि जंतू ! इह माणवेसु दट्ठुं भयं बालिएणं अलंभे।
एगंतदुक्खे जरिए हु लोए सकम्मुणा विप्परियासुवेति।।

(सू० १, ७ : ११)

हे जीव ! चारों गतियों में केवल भय है। विवेकहीन जीव को शीघ्र बोध नहीं होता । यह देखकर मनुष्य-भव में संबोध को प्राप्त करो। यह संसार ज्वराक्रान्त की तरह एकांत दुःखी है। जीव अपने कृत्यों से ही संसार में पर्यटन करता है।

३. अंतं करेंति दुक्खाणं इहमेगेसि आहितं।
आघातं पुण एगेसिं दुल्लभेऽयं समुस्सए।। (सू० १, १५ : १७)

कइयों का कथन है कि देव ही दुःखों का अन्त कर सकते हैं, ज्ञानियों का कथन है कि यह मनुष्यदेह दुर्लभ है। (जो प्राणी मनुष्य नहीं वे अपने समस्त दुःखों का नाश नहीं कर सकते)।

४. इत्तो विद्धंसमाणस्स पुणो संवोहि दुल्लभा।
दुल्लभाओ तहच्चाओ जे धम्मट्ठं वियागरे ।। (सू० ३, १५ : १८)

इस मनुष्य-शरीर से जो भ्रष्ट होता है, उसके लिए पुनः मनुष्यदेह पाना सरल नहीं होता। उसके बिना संबोधि दुर्लभ होती है और ऐसी लेश्या या चित्तवृत्ति भी दुर्लभ होती है, जो धर्म की आराधना के योग्य व्यक्तियों की होती है।

५. उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लं होदि।। (कुन्द० अ० ८३)

जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, उस उपाय की चिंता होती है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

६. संसारह्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव।। (मू० ७५५)

इस अनन्त संसार में जीवों के लिए मनुष्य-जन्म का मिलना वैसा ही दुर्लभ है जैसा कि लवण-समुद्र में युग और समिलाका संयोग।

७. लद्धेसुवि एदेसु अ बोधी जिणसासणह्मि ण हु सुलहा।
कुपहाणमाकुलत्ता जं बलिया रागदोसा य।। (मू० ७५७)

मनुष्य जन्म के मिलने पर भी जिन-शासन में सम्यक्श्रद्धा सुलभ नहीं है, क्योंकि कुमार्गों की आकुलता से यह जगत् आकुल हो रहा है। उसमें राग-द्वेष ये दोनों बलवान हैं।

८. सेयं भवभयमहणी बोधी गुणवित्थडा मए लद्धा।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तह्मा ण खमं पमादो में।। (मू० ७५८)

संसार के भय को नाश करनेवाली सब गुणों की आधारभूत यह बोधि मैंने पाई है। वह कदाचित् संसार-समुद्र में हाथ से छूट गई तो फिर निश्चय ही उसका मिलना सुलभ नहीं है। अतः मेरे लिए प्रमाद करना उचित नहीं है।

९. दुल्लहलाहं उद्धूण बोधिं जो णरो पमादेज्जो।
सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगदिं गदो संतो।। (मू० ७५९)

जो मनुष्य दुर्लभ बोधि को प्राप्त कर प्रमाद करता है वह कापुरुष है और कुगति को प्राप्त हो दुखी होता है।

१२. धर्म भावना

१. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।। (द० १ : १)

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, तप और संजम उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

२. पच्छा वि ते पयाया खिप्पं गच्छंति अमर-भवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो य खंती बभचेरं च।।
(द० ४ : २७ के बाद)

जिन्हें तप, संजम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, फिर भले ही उन्होंने पिछली अवस्था में संयम ग्रहण किया हो।

३. इमं च मे अत्थिं इमं च नत्थि इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं हरा हरंति त्ति कहं पमाए ?
(उ० १४ : १५)

यह मेरे पास है और यह मेरे पास नहीं है, यह मुझे करना है और यह मुझे नहीं करना है—ऐसा विचार करते-करते ही कालरूपी चोर प्राणों को हर लेता है। फिर यह प्रमाद क्यों ?

४. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि सो दु कंखे सुर सिंया।। (उ० १४ : २७)

जिस मनुष्य की मृत्यु से मैत्री हो, जो उसके पंजे से भागकर निकलने का सामर्थ्य रखता हो, जो 'नहीं मरूँगा' यह निश्चय रूप से जानता हो, वही आगामी काल का भरोसा कर सकता है।

५. अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहि पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं।।
(उ० १४ : २८)

हम आज ही धर्म अंगीकार करेंगे, जिसे प्राप्त करने पर पुनर्भव नहीं होता। ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो अप्राप्त हो—जिसे हमने नहीं भोगा। श्रद्धा हमें राग से मुक्त करेगी।

६. जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे।। (द० ८ : ३५)

जरा जब तक पीड़ित नहीं करती, व्याधि जब तक नहीं बढ़ती, इन्द्रियाँ जब तक हीन (शिथिल) नहीं होतीं, वहाँ तक धर्म का भलीभाँति आचरण कर।

७. जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जंति राइओ।। (द० १४ : २४)

जो-जो रात्रि बीतती है, वह लौटकर नहीं आती। अधर्म करनेवाले की रात्रियाँ निष्फल जाती हैं।

८. जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ।। (द० १४ : २५)

जो-जो रात्रि बीतती है, वह लौटकर नहीं आती। धर्म करनेवाले की रात्रियाँ सफल जाती हैं।

९. अद्धाणं जो महंतं तु अपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो दुही होइ छुहातण्हाए पीडिओ।।
एवं धम्मं अकाऊणं जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो दुही होइ वाहीरोगेहिं पीडिओ।। (उ० १६ : १८-१९)

जैसे कोई लम्बी यात्रा के लिए निकले और साथ में पाथेय (अन्न-जल) न ले तो जाता हुआ क्षुधा और तृषा से पीड़ित होकर दुःखी होता है, वैसे ही जो धर्म न कर परभव को जाता है वह यात्रा में व्याधि और रोग से पीड़ित होकर दुखी होता है।

१०. अद्धाणं जो महंतं तु सपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो सुही होइ छुहातण्हाविवज्जिओ।।
एवं धम्मं पि काऊणं जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणे।। (उ० १६ : २०-२१)

जैसे कोई लम्बी यात्रा के लिए निकलने पर साथ में पाथेय (अन्न-जल) लेता है, तो जाता हुआ क्षुधा और तृषा से पीड़ित न होकर खुशी होता है, वैसे ही जो धर्म कर परभव को जाता है, वह प्राणी अल्प कर्म और अवेदना के कारण यात्रा में सुखी रहता है।

११. जहा सागडिओ जाणं समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो अक्खे भग्गंमि सोयई।।
एवं धम्मं विउक्कम्म अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते अक्खे भग्गे व सोयई।। (उ० ५ : १४, १५)

जिस प्रकार कोई जानकार गाड़ीवान समतल विशाल मार्ग का परित्याग कर विषम मार्ग को ग्रहण करने पर गाड़ी की धुरी टूट जाने से खेद करता है, उसी प्रकार धर्म का उल्लंघन कर अधर्म को अंगीकार कर मूर्ख मृत्यु के मुँह को प्राप्त हो धुरी टूट जानेवाले गाड़ीवान की तरह खेद करता है।

१२. धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य।
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य।।
(भग० आ० १८५८)

धर्म से मनुष्य पूजनीय, विश्वसनीय, प्रिय और यशस्वी होता है। धर्म मनुष्य के लिए सुखसाध्य है। धर्म ही मनुष्य को शांति प्रदान करता है।

१३. खंतीमद्दवअज्जवलाघवतवसंजमो अकिंचणदा।
तह होइ बंभचेरं सच्चं चाओ य दसधम्मा।। (मू० ७५४)

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, तप, संयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग धर्म के दश भेद हैं।

१४. उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जहसो।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ।। (मू० ७५३)

शांति, दया, क्षमा, वैराग्य-भाव ये सब जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे इस जीव के अविनाशी मोक्ष-सुख अनुभव-गोचर होता जाता है।

१५. धम्मं ण मुणदि जीवो अहवा जाणेइ कहव कट्ठेण।
काउं तो वि ण सक्कादि मोहपिसाएण भोलविदो।।
(द्वा० अ० ४२६)

पहले तो जीव धर्म को जानता ही नहीं है अथवा किसी तरह बड़े कष्ट से जान भी जाता है तो मोह-पिशाच से भ्रमित किया हुआ करने में समर्थ नहीं होता है।

१६. जह जीवो कुणइ रइं पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे तो लीलाए सुहं लहदि।। (द्वा० अ० ४२७)

जैसे यह जीव पुत्र-कलत्र तथा कामभोग में रति करता है वैसे ही यदि वह जिनेन्द्र-प्ररूपित धर्म में करे तो लीलामात्र में सुख को प्राप्त हो।

१७. लच्छिं वंछेइ णरो णेव सुधम्मेसु आयरं कुणइ।
वीएण विणा कुत्थ वि किं दीसदि सस्सणिप्पत्ती।। (द्वा० अ० ४२८)

यह जीव लक्ष्मी को चाहता है पर अच्छे-अच्छे धर्म में आदर-बुद्धि नहीं करता। क्या बीज के बिना भी कहीं धान्य की उत्पत्ति दिखाई देती है ?

१८. ता सव्वत्थ वि कित्तो ता सव्वस्स वि हवेइ वीसासो।
ता सव्वं पिय भासइ ता सुद्धं माणसं कुणई।।
(द्वा० अ० ४३०)

जो जीव धर्म में स्थित है उसकी सर्वत्र कीर्ति होती है, उसका सब लोग विश्वास करते हैं, वह पुरुष सबको प्रिय वचन कहता है, वह पुरुष अपने तथा दूसरे के मन को शुद्ध करता है।

१६. जो धम्मत्थो जीवो सो रिउवग्गे वि कुणइ खमभावं।
ता परदव्वं वज्जइ जणणिसमं गणइ परदारं।।
(द्वा० अ० ४२६)

जो जीव धर्म में स्थित है वह रिपुओं के समूह पर भी क्षमा-भाव करता है, वह परद्रव्य का त्याग करता है और परस्त्री को माता के समान समझता है।

२०. उत्तमधम्मेण जुदो होदि तिरक्खो वि उत्तमो देवो।
चंडालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि।। (द्वा० अ० ४३१)

उत्तम धर्म से युक्त तिर्यंच भी उत्तम देव होता है। उत्तम धर्म से चांडाल भी सुरेन्द्र हो जाता है।

२१. अग्गी वि य होदि हिमं होदि भुयंगो वि उत्तम रयणं।
जीवस्स सुधम्मादो देवा वि य किंकरा होंति।।
(द्वा० अ० ४३२)

जीव के उत्तम धर्म के प्रभाव से अग्नि भी हिम हो जाती है, सर्प भी उत्तम रत्नों की माला हो जाता है, देव भी किंकर हो जाते हैं।

२२. देवो वि धम्मोवत्तो मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि।
चक्की वि धम्मरहिओ णिवडइ णरए ण संपदे होदि।।
(द्वा० अ० ४३५)

धर्मरहित देव भी मिथ्यात्व के वश वृक्षरूपी एकेन्द्रिय जीव हो जाता है। धर्मरहित चक्रवर्ती भी नरक में पड़ता है।

२३. इय पच्चक्खं पिच्छिय धम्माहम्माण विविहिमाहप्पं।
धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरह।। (द्वा० अ० ४३७)

हे प्राणियों ! इस प्रकार से धर्म और अधर्म का अनेक प्रकार का माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर तुम सदा धर्म का आदर करो और पाप को दूर ही से छोड़ो।

: ३२ :

श्रामण्य और प्रव्रज्या

१. दुष्कर श्रामण्य

१. विसएहि अरज्जन्तो रज्जंतो संजमम्मि य।
अम्मापियरं उवागम्म इमं वयणमब्बवी।। (उ० १६ : ६)

विषयों में राग न रहने और संयम में अनुरक्त हो जाने से वैरागी माता-पिता के पास आकर बोला—

२. सुयाणि मे पंच महव्वयाणि।
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।
निव्विण्णिकामो मि महण्णवाओ,
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो।। (उ० १६ : १०)

"हे माता! मैंने पाँच महाव्रत सुने हैं। नरक और तिर्यंच योनियों में दुःख है। मैं इस संसार-रूपी समुद्र से निवृत्त होने की कामनावाला हो गया हूँ। हे माता! मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। मुझे आज्ञा दें।

३. असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे।। (उ० १६ : १३)

"यह शरीर फेन के बुद्बुद की तरह क्षणभंगुर है। इसे पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ता है। इस अशाश्वत शरीर में मुझे जरा भी आनन्द नहीं मिलता।

४. जहा गेहे पलित्तम्मि तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ असारं अवउज्झइ।,
एवं लोए पलित्तम्मि जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि तब्भेहिं अणुमन्निओ।। (उ० १६ : २२-२३)

"जैसे घर में आग लग जाने पर उस घर का स्वामी सार उपकरणों को उसमें से निकालता है और असार को छोड़ देता है।

"वैसे ही जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए इस लोक से मैं आपकी अनुमति से आत्मा का उद्धार करूँगा। हे माता-पिता! आप मुझे आज्ञा दें।"

५. तं विंतऽम्मापियरो सामण्णं पुत्त ! दुच्चरं।
गुणाणं तु सहस्साइं धारेयव्वाइं भिक्खुणो।। (उ० १६ : २४)

माता-पिता बोले : "हे पुत्र ! भिक्षु को सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं। श्रामण्य बड़ा दुश्चर है।

६. समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई जावज्जीवाए दुक्करा।। (उ० १६ : २५)

"शत्रु-मित्र—संसार के सभी प्राणियों के प्रति समभाव और यावज्जीवन प्राणाति-पात से विरति—यह दुष्कर है।

७. निच्चकालऽप्पमत्तेणं मुसावायविवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं निच्चाउत्तेण दुक्करं।। (उ० १६ : २६)

"सदैव अप्रमत्त भाव से मृषावाद—झूठ का विसर्जन करना और सदा-उपयोग—सावधानीपूर्वक हितकारी सत्य बोलना—यह दुष्कर है।

८. दन्तसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स गेण्हणा अवि दुक्करं।। (उ० १६ : २७)

"दंत-शोधन की शली जैसे पदार्थ का भी बिना दिए ग्रहण न करना तथा निरवद्य और एषणीय पदार्थ ही ग्रहण करना—यह दुष्कर है।

९. विरई अबम्भचेरस्स कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बम्भं धारेयव्वं सुदुक्करं।। (उ० १६ : २८)

"कर्मभोग के रस को जो जान चुका, उसके लिए अब्रह्मचर्य से विरति और यावज्जीवन उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।

१०. धणधन्नपेसवग्गेसु परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारम्भपरिच्चाओ निम्ममत्तं सुदुक्करं।। (उ० १६ : २९)

"धन, धान्य, प्रेष्य वर्ग आदि परिग्रह का यावज्जीवन के लिए विवर्जन तथा सर्व आरम्भ का त्याग एवं निर्ममत्व भाव दुष्कर है।

११. चउव्विहे वि आहारे राईभोयणवज्जणा।
सन्निहीसंचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्करं।। (उ० १६ : ३०)

"चारों ही प्रकार के आहार का रात्रि-भोजन छोड़ना तथा दूसरे दिन के लिए सन्निधि और संचय का परिहार करना अति दुष्कर है।

१२. छुहा तण्हा य सीउण्हं दंसमसगवेयणा।
अक्कोसा दुक्खसेज्जा य तणफासा जल्लमेव य।। (उ० १६ : ३१)
तालाणा तज्जणा चेव वहबन्धपरीसहा।
दुक्खं भिक्खायरिया जायणा य अलाभया।। (उ० १६ : ३२)

"क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस और मच्छरों की वेदना, आक्रोश, कष्टप्रद स्थान, तृण का बिछौना, मैल, ताड़ना, तर्जना, बध और बंध का परीषह और भिक्षाचर्या, याचना और अलाभ—इन्हें सहन करना कठिन है।

१३. कावोया जा इमा वित्ती केसलोओ य दारुणो।
दुक्खं बम्भवयं घोरं धारेउं अ महप्पणो।। (उ० १६ : ३३)

"यह जो कापोती वृत्ति है, दारुण केश-लोंच और घोर ब्रह्मचर्य का धारण करना है, यह महान् आत्माओं के लिए भी कष्टकर है।

१४. सुहोइओ तुमं पुत्ता! सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता! सामण्णमणुपालिउं।। (उ १६ : ३४)

"हे पुत्र! तू सब भोगने योग्य है, सुकुमार है और साफ-सुथरा रहने वाला है। अतः हे पुत्र! तू श्रामण्य पालन में समर्थ नहीं है।

१५. जावज्जीवमविस्सामो गुणाणं तु महाभरो।
गुरुओ लोहभारो व्व जो पुत्ता! होइ दुव्वहो।। (उ० १६ : ३५)

"हे पुत्र! इस श्रामण्य वृत्ति में जीवनपर्यन्त विश्राम नहीं है। भारी लौह-भार की तरह यह गुणों का बड़ा बोझा है, जिसे वहन करना बड़ा दुष्कर है।

१६. आगासे गंगसोउ व्व पडिसोओ व्व दुत्तरो।
बाहाहिं सागरो चेव तरियव्वो गुणोयही।। (उ० १६ : ३६)

"आकाशगंगा के स्रोत, प्रतिस्रोत और भुजाओं से सागर को तैरने की तरह गुणोदधि—गुणों के सागर संयम का तैरना दुष्कर है।

१७. वालुयाकवले चेव निरस्साए उ संजमे।
असिधारागमणं चेव दुक्करं चरिउं तवो।। (उ० १६ : ३७)

"संयम बालू के कवल की तरह नीरस है तथा तप का आचरण असि-धार पर चलने के समान दुष्कर है।

१८. अहीवेगन्तदिट्ठीए चरित्ते पुत्त दुच्चरे।
जवालोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्करं।। (उ० १६ : ३८)

"पुत्र ! साँप जैसे एकाग्र-दृष्टि के चलता है, वैसे एकाग्र-दृष्टि से चरित्र का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है। लोहे के जवों को चबाना जैसे कठिन है वैसे ही चरित्र का पालन करना कठिन है।

१६. जहा अग्गिसिहा दित्ता पाउं होइ सुदुक्करं।
तह दुक्करं करेउं जे तारुण्णे समणत्तणं।। (उ० १६ : ३६)

"जिस तरह प्रज्वलित अग्निशिखा को पीना अत्यंत दुष्कर है, उसी प्रकार तरुणावस्था में श्रमणत्व का पालन करना बड़ा दुष्कर है।

२०. जहा दुक्खं भरेउं जे होइ वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउं जे कीवेणं समणत्तणं।। (उ० १८ : ४०)

"जैसे वायु से कोथला—थैला—भरना कठिन है, उसी प्रकार क्लीव (सत्त्वहीन) पुरुष के लिए श्रमणत्व-संयम का पालन करना कठिन है।

२१. जहा तुलाए तोलेउं दुक्करं मंदरो गिरी।
तहा निहुयं नीसंकं दुक्करं समणत्तणं।। (उ० १६ : ४१)

"जैसे मेरु पर्वत को तराजू में तौलना दुष्कर है, वैसे ही निश्चल और निःशंक भाव से श्रमणत्व का पालन करना दुष्कार है।

२२. जहा भुयाहिं तरिउं दुक्करं रयणागरो।
तहा अणुवसन्तेणं दुक्करं दमसागरो।। (उ० १६ : ४२)

"जिस तरह भुजाओं से रत्नाकर—समुद्र का तैरना दुष्कर है उसी तरह अनुपशांत आत्मा द्वारा दमरूपी समुद्र का तैरना दुष्कर है"

२३. तं बिंत ऽम्मापियरो एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचि वि दुक्करं।। (उ० १६ : ४४)

वैरागी बोला : "हे माता-पिता ! आपने प्रव्रज्या के विषय में कहा है, वह सत्य है,, पर इस लोक में जो पिपासा (तृष्णा) रहित है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

२४. अग्गं वणिएहिं आहियं धारेंती रायाणया इहं।
एवं परमा महव्वया अक्खाया उ सराइभोयणा।।
(सू० १, २ (३) : ३)

"जिस तरह बनियों द्वारा दूर देश से लाए हुए रत्नादि बहुमूल्य और उत्तम द्रव्यों को राजा-महाराजा आदि धारण करते हैं उसी तरह ज्ञानियों द्वारा कहे हुए पाँच महाव्रत और छट्ठे रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को आत्मार्थी पुरुष ही धारण करते हैं।"

२५. भुंज माणुस्सए भोगे पंचलक्खणए तुमं।
भुत्तभोगी तओ जाया पच्छा धम्मं चरिस्ससि।। (उ० १६ : ४३)

माता-पिता बोले : "पुत्र ! तू मनुष्य-सम्बन्धी पाँच इन्द्रियों के भोगों का भोग कर। भुक्तभोगी हो, बाद में मुनि-धर्म का आचरण करना।"

२६. अम्मताय ! मए भोगा भुत्ता विसफलोवमा।
पच्छा कडुयविवागा अणुबंधदुहावहा।। (उ० १६ : ११)

"हे माता-पिता ! मैं कामभोग भोग चुका। ये कामभोग विषफल के समान हैं। बाद में इनका फल बड़ा कटु होता है। ये निरन्तर दुःखावह हैं।

२७. माणुसुत्ते असारम्मि वाहीरोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि खणं पि न रमामऽहं।। (उ० १६ : १४)

"मनुष्य-जीवन असार है। व्याधि और रोग का घर है। जरा और मरण से ग्रस्त है। इसमें मुझे एक क्षण के लिए भी आनन्द-प्राप्ति नहीं है।"

२८. तं बिंत ऽम्मापियरो छन्देणं पुत्तं ! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया।। (उ० १६ : ७५)

माता-पिता ने उससे कहा : "तुम्हारी इच्छा है तो प्रव्रजित हो जाओ, परन्तु साधु-जीवन में रोगों की चिकित्सा नहीं की जाती, यह भी दुष्कर है।"

२९. सो बिंत ऽम्मापियरो ! एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई अरण्णे मियपक्खिणं।। (उ० १६ : ७६)

वैरागी ने माता-पिता से कहा :"आपने जो कहा वह ठीक है, किन्तु अरण्य में हरिण और पक्षियों की चिकित्सा कौन करता है ?

३०. एगभूओ अरण्णे वा जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि संजमेण तवेण य।। (उ० १६ : ७७)

"जैसे जंगल में हरिण अकेला विचरता है, वैसे ही मैं संयम और तप के साथ एकाकी भाव को प्राप्त कर धर्म का आचरण करूँगा।

३१. जया मिगस्स आयंको सहारण्णम्मि जायई।
अच्छंन्तं रुक्खमूलम्मि को णं ताहे तिगिच्छई ? (उ० १६ : ७८)

"जब महावन में हरिण के शरीर में आतंक उत्पन्न होता है तब किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस हरिण की कौन चिकित्सा करता है ?"

३२. को वा से ओसहं देई ? को वा से पुच्छई सुहं ?
को से भत्तं च पाणं च आहरित्तु पणामए ? (उ० १६ : ७६)

"कौन उसे औषधि देता है ? कौन उससे सुख की बात पूछता है ? कौन उसे आहार-पानी लाकर देता है ?

३३. जया य से सुही होइ तया गच्छइ गोयरं।
भत्तपाणस्स अट्ठाए बल्लराणि सराणि य।। (उ० १६ : ८०)

"जब वह स्वस्थ हो जाता है तब गोचर में जाता है। खाने-पीने के लिए लता-निकुंजों और जलाशयों में जाता है।

३४. खाइत्ता पाणियं पाउं वल्लरेहिं सरेहि वा।
मिगचारियं चरित्ताणं गच्छई मिगचारियं।। (उ० १६ : ८१)

"लता-निकुंजों और जलाशयों में खा-पीकर वह मृग-चर्या के द्वारा कूद-फाँद करता हुआ मृग-चर्या—स्वतंत्र-विहार के लिए चला जाता है।

३५. एवं समुट्ठिओ भिक्खू एवमेव अणेगओ।
मिगचारियं चरित्ताणं उड्ढं पक्कमई दिसं।। (उ० १६ : ८२)

"इसी प्रकार संयम के लिए उठा हुआ भिक्षु स्वतंत्र विहार करता हुआ मृग-चर्या का आचरण कर ऊँची दिशा—मोक्ष को चला जाता है।

३६. जहा मिगे एग अणेगचारी अणेगवासे धुवगोयरे य।
एवं मुणी गोवरियं पविट्ठे नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा।।
(उ० १६ : ८३)

"जिस प्रकार मृग अकेला अनेक स्थानों में विचरनेवाला, अनेक स्थानों में रहनेवाला और सदा गोचर से जीवन-यापन करनेवाला होता है, वैसे ही श्रमण होता है। गोचर में प्रविष्ट मुनि जब भिक्षा के लिए जाता है तब किसी की अवज्ञा या निंदा नहीं करता।

३७. मियचारियं चरिस्सामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं।
तुब्भेहिं अम्म ! ऽणुन्नाओ गच्छ पुत्त ! जहासुहं।। (उ० १६ : ८५)

"हे माता-पिता ! आप दोनों की अनुज्ञा पा मैं मृग-चर्या का आचरण करूँगा। प्रव्रज्या सर्व दुःखों से मुक्त करनेवाली है।"

माता-पिता बोले : "हे पुत्र ! जाओ यथासुख करो।"

३८. एवं सो अम्मापियरो अणुमणित्ताण बहुविहं।
ममत्तं छिन्दई ताहे महानागो व्व कंचुयं।। (उ० १६ : ८६)

इस प्रकार माता-पिता को सम्मत कर वह वैरागी अनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोड़ता है जिस प्रकार महानाग काँचली को छोड़ता है।

३६. इड्ढिं वित्तं च मित्ते य पुत्तदारं च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं निद्धुणित्ताण निग्गओ।। (उ० १६ : ८७)

जैसे कपड़े में लगी हुई रेणु—रज को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार ऋद्धि, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धीजनों के मोह को छिटकाकर वह वैरागी घर से निकल पड़ा।

२. प्रत्याख्यान और प्रव्रज्या

१. पढमे भंते ! महव्वए पाणइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि—से सुहुमं वा बायर वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं। न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।
पढमे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।
(द० ४, सू० ११)

हे भन्ते ! प्रथम महाव्रत में सर्व प्राणातिपात—हिंसा से विरमण होता है।

हे भन्ते ! मैं सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर—जो भी प्राणी हैं, मैं स्वयं उनके प्राणों का अतिपात—हिंसा नहीं करूँगा, दूसरों से अतिपात नहीं कराऊंगा और अतिपात करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा, करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। प्राणातिपात का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भन्ते ! मैंने अतीत में जो प्राणातिपात किया, उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ।

हे भन्ते ! सर्व प्राणातिपात-विरमण के लिए प्रथम महाव्रत में मैं उपस्थित हुआ हूँ।

२. अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि—से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणु-

जाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्सय भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।
दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं।
(द० ४, सू० १२)

हे भन्ते ! इसके बाद दूसरे महाव्रत में मृषावाद—झूठ से विरमण होता है। हे भन्ते ! मैं सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध से या लोभ से या भय से या हँसी में मै स्वयं झूठ नहीं बोलूँगा, दूसरों से झूठ नहीं बुलवाऊँगा और झूठ बोलनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा और करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। मृषावाद का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भन्ते ! मैंने अतीत में झूठ बोला है, उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ।

हे भन्ते ! मैं सर्व मृषावाद से विरमण के लिए इस दूसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ।

३. अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गेण्हावेज्जा अदिन्नं गेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेणं वायाए काएणं न करेमिं न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।
तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।
(द० ४, सू० १३)

हे भन्ते ! इसके बाद तीसरे महाव्रत में अदत्त—चोरी से विरमण होता है।

हे भन्ते ! मैं सर्व अदत्त ग्रहण का प्रत्याख्यान करता हूँ। ग्राम में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त—किसी भी अदत्त-वस्तु को मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, अदत्त-वस्तु को दूसरे से ग्रहण नहीं कराऊँगा और अदत्त-वस्तु ग्रहण करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा, करनेवाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। अदत्त ग्रहण का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भन्ते ! अतीत में मैंने अदत्त ग्रहण किया है—चोरी की है, उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग, करता हूँ।

हे भन्ते ! मैं सर्व अदत्त से विरमण के लिए इस तीसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ।

४. अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि—से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा नेवन्नेहिं मेहुण सेवावेज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।
चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।
(द० ४, सू० १४)

हे भंते ! इसके बाद चौथे महाव्रत में मैथुन से विरमण होता है।

हे भंते ! मैं सर्व मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। देव-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी, अथवा तिर्यञ्च-सम्बन्धी—जो भी मैथुन हैं, मैं उसका सेवन नहीं करूँगा, दूसरे से मैथुन का सेवन नहीं कराऊँगा और मैथुन सेवन करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा, करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। मैथुन सेवन का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भंते ! मैंने अतीत में मैथुन सेवन किया, उससे अलग होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ।

हे भंते ! मैं सर्व मैथुन से विरमण के लिए इस चौथे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ।

५. अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा परिग्गहं परिगेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।
पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।
(द० ४, सू० १५)

हे भंते ! इसके बाद पाँचवें महाव्रत में परिग्रह से विरमण होता है।

हे भंते ! मैं सर्व प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में

या अरण्य में—कहीं भी अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त परिग्रह मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरों से परिग्रह ग्रहण नहीं कराऊँगा और परिग्रह ग्रहण करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा, करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। परिग्रह ग्रहण का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भंते ! मैंने अतीत में परिग्रह सेवन किया, उससे अलग होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ।

हे भंते ! मैं सर्व परिग्रह से विरमण के लिए इस पाँचवें महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ।

६. अहावरे छट्ठे भंते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं सव्वं भंते ! राई-भोयणं पच्चक्खामि—से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजावेज्जा राइं भुंजते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।
छटठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं।।
(द० ४, सू० १६)

हे भंते ! इसके बाद छठे व्रत में रात्रि-भोजन से विरमण होता है।

हे भंते ! मैं सर्व रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। अन्न, पान, खाद्य और स्वाद्य वस्तुओं का मैं स्वयं रात्रि में भोजन नहीं करूँगा, न दूसरों से रात्रि में भोजन कराऊँगा और रात्रि में भोजन करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा, करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। रात्रि-भोजन का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान—त्याग है।

हे भंते ! मैंने अतीत में रात्रि-भोजन किया है, उससे अलग होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ।

हे भंते ! मैं सर्व रात्रि-भोजन से विरमण के लिए इस छठे व्रत में उपस्थित हुआ हूँ।

७. इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राईभोयण वेरमणं छट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उव-संपज्जित्ताणं विहरामि। (द० ४, सू० १७)

पूर्वोक्त पाँच महाव्रत और छठे इस रात्रि-भोजन विरमण व्रत को आत्महित के लिए ग्रहण कर मैं संयम में विचरण करता हूँ।

३. प्रवचन-माताएँ

१. अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ तओ गुत्तीओ आहिया।। (उ० २४ : १)

समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन-माताएँ कही गई हैं। समितियाँ पाँच हैं और गुप्तियाँ तीन।

२. इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा।। (उ० २४ : २)

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान समिति और उच्चार समिति तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये आठ प्रवचन-माताएँ हैं।

३. पणिधाणजोगजुत्तो पंचसु समिदिसु तीसु गुत्तीसु।
एस चरित्ताचारो अट्ठविधो होइ णायव्वो।। (मू० २६७)

भावों के योग से युक्त पाँच समिति और तीन गुप्तियों में जो प्रवृत्ति है, वही आठ प्रकार का चारित्राचार है—ऐसा जानना चाहिए।

४. एताओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ।।[1] (मू० ३३६)

ये आठ प्रवचन-माताएँ मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उसी प्रकार रक्षा करती हैं जिस प्रकार माता प्रयत्नपूर्वक पुत्र की।

५. एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खायं मायं जत्थ उ पवयणं।। (उ० २४ : ३)

नीचे इन आठ—पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। जिन-भाषित द्वादशांग उक्त आठों प्रवचन-माताओं में समाया हुआ है।

१. ईर्या समिति

६. फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहणा सकज्जेण।
जंतूण परिहरंति इरियासमिदि हवे गमणं।। (मू० ११)

निर्जीव मार्ग से दिन में चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए तथा प्राणियों का परिहार करते हुए अपने कार्य के लिए संयमी का जो गमन है, वह ईर्या समिति है।

---

१. भग० आ० १२०५।

७. आलम्बणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्धं संजए इरियं रिए।। (उ० २४ : ४)

संयमी आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों से परिशुद्ध ईर्या से चले।

८. तत्थ आलम्बणं नाणं दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते मग्गे उप्पहवज्जिए।। (उ० २४ : ५)

उनमें ईर्या का आलम्बन (हेतु) ज्ञान, दर्शन और चरण (चारित्र) है। ईर्या का काल दिन कहा गया है। ईर्या का मार्ग—उत्पथ-वर्जन—सुपथ है।

९. दव्वओ चक्खुसा पेहे जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा उवउत्ते य भावओ।। (उ० २४ : ७)

द्रव्य से—आँखों से देखकर चले। क्षेत्र से—युग मात्र—गाड़ी के—धुरे—जितने मार्ग को देखकर चले। काल से—जब तक चलता रहे तब तक। भाव से—जब चले तब उपयोगपूर्वक चले।

१०. इंदियत्थे विवज्जित्ता सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते इरियं रिए।। (उ० २४ : ८)

इन्द्रियों के विषय और पाँच प्रकार के स्वाध्याय का वर्जन कर ईया—चलने—में ही तन्मय हो और उसी को प्रधान कर मार्ग में उपयोगपूर्वक चले।

२. भाषा समिति

११. पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादि।
वज्जित्ता सपरहिदं भासासमिदी हवे कहणं।। (मू० १२)

पैशुन्य, हास्य, कर्कश वचन, पर-निन्दा, आत्म-प्रशंसा और विकथा रूप वचनों का परिहार कर स्व-पर-हितकारी वचन कहना भाषा समिति कहलाती है।

१२. कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए विगहासु तहेव च।। (उ० २४ : ९)

क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा—वाणी के इन दोषों के सम्बन्ध में उपयुक्तता—पूरा ध्यान रखना चाहिए।

१३. एयाइं अट्ठ ठाणाइं परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले भासं भासेज्ज पन्नवं।। (उ० २४ : १०)

प्रज्ञावान् संयमी (उक्त) आठ स्थानों का वर्जन करता हुआ यथासमय परिमित और असावद्य भाषा बोले।

१४. तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भयसा व माणवो न हासमाणो वि गिरं वएज्जा।।
(द० ७ : ५४)

इसी तरह जो भाषा सावद्य—पाप-कार्य की अनुमोदना करनेवाली हो, जो निश्चयात्मक हो, जो पर की घात करनेवाली हो, वैसी भाषा मुनि क्रोध से, लोभ से, भय से या हास-परिहास से न बोले।

१५. सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदि हवदि सुद्धा।। (भग० आ० ११६२)

अलीक आदि दोषों से रहित, अनवद्य वचन बोलनेवाले श्रमण के भाषा समिति होती है। श्रमण सत्य तथा न सत्य न असत्य (व्यवहार) भाषा बोलते हैं।

१६. सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए सयाण मज्झे लहई पसंसणं।।
(द० ७ : ५५)

जो मुनि वाक्य-शुद्धि की आलोचना कर दुष्टगिरा को सदा के लिए छोड़ देता है, और जो विचारकर मित और अदुष्ट भाषा बोलता है वह सत्पुरुषों में प्रशंसा प्राप्त करता है।

१७. भासाए दोसे य गुणे य जाणिया तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं।।
(द० ७ : ५६)

षट्काय के जीवों के प्रति संयत तथा श्रामण्य में सदा यतनाशील बुद्ध पुरुष भाषा के गुण और दोषों को भली भाँति जानकर दुष्ट भाषा को सदा के लिए छोड़ दे और हितकारी तथा आनुलोमिक—अनुकूल—सुमधुर भाषा बोले।

३. एषणा समिति

१८. कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च,
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी।। (नि० सा० ६३)

कृत, कारित और अनुमोदनरहित, प्रासुक प्रशस्त तथा दूसरे के द्वारा दिया गया भोजन समभावपूर्वक ग्रहण करना एषणा समिति है।

४. आदान समिति

१६. णाणुवहिं संजमुवहिं सौचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदि आदाणणिक्खेवा।। (मू० १४)

ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण, शौचोपकरण तथा अन्य उपकरणों का यत्नपूर्वक (देख-शोधकर) उठाना-रखना आदाननिक्षेपण समिति कही जाती है।

२०. चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा दुहओ वि समिए सया।। (उ० २४ : १४)

यतनाशील साधु औधिक और औपग्रहिक दोनों प्रकार के उपकरणों का आँखों से प्रतिलेखन कर प्रमार्जन करे तथा उनके उठाने और रखने में सदा समितियुक्त—सावधान हो।

२१. एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी।। (मू० १५)

एकान्त, जीवरहित, दूर, छिपे, विशाल और लोग जिसका विरोध न करें ऐसे स्थान में मूत्र-विष्ठा आदि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति कही जाती है।

५. उत्सर्ग समिति

२२. उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाणजल्लियं।
आहारं उवहिं देहं अन्नं वावि तहाविहं।। (उ० २४ : १५)
अणावायमसंलोए परस्सऽणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि अचिरकालकयंमि य।। (उ० २४ : १७)
वित्थिण्णे दूरमोगाढे नासन्ने बिलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए उच्चाराईणि वोसिरे।। (उ० २४ : १८)

उच्चार—मल, प्रस्रवण—मूत्र, खंखार,, नासिका का मैल, शरीर का मैल, आहार, उपधि, देह—शव तथा और इसी प्रकार की उत्सर्ग-योग्य वस्तुओं का मुनि उस स्थान में—जहाँ न कोई आता हो और जहाँ से न कोई दीखता हो, जहाँ दूसरे जीवों की घात न हो, जो प्रायः सम हो तथा जो पोला या दरारहित हो तथा जो कुछ काल से अचित्त हो, जो विस्तृत हो, काफी नीचे तक अचित्त हो, ग्रामादि से अति समीप न हो, मूषकादि के बिल तथा त्रस प्राणी और बीजों से रहित हो—उत्सर्ग करे।

२३. समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधिं तरदि।
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहिं अच्छित्तो।। (भग० आ० १८४१)

पाँच समिति रूप दृढ़ नाव पर चढ़कर अप्रमत्त पुरुष छः प्रकार के जीव-समूह की हिंसा आदि पाप रूप मगरमच्छ से अस्पृष्ट होता हुआ संसाररूपी समुद्र को पार करता है।

२४. एदाहिं सया जुत्तो समिदीहिं महिं विहरमाणोवि।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकाआडले साहू।।[1] (मू० ३२६)

इन पाँच समितियों से सदा युक्त साधु जीव-समूह से भरी हुई पृथ्वी में विहार करता हुआ भी हिंसादि पापों से लिप्त नहीं होता।

२५. पउमिणिपत्तं व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं।
तह समिदीहिं ण लिप्पदि साधू काएसु इरियंतो।।[2]
(मू० ३२७)

जिस प्रकार कमलिनी का पत्ता स्नेह-गुण युक्त होने के कारण जल से लिप्त नहीं होता, उसी तरह समितियों से युक्त पुरुष जीव-निकायों में विहार करता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता।

२६. सरवासेहि पडंतेहि जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं।
तह सतिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो।।[3] (मू० ३२८)

जिस प्रकार दृढ़ कवचधारी योद्धा वाणों की वर्षा होते हुए भी वाणों से विद्ध नहीं होता, उसी प्रकार समितियों से युक्त साधु जीव-समूह में विहार करता हुआ भी आस्रवों से लिप्त नहीं होता।

६. मनोगुप्ति

२७. कालुस्समोहसण्णा-रागद्दोसाइ-असुहभावणं।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं।। (नि० सा० ६६)

कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार को व्यवहार-नय से मनोगुप्ति कहा है।

२८. संरम्भसमारम्भे आरम्भे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई।। (उ० २४ : २१)

यतनाशील यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होते हुए मन को निवृत्त करे—हटाये।

---

१. भग० आ० १२००।
२. भग० आ० १२०१।
३. भग० आ० १२०२।

७. वचन गुप्ति

२९. थी-राज-चोर-भत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वयगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा।। (नि० सा० ६७)

पाप की हेतु स्त्री-कथा, राज-कथा, चोर-कथा और भोजन-कथा रूप वचनों का त्याग करना वचनगुप्ति है अथवा असत्य आदि दोषों से युक्त वचन न बोलना वचनगुप्ति है।

३०. संरम्भसमारम्भे आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई।। (उ० २४ : २३)

यतनाशील यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होते हुए वचन को निवृत्त करे—हटावे।

८. काय गुप्ति

३१. बंधण-छेदण-मारण-आकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति।। (नि० सा० ६८)

बाँधना, छेदना, मारना, संकोचना तथा फैलाना आदि काय-क्रियाओं से निवृत्ति कायगुप्ति कही गई है।

३२. ठाणे निसीयणे चेव तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे इन्दियाण य जुंजणे।। (उ० २४ : २४)
संरम्भसमारम्भे आरम्भम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई।। (उ० २४ : २५)

यतनाशील व्यक्ति ठहरने के विषय में, बैठने के विषय में, शयन के विषय में, उल्लंघन-प्रलंघन के विषय में तथा इन्द्रियों के प्रयोग में काया को संयम में रखे तथा संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होती हुई काया को निवृत्त करे—हटावे।

३३. जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती।। (मू० ३३२)

निश्चयनय से मन की जो रागादि से निवृत्ति है उसे ही मनोगुप्ति जानो—झूठ आदि से निवृत्ति अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति कहलाती है।

३४. कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि एसा।।[1] (मू० ३३३)

---

१. भग० आ० ११८८।

निश्चयनय से शरीर संबंधी चेष्टा की निवृत्ति अथवा कायोत्सर्ग या हिंसादि से निवृत्त होना कायगुप्ति कहलाती है।

३५. मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता।
खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो।। (मू० ३३१)

सावद्य-हिंसादि कार्यों से संयुक्त मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को शीघ्र ही दूर करता हुआ साधु तीन गुप्ति का धारक होता है।

३६. गुत्तिपरिखाइगुत्तं संजमणयरं य कम्मरिउसेणा।
बंधेइ सत्तुसेणा पुरं व परखादिहिं सुगुत्तं।। (भग० आ० १८४०)

गुप्तिरूपी परिखा से रक्षित संयमरूपी नगर को कर्मरूपी शत्रुओं की सेना उसी प्रकार नहीं बाँध सकती, जिस प्रकार परिखा आदि से सुरक्षित नगर को शत्रुओं की सेना।

३७. खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पापस्स णिरोही ताओ गुत्तीओ साहुस्स।।[1] (मू० ३३४)

जैसे खेत के लिए बाड़ तथा नगर के लिए खाई और परकोटा होता है उसी प्रकार पापों को रोकने के लिए गुप्तियाँ होती हैं।

३८. तम्हा तिविहेण तुमं णिच्चं मणवयणकायजोगेहिं।
होहिसु समाहिदमई णिरंतरं झाण सज्झाए।। (मू० ३३५)

इस कारण हे पुरुष ! तू कृत, कारित, अनुमोदन सहित मन, वचन और काया के योगों (प्रवृत्ति) से हमेशा ध्यान और स्वाध्याय में सावधानी से चित्त को लगा।

३९. एयाओ पंच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो।। (उ० २४ : २६)

उक्त पाँचों समितियाँ चरित्र की प्रवृत्ति के विषय में कही गई हैं और तीनों गुप्तियाँ सर्व प्रकार के अशुभ अर्थों (मनोयोगादि) से निवृत्ति के विषय में कही गई है।

४०. एया पवयणमाया जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पण्डिए।। (उ० २४ : २७)

जो मुनि इन प्रवचन-माताओं का सम्यक् भाव से आचरण करता है, वह पण्डित सर्व संसार-चक्र से शीघ्र ही छूट जाता है।

---

१. भग० आ० ११८६।

४. भिक्षाचर्या और आहार-विधि

१. सइ काले चरे भिक्खू कुज्जा पुरिसकारियं।
अलाभो त्ति न सोएज्जा तवो त्ति अहियासए।। (द० ५ (२) : ६)

भिक्षु भिक्षा का काल उपस्थित होने पर गोचरी के लिए जाय और यथोचित पुरुषार्थ करे। यदि भिक्षा न मिले तो शोक न करे किन्तु सहज ही तप हुआ—ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परीषह को सहन करे।

२. समुयाणं उंछमेसिज्जा जहासुत्तमणिन्दियं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे पिण्डवायं चरे मुणी।। (उ० ३५ : १६)

मुनि सूत्र के नियमानुसार निर्दोष और सामुदायिक उञ्छ की गवेषणा करे। वह लाभालाभ में संतुष्ट रहता हुआ भिक्षाचर्या करे।

३. कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता काले कालं समायरे।।[1] (उ० १ : ३१)

साधु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर वापस आ जाय। अकाल को टालकर नियत काल पर कार्य करे।

४. संपत्ते भिक्खकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण भत्तापाणं गवेसए।। (द० ५ (१) : १)

भिक्षा का काल प्राप्त होने पर साधु असंभ्रांत, उद्वेगरहित और आहारादि में मूर्च्छित न होता हुआ इस आगे बताई जाने वाली विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे।

५. एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं पिंडवायं गवेसए।। (उ० ६ : १६)

एषणा समिति से युक्त संयमशील साधु अनियमित रूप से ग्राम में विचरण करे और प्रमादरहित रह प्रमत्तों (गृहस्थों) से पिण्डपात (आहारादि) की गवेषणा करे।

६. से गामे वा नगरे वा गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा।। (द० ५ (१) : २)

गाँव में अथवा नगर में गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि उद्वेगरहित, शांतचित्त और मंद गति से चले।

---

१. द० ५ (२) : ४।

७. पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइं पाणे य दगमट्टियं।। (द० ५ (१) : ३)

मुनि सामने युग-प्रमाण (चार हाथ प्रमाण) पृथ्वी को देखता हुआ बीज, हरित-वनस्पति, प्राणी, जल तथा मिट्टी को टालता हुआ चले।

८. न चरेज्ज वासे वासंते महियाए व पडंतीए।
महावाए व वायंते तिरिच्छसंपाइमेसु वा।। (द० ५ (१) : ८)

वर्षा बरस रही हो, धूँअर—कुहरा गिर रहा हो, महावात—आँधी चल रही हो, पतंग-कीट आदि अनेक संपातिम जीव उड़ रहे हों, उस समय साधु बाहर न जावे।

९. अणुन्नए नावणए अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाणि जहाभागं दमइत्ता मुणी चरे।। (द० ५ (१) : १३)

मुनि न ऊपर की ओर मुँह कर और न नीचे की ओर ताकता हुआ चले। वह न हर्षित, न व्याकुल इन्द्रियों को यथाक्रम से दमन करता हुआ चले।

१०. दवदवस्स न गच्छेज्जा भासमाणो य गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा कुलं उच्चावयं सया।। (द० ५ (१) : १४)

गोचरी में निकला हुआ साधु दौड़ता हुआ न जाय और न हँसता हुआ तथा बोलता हुआ जाय, किन्तु हमेशा ऊँच-नीच कुल में ईर्यासमितिपूर्वक गोचरी जाय।

११. समुयाणं चरे भिक्खू कुलं उच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्म ऊसढं नाभिधारए।। (द० ५ (२) : २५)

भिक्षु सदा ऊँच और नीच—धनी और गरीब कुलों में सामुदायिक रूप से भिक्षा के लिए जावे। नीच—गरीब कुलों को लाँघकर उच्च—धनवान के घर पर न जावे।

१२. पडिकुट्ठकुलं न पविसे मामगं परिवज्जए।
अचियत्तकुलं न पविसे चियत्तं पविसे कुलं।। (द० ५ (१) : १७)

साधु शास्त्रनिषिद्ध कुल में गोचरी के लिए न जाय, स्वामी ने ना कर दी हो तो उस घर में न जाय तथा प्रीतिरहित कुल में प्रवेश न करे। वह प्रतीतिवाले घर में जाय।

१३. अदीणो वित्तिमेसेज्जा न विसीएज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोयणम्मि मायन्ने एसणारए।। (द० ५ (२) : २६)

आहार-पान की मात्रा को जाननेवाला और आहार की शुद्धि में तत्पर पंडित साधु-भोजन में गृद्धिभाव न रखता हुआ अदीनभाव से आहार आदि की गवेषणा करे। यदि आहारदि न मिले तो खेद न करे।

१४. असंसत्तं पलोएज्जा नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए नियट्टेज्ज अयंपिरो।। (द० ५ (१) : २३)

गोचरी के लिए गया हुआ साधु आसक्तिपूर्वक ने देखे, दूर तक लम्बी दृष्टि डालकर न देखे, उत्फुल्ल आँखों से न देखे। यदि भिक्षा की ना कहे तो बड़बड़ाहट न कर—चुपचाप वापस लौट आवे।

१५. नाइदूरमणासन्ने नन्नेसिं चक्खु-फासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा लंघिया तं नइक्कमे।। (उ० १ : ३३)

यदि गृहस्थ के घर में पहले से ही कोई भिक्षु भिक्षा के लिए खड़ा हो तो साधु न अति दूर न अति नजदीक एकान्त में ऐसे स्थान पर खड़ा रहे जहाँ दूसरों का दृष्टि-स्पर्श न हो। वह भिक्षा के लिए उपस्थित मनुष्य को उल्लंघन कर घर में प्रवेश न करे।

१६. अइभूमिं न गच्छेज्जा गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता मियं भूमिं परक्कमे।। (द० ५ (१) : २४)

गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि अतिभूमि में (गृहस्थ की मर्यादित भूमि से) आगे न जाय, किन्तु कुल की मर्यादित भूमि को जानकर सीमित भूमि में ही रहे।

१७. दममट्टियआयाणं बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा सव्विंदियसमाहिए।। (द० ५ (१) : २६)

सर्व इन्द्रियों को वश में रखता हुआ मुनि सचित्त जल और सचित्त मिट्टी लाने के मार्ग को तथा बीज और हरितकाय को टालकर यतनापूर्वक खड़ा रहे।

१८. पविसित्तु परागारं पाणट्ठा भोयणस्स वा।
जयं चिट्ठे मियं भासे ण य रुवेसु मणं करे।। (द० ८ : १६)

जल के लिए अथवा भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके साधु यतनापूर्वक खड़ा रहे, थोड़ा बोले, स्त्रियों के रूप में मन को न लगावे।

१९. तत्थ से चिट्ठमाणस्स आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं न इच्छेज्जा पडिगाहेज्ज कप्पियं।। (द० ५ (१) : २७)

वहाँ मर्यादित भूमि में खड़े हुए साधु को गृहस्थ आहार-पानी दे, वह काल्पनिक हो तो साधु उसे ग्रहण करे और अकाल्पनिक हो तो ग्रहण न करे।

२०. नाइउच्चे व नीए वा नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं पडिगाहेज्ज संजए।। (उ० १ : ३४)

गृहस्थ के घर में जाकर संयमी न अति ऊँचे से, न अति नीचे से, न अति समीप से और न अति दूर से प्रासुक (अचित्त) और परकृत (दूसरों के निमित्त बने हुए) पिण्ड (आहार) को ग्रहण करे।

२१. जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं।।
एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया।। (द० १ : २-३)

जिस प्रकार भ्रमर वृक्ष के फूलों से रस पीता हुआ भी उन्हें ग्लान नहीं करता और अपनी आत्मा को संतुष्ट कर लेता है, उसी प्रकार लोक में जो मुक्त—परिग्रहरहित श्रमण हैं वे दाता द्वारा दिए जानेवाले निर्दोष आहार की एषणा में रत होते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पों में।

२२. अतिंतिणे अचवले अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते थोवं लद्धुं न खिंसए।। (द० ८ : २६)

साधु तिनतिनाहट न करनेवाला, चपलतारहित, अल्पभाषी, मित आहार करनेवाला और उदर का दमन करनेवाला हो तथा थोड़ा आहार मिलने पर क्रोधित न हो।

२३. बहुं परघरे अत्थि विविहं खाइमसाइमं।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे इच्छा देज्ज परो न वा।। (द० ५ (२) : २७)

गृहस्थ के घर में अनेक प्रकार के बहुत से खाद्य-स्वाद्य पदार्थ होते हैं। यदि गृहस्थ साधु को न दे तो बुद्धिमान साधु उस पर कोप न करे, पर विचार करे। वह गृहस्थ है यह उसकी इच्छा है कि दे या न दे।

२४. दोण्हं तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा छंदं से पडिलेहए।। (द० ५ (१) : ३७)

गृहस्थ के घर दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों और उनमें से यदि एक व्यक्ति निमन्त्रण करे तो साधु लेने की इच्छा न करे। दूसरे के अभिप्रायः को देखे।

२५. गुव्विणीए उवन्नत्थं विविहं पाणभोयणं।
भुज्जमाणं विवज्जेज्जा भुत्तसेसं पडिच्छए।। (द० ५ (१) : ३६)

गर्भवती स्त्री द्वारा अपने लिए बनाया हुआ विविध आहार-पान यदि वह खा रही हो तो साधु उन्हें न ले किन्तु यदि उसके खा चुकने के पश्चात् कुछ बचा हो तो साधु उसे ग्रहण करे।

२६. सिया य समणट्ठाए गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिया वा निसीएज्जा निसन्ना वा पुणुट्ठए।। (द० ५ (१) : ४०)

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं।। (द० ५ (१) : ४१

यदि कदाचित् कालप्राप्त गर्भवती स्त्री खड़ी हो और साधु को आहारादि देने के लिए बैठे अथवा पहले बैठी हो और फिर खड़ी हो तो वह आहार-पानी साधु के लिए अकल्प्य होता है। अतः देनेवाली बाई से कहे—इस प्रकार दिया जाने वाला भक्त-पान लेना मुझे नहीं कल्पता।

२७. थणगं पिज्जेमाणी दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं आहरे पाणभोयणं।।
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाणं अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं।। (द० ५ (१) ४२-४३)

बालक को अथवा बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड़ भक्त-पान लाये तो वह आहार-पान साधु के लिए अकल्पनीय होता है। अतः उस देनेवाली स्त्री से साधु कहे—इस तरह का आहार मुझे नहीं कल्पता है।

२८. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा दाणट्ठा पगडं इमं।।
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाणं अकप्पियं।
देंतियं पढियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं।।(द० ५ (१) : ४७-४८)

जिस आहार, पान, खाद्य, स्वाद्य के विषय में साधु इस प्रकार जान ले अथवा सुन ले कि यह दान के लिए, पुण्य के लिए, याचकों के लिए तथा श्रमणों—भिक्षुओं के लिए बनाया गया है तो वह भक्त-पान साधु के लिए अकल्पनीय होता है। अतः साधु दाता से कहे—इस प्रकार का आहारादि मुझे नहीं कल्पता।

२९. कंदं मूलं पलंबं वा आमं छिन्नं व सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च आमगं परिवज्जए।। (द० ५ (१) : ७०)

कच्चा कंद—जमीकन्द, मूल, फल अथवा काटी हुई भी सचित्त पत्तों की भाजी, घीया और अदरक साधु न ले।

३०. न य भोयणम्मि गिद्धो चरे उंछं अयंपिरो।
अफासुयं न भुंजेज्जा कीयमुद्देसियाहडं।। (द० ८ : २३)

भोजन में गृद्ध न हो। साधु केवल सम्पन्न दाताओं के घर में ही भिक्षा के लिए न जाय। वाचालता-रहित होकर उंछ ले। अप्रासुक साधु के लिए क्रीत—खरीदा हुआ, औद्देशिक साधु के लिए बनाया हुआ तथा आहृत—साधु के लिए सामने लाया हुआ आहार ग्रहण न करे। यदि कदाचित् भूल से ग्रहण कर ले तो उसे न भोगे।

३१. बहुं सुणेइ कण्णेहिं बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ।। (द० ८ : २०)

साधु कानों से बहुत बातें सुनता है, आँखों से बहुत बातें देखता है, परंतु देखी हुई, सुनी हुई सारी बातें किसी से कहना साधु के लिए उचित नहीं है।

३२. निट्ठाणं रसनिज्जूढं भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा लाभालाभं न निद्दिसे।। (द० ८ : २२)

किसी के पूछने पर अथवा बिना पूछे यह आहार सरस है, यह नीरस है,, यह अच्छा है, यह बुरा है—ऐसा न कहे। साधु लाभालाभ की चर्चा न करे।

३३. विणएण पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय आगओ य पडिक्कमे।। (द० ५ (१) : ८८)

भिक्षा से वापिस आने पर मुनि विनयपूर्वक अपने स्थान में प्रवेश करे और गुरु के पास आकर ईर्यावही सूत्र को पढ़कर प्रतिक्रमण करे।

३४. आभोएत्ताण नीसेसं अइयारं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव भत्तपाणे व संजए।। (द० ५ (१) : ८६)
उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे जं जहा गहियं भवे।। (द० ३ (१) : ६०)

आने-जाने में और आहारादि ग्रहण करने में लगे हुए सब अतिचारों को तथा जो आहार-पानी जिस प्रकार से ग्रहण किया हो उसे यथाक्रम से उपयोगपूर्वक याद कर वह सरल बुद्धिवाला मुनि उद्वेग-रहित एकाग्र चित्त से गुरु के पास आलोचना करे।

३५. अहो जिणेहिं असावज्जा वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा।। (द० ५ (१) : ६२)

कायोत्सर्ग में स्थित मुनि इस प्रकार विचार करे कि अहो ! जिन भगवान ने मोक्ष-प्राप्ति के साधनभूत साधु के शरीर को धारण करने के लिए कैसी निर्दोष भिक्षावृत्ति का उपदेश किया है।

३६. नमोक्कारेण पारेत्ता करेत्ता जिणसंथवं।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं वीसमेज्ज खणं मुणी।। (द० ५ (१) : ६३)

मुनि 'णमो अरिहंताणं' पाठ के उच्चारण द्वारा कायोत्सर्ग को पूरा कर, जिन-स्तुति करके स्वाध्याय करता हुआ कुछ समय के लिए विश्राम करे।

३७. वीसमंतो इमं चिंते हियमट्ठं लाभमट्ठिओ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू होज्जामि तारिओ।। (द० ५ (१) : ६४)

निर्जरारूपी लाभ का इच्छुक साधु विश्राम करता हुआ अपने कल्याण के लिए इस प्रकार चिंतन करे कि यदि कोई साधु मुझ पर अनुग्रह करे—मेरे आहार में से कुछ आहार ग्रहण करे तो मैं धन्य हो जाऊं—मानूँ कि उन्होंने मुझे संसार-समुद्र से पार कर दिया।

३८. साहवो तो चियत्तेणं निमंतेज्ज जहक्कमं।
जेइ तत्थ केइ इच्छेज्जा तेहिं सद्धिं तु भुंजए।। (द० ५ (१) : ६५)

इस प्रकार विचार कर मुनि सब साधुओं को प्रीतिपूर्वक यथाक्रम से निमंत्रित करे। यदि उनमें से कोई साधु आहार करना चाहे तो उनके साथ आहार करे।

३९. अह कोइ न इच्छेज्जा तओ भुंजेज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू जयं अप्परिसाडयं।। (द० ५ (१) : ६६)

इस प्रकार निमंत्रित करने पर यदि कोई साधु आहार लेना न चाहे तो फिर वह साधु अकेला ही चौड़े मुखवाले प्रकाशमय पात्र में नीचे नहीं गिराता हुआ यतनापूर्वक आहार करे।

४०. तित्तगं व कडुयं व कसायं अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एय लद्धमन्नट्ठ-पउत्तं महु-घयं व भुंजेज्ज संजए।।
(द० ५ (१) : ६७)

गृहस्थ के लिए बना हुआ तथा शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त वह आहार तिक्त या कडुवा, कसैला या खट्टा, मीठा या नमकीन—चाहे जैसा भी हो, साधु उस को मधु-घृत की तरह प्रसन्नतापूर्वक खाए।

४१. अलोले न रसे गिद्धे जिब्भादन्ते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा जवणट्ठाए महामुणी।। (उ० ३५ : १७)

लोलुपतारहित, रस में गृद्धिरहित, जिह्वा-इन्द्रिय को दमन करनेवाला और आहार की मूर्च्छा से रहित महामुनि रस के लिए—स्वाद के लिए—आहार न करे, परंतु संयम के निर्वाह के लिए ही आहार करे।

४२. अरसं विरसं वा वि सूइयं वा असूइयं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं मन्थु-कुम्मास-भोयणं।।
उप्पण्णं नाइहीलेज्जा अप्पं पि बहु फासुयं।
मुहालद्धं मुहाजीवी भुंजेज्जा दोषवज्जियं।।(द० ५ (१) : ६८-६९)

मुधाजीवी साधु शास्त्रोक्त विधि से प्राप्त आहार की—चाहे वह रसरहित हो या विरस, बघार-छौंक दिया हुआ हो अथवा बघाररहित, गीला हो अथवा सूखा, मंथु का हो या कुल्माष का, थोड़ा हो या अधिक—निन्दा न करे। संयत साधु मुधालब्ध—दाता द्वारा विशद्ध रूप से दिए हुए दोषवर्जित, अल्प या बहुत प्रासुक आहार का केवल संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए भोजन करे।

४३. सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुच्छिने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठेत्ति सावज्जं वज्जए मुणी।। (उ० १ : ३६)

मुनि भोजन करते समय ऐसे सावद्य वचन न कहे कि यह अच्छा बनाया हुआ है, अच्छा पकाया हुआ है, अच्छा काटा हुआ है, इसका कड़वापन अच्छी तरह दूर किया हुआ है, यह अच्छा मरा हुआ है—घी में अच्छा चुरा हुआ है, यह अच्छे मसालों से बना हुआ है या मनोहर है।

४४. पडिग्गह संलिहित्ताणं लेव-मायाए संजए।
दुगंधं वा सुगंधं वा सव्वं भुंजे न छड्डुए।। (द० ५ (२) : १)

संयत साधु लेपमात्र को भी—चाहे वह दुर्गन्धयुक्त हो अथवा सुगंधयुक्त—पात्र को अंगुली से पोंछकर सब खा जाए और कुछ जूठा न छोड़े।

४५. दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी बि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सोग्गई।। (द० ५ (१) : १००)

मुधादायी निश्चय ही दुर्लभ है और इसी तरह मुधजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों ही सुगति को जाते हैं।

५. परिपूर्ण श्रामण्य

१. इह लोग णिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो।। (प्रव० ३ : २६)

श्रमण मान-सम्मान आदि रूप इस लोक की इच्छाओं से रहित होता है, परलोक में सुख की कामना से बँधा हुआ नहीं होता। उसका आहार-विहार युक्त होता है और वह कषाय-रहित होता है।

२. केवलदेहो समणो देहेवि ममत्तरहियपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं।। (प्रव० ३ : २८)

श्रमण के केवल शरीर ही का परिग्रह होता है और शरीर में भी ममत्व.रहित होता है तथा उसे अपनी शक्ति को छिपाये बिना तप से लगाये रखता है।

३. बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदि सजोग्गं मूलच्छेदो जथा ण हवदि।।(प्रव० ३ : ३०)

श्रमण बालक हो या वृद्ध अथवा श्रम से थका हुआ हो या रोगी हो, उसे अपनी चर्या का पालन इस प्रकार करना चाहिए जिससे मूल संयम का छेद न हो।

४. एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।। (प्रव० ३ : ३२)

श्रमण एकाग्रचित्त होता है और एकाग्रचित्त वही होता है जिसे अर्थों का निश्चय होता है तथा अर्थों का निश्चय आगम से होता है, इसलिए आगम का अभ्यास करना ही श्रमण का प्रमुख कर्त्तव्य है।

५. आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किह समणो।। (प्रव० ३ : ३६)

'इस लोक में जिसके शास्त्रज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसके संयम भी नहीं होता' ऐसा आगम कहता है; और, जो असंयमी है वह श्रमण कैसे हो सकता है?

६. समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खोपसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।। (प्रव० ३ : ४१)

जो शत्रु और बंधुवर्ग में सम है, सुख और दुःख में सम है, निन्दा और प्रशंसा में सम है, मिट्टी के ढेले और सुवर्ण में सम है तथा जीवन और मरण में सम है वही श्रमण है।

७. दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं।। (प्रव० ३ : ४२)

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में एक साथ उपस्थित है वह एकाग्रचित्त माना गया है। जो इस तरह एकाग्रचित्त है उसी का श्रामण्य परिपूर्ण है।

८. मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं।।(प्रव० ३:४३)

यदि श्रमण परद्रव्य को लेकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है।

९. अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि।।
(प्रव० ३ : ४४)

यदि श्रमण पर-पदार्थों में मोह नहीं करता, राग नहीं करता और न द्वेष करता हे, तो वह निश्चिय रूप से अनेक कर्मों का क्षय करता है।

१०. उपरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स।। (प्रव० ३ : ५६)

जो पुरुष पाप से विरत है, सब धार्मिकों में समभाव रखता है और गुणों के समूह का सेवक है, वह सुमार्ग का—मोक्ष-मार्ग का भागी होता हैं

११. गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो दु होमि समणोत्ति।
होज्जं गुणधरो जदि स होदि अणंतसंसारी।।
(प्रव० ३ : ६६)

जो स्वयं गुणों से हीन होता हुआ भी 'मैं भी श्रमण हूँ' इस अभिमान से गुणों में अधिक अन्य तपस्वियों से अपना विनय कराना चाहता है वह अनन्त सागर में भ्रमण करता है।

१२. अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छपउत्ता हवंति पब्भट्टचारित्ता।। (प्रव० ३ : ६७)

चरित्र से अधिक गुणवाले श्रमण यदि गुणहीन श्रमणों के साथ बन्दना आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं, तो वे मिथ्यात्व से युक्त होते हुए चरित्रभ्रष्ट हो जाते हैं।

१३. णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तओधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।।(प्रव० ३:६८)

जो आत्मा आदि पदार्थों का कथन करनेवाले सूत्रार्थ पदों का ज्ञाता है और जिसका क्रोधादि कषाय शांत है तथा जो विशिष्ट तपस्वी भी है, फिर भी यदि यह लौकिक जनों की संगति नहीं छोड़ता है तो वह संयमी नहीं हो सकता।

१४. णिग्गंथो पव्वयिदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगोत्ति भणिदो संजमतवसंजुदो चावि।। (प्रव० ३ : ६६)

निर्ग्रन्थ और प्रव्रजित पुरुष संयम और तप से युक्त होने पर भी यदि इस लोक-संबंधी कामों को करता है, तो उसे लौकिक कहा है।

१५. तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं।।(प्रव० ३:७०)

अतः यदि श्रमण दुःख से छूटना चाहता है तो उसे सदा अपने समान गुणवाले अथवा अपने से अधिक गुणवाले श्रमण के समीप रहना चाहिए।

: ३३ :

विनय-प्रतिपत्ति

१. आचार्य सुश्रूषा

१. लज्जा दया संजम बंभचेरं कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति ते हं गुरू सययं पूययामि।।
(द० ६ (१) : १३)

लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याणभागी साधु के लिए विशाधिस्थल हैं। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते हैं, उनकी मैं सतत पूजा करता हूँ।

२. जहा निसंते तवणच्चिमाली पभासई केवलभारह तु।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए विरायई सुरमज्झे व इंदो।।
(द० ६ (१) : १४)

जैसे दिन में प्रदीप्त हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारत (भारत-क्षेत्र) को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करता है और जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच आचार्य सुशोभित होता है।

३. जहा ससी कोमुईजोगजुत्तो नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे।।
(द० ६ (१) : १५)

जिस प्रकार मेघयुक्त विमल आकाश में नक्षत्र और तारागण से परिवृत, कार्तिक-पूर्णिमा में उदित चन्द्रमा शोभित होता है,, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी (आचार्य) शोभित होता है।

४. सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे से पावई सिद्धिमणुत्तरं।।
(द० ६ (१) : १७)

मेघावी मुनि इन सुभाषितों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणों की आराधना कर अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त करता है।

५. सग-पर-समयविदण्हू आगमदहेदूहिं चावि जाणित्ता।
सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरूवेण।।
(दश० भ० ६ : २)

आचार्य स्व-दर्शन एवं पर-दर्शन के जानकार, आगम और युक्तियों से पदार्थों को जाननेवाले, जिन भगवान के द्वारा कहे गए तत्त्वों का निरूपण करने में पूरे समर्थ तथा प्राणियों की शक्ति के अनुसार विनय की प्ररूपणा करने वाले होते हैं।

६. बाल-गुरु-वुड्ढ-सेहे गिलाणथेरे य खमणसंजुत्ता।
वट्टावयगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता।।
(दश० भ० ६ : ३)

बालक, गुरु, वृद्ध, शैक्ष्य, रोगी और स्थविर मुनियों के विषय में आचार्य क्षमाशील होते हैं। वे अन्य शिष्यों को दुःशील जानकर उन्हें सन्मार्ग में लगाते हैं।

७. उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो।।
(दश० भ० ६ : ५)

उत्तम क्षमा में वे पृथ्वी के समान क्षमाशील होते हैं। निर्मल परिणामों के कारण स्वच्छ जल के समान होते हैं। कर्मरूपी ईंधन को जलाने के कारण अग्नि के तुल्य है और सब प्रकार के परिग्रह से रहित होने से वायु की तरह निस्संग होते हैं।

८. अविसुद्धलेस्सरहिया विसुद्धलेस्साहि परिणदा सुद्धा।
रुद्दट्टे पुण चत्ता धम्मे सुक्के य संजुत्त।।
(दश० भ० ६ : ८)

आचार्य कृष्ण, नील और कापोत नामक अप्रशस्त लेश्याओ से रहित होते हैं और पीत, पद्म, शुक्ल नामक विशुद्ध लेश्याओं से युक्त, आर्त और रौद्र ध्यान से त्यागी और धर्म तथा शुक्ल ध्यान से युक्त होते हैं।

९. गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरु व्व मुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो।।
(दश० भ० ६ : ६)

मुनियों में श्रेष्ठ वे आचार्य आकाश की तरह निर्लेप और सागर की तरह क्षोभरहित गम्भीर होते हैं। मैं शुद्ध मन से इस प्रकार के गुणों के घर आचार्य परमेष्ठी के चरणों में नमस्कार करता हूँ।

२. विनय-संहिता

१. सुस्सूसमाणो उवासेज्जा सुप्पण्णं सुतवस्सियं।
वीरा जे अत्तपण्णेसी धितिमंता जिइंदिया।। (सू० १, ६ : ३३)

मुमुक्षु, पुरुष, प्रज्ञावान, तपस्वी, पुरुषार्थी, आत्म-ज्ञानी, धृतिमान और जितेन्द्रिय गुरु की शुश्रूषापूर्वक उपासना—सेवा करे।

२. जहाहियग्गी जलणं नमंसे नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा अमंतनाणोवगओ वि संतो।।
(द० ६ (१) : ११)

अग्निहोत्री ब्राह्मण जिस तरह नाना प्रकार की आहुतियों और मंत्र-पदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, उसी तरह अनन्त ज्ञानी होने पर भी शिष्य गुरु की विनय-पूर्वक सेवा करे।

३. जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं।।
(द० ६ (१) : १२)

जिसके समीप धर्म-पदों को सीखता हो उसके प्रति विनय रखना चाहिए तथा हमेशा सिर का नमा, हाथ जोड़, मन-वचन-काया से उसका सत्कार करना चाहिए।

४. मणोगयं वक्कगयं जाणित्तायरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए।। (उ० १ : ४३)

आचार्य के मन, वचन (और काया) गत भावों को समझकर, वचन द्वारा उन्हें स्वीकार कर शरीर द्वारा उन्हें पूरा करना चाहिए।

५. वित्ते अचोइए निच्चं खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं किच्चाइं कुव्वई सया।। (उ० १ : ४४)

विनय से प्रख्यात शिष्य बिना प्रेरणा किया हुआ ही नित्य प्रेरणा किये हुए की तरह शीघ्र कार्यकारी होता है और गुरू के उपदेश के अनुसार ही सदा कार्यों को अच्छी तरह करता है।

६. आलवन्ते लवन्ते वा न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो जओ जत्तं पडिस्सुणे।। (उ० १ : २१)

गुरु एक बार बुलाए अथवा बार-बार, शिष्य कदाचित् भी बैठा न रहे, किन्तु धीर शिष्य आसन छोड़कर यत्न के साथ गुरु के वचन को सुने।

७. आयरिएहिं वाहिंतो तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसाय-पेही नियागट्ठी उवचिट्ठे गुरुं सया।। (उ० १ : २०)

आचार्यों के द्वारा बुलाया हुआ शिष्य कदाचित् भी मौन का अवलम्बन न करे; किन्तु गुरु-कृपा और मोक्ष का अभिलाषी शिष्य सदा उनके समीप रहे।

८. आसण-गओ न पुच्छेज्जा नेव सेज्जा-गओ कया।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो पुच्छेज्जा पंजलीउडो।। (उ० १ : २२)

साधु गुरु के आसन पर बैठे-बैठे कदाचित् भी कोई बात न पूछे तथा शय्या पर बैठा हुआ भी कभी न पूछे। समीप आ, उत्कुटुक आसन में हो बद्धांजलिपूर्वक जो पूछना हो सो पूछे।

९. न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं सयणे नो पडिस्सुणे[1]।। (उ० १ : १८)

आचार्यों के बराबर न बैठे, आगे न बैठे, पीछे न बैठे, उनकी उरु से उरु सटाकर न बैठें, और शय्या पर बैठे-बैठे ही उनके वचन को ग्रहण न करे—न सुनें।

१०. नेव पल्हत्थियं कुज्जा पक्खपिंण्डं व संजए।
पाए पसारिए वावि न चिट्ठे गुरुणंतिए।। (उ० १ : १९)

विनीत शिष्य गुरु के समीप पल्हत्थी मार कर न बैठे, अपनी दोनों भुजाओं को जांघों पर रखकर न बैठे, उनके समाने पाँव पसार कर न बैठे तथा और भी अविनयसूचक आस-नादि से गुरु के निकट न बैठे।

११. आसणे उवचिट्ठेज्जा अणुच्चे अकुए थिरे।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई निसीएज्जप्पकुक्कुए।। (उ० १ : ३०)

शिष्य चांचल्यरहित होकर ऐसे आसन पर बैठे जो गुरु से ऊँचा न हो, स्थिर हो, शब्द न करता हो और उक्त प्रकार के आसन पर बैठा हुआ बिना प्रयोजन न उठे तथा प्रयोजन होने पर भी थोड़ा उठे। चपलता न करे।

१२. हत्थं पायं च कायं च पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए सगासे गुरुणो मुणी।। (द० ८ : ४४)

जितेन्द्रिय मुनि गुरु के समक्ष हाथ, पाँव और शरीर को संयमित कर, आलीनगुप्त हो बैठे।

---

१. मिलावें द० ८।४५ :।
न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य उरुं समासेज्जा चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए।।

१३. नीयं सेज्ज गइं ठाण नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदेज्जा नीयं कुज्जा य अंजलिं।। (द० ६ (२) : १७)

विनयी शिष्य अपनी शय्या, स्थान और आसन गुरु से नीचे रखे। चलते समय गुरु से पीछे, धीमी चाल से चले। नीचा झुककर पैरों में वंदना करे और नीचा होकर अञ्जलि करे।

१४. विणयं पि जो उवाएणं चोइयो कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमेज्जंतिं दंडेण पडिसेहए।। (द० ६ (२) : ४)

मधुरतापूर्वक विविध उपाय से विनय में प्रेरित किये जाने पर जो मनुष्य कुपित हो जाता है, वह घर आती हुई दिव्य लक्ष्मी को मानो दण्डों की मार से भगाता है।

१५. संघट्टइत्ता काएणं तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे वएज्ज न पुणो त्ति य।। (द० ६ (२) : १८)

अपनी काया से अथवा उपधि से या और किसी प्रकार से आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—"आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं पुनः ऐसा नहीं करूँगा।"

१६. जं मे बुद्धाणुसासन्ति सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए पयओ तं पडिस्सुणे।। (उ० १ : २७)

ये जो बुद्ध पुरुष मुझे कोमल अथवा कठोर वाक्यों से अनुशासित करते हैं—यह मेरे लाभ के लिए ही है—इस प्रकार से विचार करता हुआ मुमुक्षु पुरुष प्रयत्नपूर्वक उनकी शिक्षा को ग्रहण करे।

१७. न कोवए आयरियं अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया न सिया तोत्तगवेसए।। (उ० १ : ४०)

शिष्य आचार्य को कुपित न करे, न अपने को कुपित करे। ज्ञानी पुरुषों की घात करनेवाला न हो और न केवल छिद्र देखनेवाला ही हो।

१८. आयरियं कुवियं नच्चा पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंचलिउडो वएज्ज न पुणो त्ति य।। (उ० १ : ४१)

आचार्य को कुपित हुआ जानकर प्रतीतिकारक वचनों से उन्हें प्रसन्न कर उनकी क्रोधाग्नि को शांत करे और दोनों हाथ जोड़कर कहे कि मैं आगे ऐसा न करूँगा।

१९. जे आयरियउवज्झायाणं सुस्सूसावयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति जलसिता इव पावया।। (द० ६ (२) : १२)

जो शिष्य आचार्य और उपाध्याय की सेवा करता है और उसकी आज्ञानुसार चलता है, उसकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार जल से सींचे हुए वृक्ष।

२०. थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ।।
(द० ६ (१) : १)

गर्व, क्रोध, माया और प्रमाद के कारण जो गुरु के पास रहकर विनय नहीं सीखता, उसकी यह कमी उसी के पतन के लिए होती है, जिस तरह बाँस का फल उसी के नाश के लिए होता है।

२१. जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।।
(द० ६ (२) : २२)

जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है, जो पिशुन है, जो साहसिक है, जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नहीं करता, जो अदृष्ट (अज्ञात) धर्मा है, जो विनय में अकोविद है, जो असंविभागी है उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

२२. निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय।।
(द० ६ (२) : २३)

और जो गुरु के आज्ञाकारी हैं, जो गीतार्थ हैं, जो विनय में कोविद हैं, वे इस दुस्तर संसार-समुद्र को तिर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

३. गुरु-विनय और पूज्यता

१. आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा।
आलोइयं इंगिवमेव नच्चा जो छंदमाराहयइ स पुज्जो।।
(द० ६, (३) : १)

जैसे अहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है तथा जो आचार्य के आलोकित और इंगित को जानकर उसके अभिप्राय की आराधना करता है, वह पूज्य है।

२. आयारमट्ठा विणयं पउंजे सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो गुरुं तु नासाययई स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : २)

जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उसके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है और जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है।

३. राइणिएसु विणयं पउंजे डहरा वि य जे परियायजेट्ठा।
नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : ३)

जो अल्पवयस्क होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ है—उन पूजनीय साधुओं के प्रति विनय का प्रयोग करता हैं, जो नम्र व्यवहार करता है, जो सत्यवादी है, जो गुरु के समीप रहनेवाला है और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है।

४. अवण्णवायं च परम्मुहस्स पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : ६)

जो पीछे से अवर्णवाद नहीं बोलता, जो सामने विरोधी वचन नहीं कहता, जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता, वह पूज्य है।

५. जे माणिया सययं माणयंति जत्तेण कन्नं व निवेसयंति।
ते माणए माणरिहे तवस्सी जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो।।
(द० ६ (३) : १३)

अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मानित किये जाने पर जो शिष्यों को सतत सम्मानित करते हैं—श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है।

६. गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी जिणमयनिउणे अभिगमकुसले।
धुणिय रयमलं पुरेकडं भासुरमउलं गइं गय।।
(द० ६ (३) : १५)

इस लोक में गुरु की सतत सेवा कर, जिनमत-निपुण (आगम-निपुण) और अभिगम विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल शिष्य पूर्व संचित रज और मल को कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है।

४. आशातना और दुष्परिणाम

१. जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा करेंति आसायण ते गुरूणं।।
(द० ६ (१) : २)

जो मुनि गुरु को—मंद (बुद्धि) है, यह अल्पवयसक और अल्पश्रुत है—ऐसा जानकर उसके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उसकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशा-तना करते हैं।

२. जे यावि नागं डहरं ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ।
एवायरियं पि हु हीलयंतो नियच्छई जाइपहं खु मंदे।।
(द० ६ (१) : ४)

जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जजानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है। इसी तरह अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करनेवाला मंद संसार में परिभ्रमण करता है।

३. आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा।
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो।।
(द० ६ (१) : ५)

आशीविष सर्प अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी जीवन-नाश से अधिक क्या (अहित) कर सकता है? परन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि करते हैं। अतः गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता।

४. जो पावगं जलियमवक्कमेजा आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी एसोवमासायणया गुरूणं।।
(द० ६ (१) : ६)

कोई जलती अग्नि को लाँघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—ये जिस प्रकार हित के लिए नहीं होते, उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नहीं होती।

५. सिया हु वे पावय नो उहेज्जा आसीविसो वा कुविओ न भक्खे।
सियाविसं हालहलं न मारे न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए।।
(द० ६ (१) : ७)

संभव है कदाचित् अग्नि न जलाए, संभव है आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न खाए और यह भी संभव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष संभव नहीं है।

६. जो पव्वगं सिरसा भुत्तुमिच्छे सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा।
जो वा दए सत्तअग्गे पहारं एसोवमासायणया गुरूणं।।
(द० ६ (१) : ८)

कोई शिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिंह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है, यही उपमा गुरु की आशातना करनेवाले के प्रति लागू होती है।

७. सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे।
सिया न भिंदेज्ज व सत्तिअग्गं न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए।।
(द० ६ (१) : ६)

संभव है,, कदाचित् सिर से पर्वत को भी भेद डाले; संभव है, सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी संभव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अवहेलना से मोक्ष संभव नहीं है।।

८. आयरिय पाया पुण अप्पसन्ना अवोहिआसायण नत्थि मोक्खो।
तम्हा अणाबाह सुहाभिकंखी गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा।।
(द० ६ (१) : १०)

आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि.लाभ नहीं होता—गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता, इसलिए मोक्ष-सुख चाहनेवाला मुनि गुरु कृपा के लिए तत्पर रहे।

९. महागरा आयरिया महेसी समाहिजोगे सुयसीलबुद्धिए।
संपाविउकामे अणुत्तराइं आराहए तोसए धम्मकामी।।
(द० ६ (१) : १६)

अनुत्तर ज्ञान आदि गुणों की सम्प्राप्ति की इच्छा रखनेवाला मुनि निर्जरा का अर्थी होकर समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर, मोक्ष की एषणा करनेवाले आचार्य की आराधना करे और उन्हें प्रसन्न करे।

: ३४ :

उपसर्ग और समाधि

१. परीषह

१. छुहा तण्हा य सीउण्हं दंसमसगवेयणा।
अक्कोसा दुक्ख सेज्जा य तणफासा जल्लमेव य।।
तालणा तज्जणा चेव वहबंधपरीसहा।
दुक्खं भिक्खायरिया जायणा य अलाभया।। (उ० १६ : ३१-३२)

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस और मच्छर का कष्ट, आक्रोश—कटुवचन, दुःखद-शय्या, तृणस्पर्श, मैल, ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन, भिक्षाचर्या, याचना और अलाभ—ये सब परीषह दुःसह हैं।

१. क्षुधा परीषह

२. दिगिंछा-परिगए देहे तवस्सी भिक्खु थामवं।
न छिंदे न छिंदावए न पए न पयावए।।
काली-पव्वंग-संकासे किसे धमणि-संतए।
मायन्ने असण-पाणस्स अदीण-मणसो चरे।। (उ० २ : २-३)

शरीर में क्षुधा व्याप्त हो जाय, बाहु, जंघा आदि अंग काक-जंघा नामक तृण की तरह पतले—कृश—हो जाएँ[1] और शरीर नसों से व्याप्त दीखने लगे तो भी आहार-पान के प्रमाण को जाननेवाला भिक्षु मनोबल रखे और अदीन भाव से संयम का पालन करे। वह स्वयं फलादि का छेदन न करे, न दूसरों से करावे। न स्वयं अन्नादि पकावे, न दूसरों से पकवावे।

२. तृषापरीषह

३. तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्ज.संजए।
सोओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे।।

---

१. परीषह २२ माने जाते हैं। देखिये उत्त० अ० २। निम्न परीषह उपर्युक्त गाथाओं में नहीं आये हैं—अचेलक परीषह, अरति परीषह, स्त्री परीषह, नैषेधिकी परीषह, रोग परीषह, सत्कार पुरस्कार परीषह, प्रज्ञापरीषह, अज्ञान परीषह और दर्शन परीषह। इन गाथाओं में आए ताड़न, तर्जन और बन्धन नामक परीषह उत्त० अ० २ में बताये गये २२ परीषह के उपरांत हैं। वैसे वे वध-परीषह के अन्तर्गत आ सकते हैं।

छिन्नावाएसु पन्थेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहेऽदीणे तं तितिक्खे परीसहं।। (उ० २ : ४-५)

निर्जन पथ में अत्यन्त तृषा से आतुर—व्याकुल—हो जाने और जिह्वा के सूख जाने पर भी भिक्षु प्यास परीषह को अदीन मन से सहन करे। ऐसी तृषा से स्पष्ट होने पर भी अनाचार से घृणा करनेवाला लज्जाशील संयत भिक्षु शीतोदकका सेवन न करे। विकृत—अचित्त—जल की गवेषणा करे।

३-४. शीत-उष्ण परीषह

४. न मे निवारणं अत्थि छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि इइ भिक्खू न चिंतए।।
उसिण-परियावेणं परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेणं सायं नो परिदेवए।।
उण्हाहित्ते मेहावी सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं।। (उ० २ : ७-६)

शीत निवारण के लिए मेरे घरादि नहीं तथा शरीर के त्राण के लिए वस्त्रादि नहीं, अतः मैं अग्नि का सेवन करूँ—भिक्षु ऐसा कभी भी न सोचे।

ग्रीष्म ऋतु, बालू आदि उष्ण पदार्थों के परिताप, अन्तरदाह और सूर्य के आताप द्वारा तर्जित साधु, मुझे वायु आदि का सुख कब होगा, ऐसी इच्छा न करे।

गर्मी से परितप्त होने पर भी मेधावी भिक्षु स्नान की इच्छा न करे। शरीर को जलादि से न सींचे—और न पंखा आदि से शरीर पर हवा ले।

५. दंश-मशक परीषह

५. पुट्ठो य दंसमसएहिं समरेव महामुणी।
नागो संगाम-सीसे वा सूरो अभिहणे परं।।
न संतसे न वारेज्जा मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे भुंजंते मंस-सोणियं।। (उ० २ : १०-११)

डाँस और मच्छरों द्वारा स्पृष्ट होने—पीड़ित किए जाने—पर भी महामुनि समभाव रखे। संग्राम के मोर्चे पर जिस तरह नाग शत्रु का हनन करता है, उसी तरह शूरवीर साधु राग-द्वेषरूपी शत्रु का हनन करे।

मुनि डाँस, मच्छर आदि को भय उत्पन्न न करे, उन्हें दूर न हटावे और न मन में भी उनके प्रति द्वेष-भाव आने दे। मांस और शोणित को खा रहे हों तो भी उपेक्षा करे और उन्हें न मारे।

६. आक्रोश परीषह

१२. अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले।।
सोच्चाणं फरुसा भासा दारुणा गाम-कण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा न ताओ मणसीकरे।। (उ० २ : २४-२५)

दूसरों से दुर्वचन द्वारा आक्रोश (तिरस्कार) किए जाने पर भिक्षु उन पर कोप न करे। कोप करने से भिक्षु भी उस मूर्ख के समान हो जाता है; अतः भिक्षु प्रज्ज्वलित (कुपित) न हो।

भिक्षु कानों में काँटों के समान चुभनेवाली प्रतिकूल, दारुण ओर अत्यन्त रूक्ष भाषा को सुनने पर मौन रह उपेक्षा करे और उसे मन में स्थान न दे।

७. दुःख शय्या परीषह

७. उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्नेज्जा पावदिट्ठी विहन्नई।।
पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं कल्लाणं अदु पावगं।
किमेगरायं करिस्सइ एवं तत्थऽहियासए।। (उ० २ : २२-२३)

तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु अच्छे-बुरे स्थान के मिलने पर उसे सह ले। समभाव-रूपी मर्यादा का उल्लंघन कर संयम का घात न करे। पापदृष्टि भिक्षु संयमरूपी मर्यादा का उल्लंघन कर देता है।

अच्छे हों या बुरे रिक्त उपाश्रय को पाकर भिक्षु यह विचार करता हुआ कि एक रात में यह मेरा क्या कर लेगा, उसे समभाव से सहन करे।

८. तृण-स्पर्श परीषह

८. अचेलगस्स लूहस्स संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स हुज्जा गाय-विराहणा।।
आयवस्स निवाएण अउला हवइ वेयणा।
एवं नच्चा न सेवंति तंतुजं तण-तज्जिया।। (उ० २ : ३४-३५)

अचेलक—निर्वस्त्र और रूक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी के घास पर सोने से गात्र-विराधना—शरीर में व्यथा होती है। धूप पड़ने से अतुल वेदना होती है। यह जानकर भी तृण-स्पर्श से व्यथित मुनि वस्त्र का सेवन नहीं करते।

६. जल्ल परीषह

६. किलिन्नगाए मेहावी पंकेण व रएण वा।
धिंसु वा परितावेण सायं नो परिदेवए।।
वेएज्ज निज्जरापेही आरियं धम्मऽणुत्तरं।
जाव सरीरभेउ त्ति जल्लं काएण धारए।। (उ० २ : ३६-३७)

ग्रीष्मादि में अति गर्मी से पसीने के कारण शरीर मैल अथवा रज से लिप्त हो जाय तो भी मेधावी साधु सुख के लिए दीनभाव न लावे। सर्वोत्तम आर्यधर्म को प्राप्त कर निर्जरा का अर्थी भिक्षु इस परीषह को सहन करे और शरीर छोड़ने तक मैल को शरीर पर समभावपूर्वक धारण करे।

१०. वध परीषह

१०. हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा भिक्खूधम्मं विचिंतए।।
समणं संजयं दंतं हणेज्जा कोइ कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति एवं पेहेज्ज संजए।। (उ० २ : २६ : २७)

पीटे जाने पर साधु क्रोध न करे। मन में भी द्वेष न लावे। तितिक्षा परम धर्म है, ऐसा सोचकर वह भिक्षु धर्म का चिंतन करे। यदि कोई कहीं पर संयत दमेन्द्रिय श्रमण को पीटे तो वह संयमी भिक्षु इस प्रकार विचार करे कि जीव का कभी नाश नहीं होता।

११. चर्या परीषह

७. एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि निगमे वा रायहाणिए।।
असमाणो चरे भिक्खू नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं अणिएओ परिव्वए।। (उ० २ : १८-१६)

संयत भिक्षु परीषहों को जीतकर गाँव में या नगर में, निगम या राजधानी में अकेला (राग-द्वेष रहित) विचरण करे। वह असाधारण रूप से विहार करे, परिग्रह न करे। गृहयुक्त मुनि गृहस्थों से असंसक्त (अनासक्त) रहता हुआ विचरण करे।

१२. याचना परीषह

१२. दुक्करं खलु भो निच्चं अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं।।

गोयरग्गपविट्ठस्स पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगारवासु त्ति इइ भिक्खू न चिंतए।। (उ० २ : २८-२६)

हे शिष्य! घररहित भिक्षु के पास सब कुछ माँगा हुआ होता है। उसके पास कुछ भी अयाचित नहीं होता। निश्चय ही नित्य की याचना दुष्कर है।

भिक्षाचर्या के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट भिक्षु के लिए हाथ पसारना सहज नहीं होता, इससे 'गृहवास ही अच्छा है'—भिक्षु ऐसा चिंतन न करे।

१३. अलाभ परीषह

१३. परेसु घासमेसेज्जा भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा नाणुतप्पेज्ज संजए।।
अज्जेवाहं न लब्भामि अवि लाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंविक्खे अलाभो तं न तज्जए।। (उ० २ : ३०-३१)

गृहस्थों के घर भोजन तैयार हो जाने पर भिक्षु आहार की गवेषणा करे। आहार के मिलने या न मिलने पर विवेकी भिक्षु हर्ष-शोक न करे। 'आज मुझे नहीं मिला तो क्या? कल मिलेगा'—जो भिक्षु इस प्रकार विचार करता है, उसे अलाभ परीषह कष्ट नहीं देता।

१४. अचेल परीषह

१४. परिजुण्णेहि वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।
अहुवा सचेलए होक्खं इइ भिक्खू न चिंतए।।
एगयाऽचेलए होइ सचेले यावि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए।। (उ० २ : १२-१३)

जीर्ण वस्त्रों के कारण मैं अचेलक हो जाऊँगा अथवा मैं वस्त्र-सहित सचेलक बनूँगा—भिक्षु ऐसा चिंतन—हर्ष-शोक—न करे। भिक्षु एकदा—कभी—अचेलक हो जाता है और कभी सचेलक। इन दोनों अवस्थाओं को धर्म में हितकारी जानकर ज्ञानी मुनि चिंता न करे—दीन न बने।

१५. अरति परीषह

१५. नारतिं सहते वीरे वीरे णो सहते रतिं।
जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे न रज्जति।। (आ० १,२ (६) : १६०)
अरइं पिट्ठओ किच्चा विरए आयरक्खिए।
धम्मारामे निरारम्भे उवसन्ते मुणी चरे।। (उ० २ : १५)

वीर पुरुष धर्म उत्पन्न अरुचि भाव को सहन नहीं करता और न असंयम में उत्पन्न रुचि भाव को सहन करता है। वीर साधक जिस तरह धर्म के प्रति उदासीन वृत्तिवाला नहीं होता, उसी तरह वह अधर्म के प्रति रागवृत्तिवाला भी नहीं होता।

हिंसादि से विरत, निरारम्भी, उपशांत और आत्मरक्षक मुनि, अरति—संयम—के प्रति अरुचि भाव को हटाकर धर्मरूपी उद्यान में विचरे—रमण—करे।

१६. स्त्री परीषह

१६. संगो एस मणुस्साणं जाओ लोगंमि इत्थिओ।
जस्स एया परिन्नाया सुकडं तस्स सामण्णं।।
एवमादाय मेहावी पंकभूया उ इत्थिओ।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा चरेज्जत्तगवेसए।। (उ० २ : १६-१७)

लोक में जो स्त्रियाँ हैं, वे मनुष्यों के लिए लेप हैं—जिसे यह ज्ञात है उसका श्रामण्य सफल है। स्त्रियाँ ब्रह्मचारी के लिए पंक के सदृश हैं, यह जानकर मेधावी उनसे अपने संयम का घात न होने दे। वह आत्मा की गवेषणा करता हुआ विचरे।

१७. निषीधिका परिषह

१४. सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्ख-मूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा न य वित्तासए परं।।
तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभिधारए।
संकाभोओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं।। (उ० २ : २० २१)

एकाकी—राग-द्वेषरहित—मुनि चंचलता को छोड़कर श्मशान, शून्यगृह अथवा वृक्ष के मूल में बैठे। दूसरे को संत्रस्त न करे। वहाँ बैइे हुए उसे उपसर्ग हो तो वह समभाव से सहन करे, किन्तु अनिष्ट की आशंका से भयभीत हो वहां से उठ कर अन्य स्थान पर न जाय।

१८. रोग परीषह

१८. नच्चा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं पुट्ठो तत्थहियासए।।
तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा संचिक्खत्तगवेसए।
एवं खु तस्स सामण्णं जं न कुज्जा न कारवे।। (उ० २ : ३२-३३)

रोग को उत्पन्न देखकर उसकी वेदना से दुःखार्त भिक्षु अदीनभाव से 'ये मेरे ही कर्मों का फल है'—ऐसी प्रज्ञा में अपने को स्थिर करे। रोग द्वारा आक्रांत होने पर

उसे सम-भावपूर्वक सहन करे। आत्मगवेषी भिक्षु चिकित्सा की अनुमोदना न करे। समाधिपूर्वक रहे। श्रमण का श्रमणत्व इसी में है कि वह चिकित्सा न करे और न करावे।

१६. सत्कार-पुरस्कार परीषह

१६. अभिवायणमब्भुट्ठाणं सामी कुज्जा निमंतणं।
जे ताइं पडिसेवंति न तेसिं पीहए मुणी।।
अणुक्कसाई अप्पिच्छे अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा नाणुतप्पेज्ज पन्नवं।। (उ० २ : ३८-३६)

जो राजा आदि के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार अथवा निमंत्रण का सेवन करते हैं, उनकी इच्छा न करे—उन्हें धन्य न माने। अल्प कषायवाला, अल्प इच्छावाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेनेवाला और अलोलुप भिक्षु रसों में गृद्ध न हो। प्रज्ञावान् भिक्षु दूसरों को सम्मानित देखकर अनुताप न करे।

२०. प्रज्ञा परीषह

२०. से नूणं मए पुव्वं कम्माणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई।।
अह पच्छा उइज्जंति कम्माणाणफला कडा।
एवमस्सासि अप्पाणं नच्चा कम्मविवागयं।।[1] (उ० २ : ४०-४१)

'कहीं पर किसी के द्वारा पूछे जाने पर जो मैं उसका उत्तर नहीं जानता—यह निश्चय ही पूर्व में मैंने जो अज्ञान फलवाले कर्म किये हैं, उन्हीं का फल है। अज्ञान फल के देनेवाले कृत कर्मों का फल बाद में उदय में आता है'—भिक्षु कर्म के विपाक को जानकर अपनी आत्मा को इसी तरह आश्वासन दे।

२१. अज्ञान परीषह

२१. निरट्ठगम्मि विरओ मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि धम्मंण कल्ला पावगं।। (उ० २ : ४२)

'मैंने निरर्थक ही मैथुन आदि से निवृत्ति ली और इन्द्रियों को संवृत किया है,, जो छद्मस्थभाव को दूर कर साक्षात् कल्याण अथवा पापकारी धर्म को नहीं जान सकता'—भिक्षु ऐसा विचार कभी भी न करे।

---

१. प्रज्ञा परीषह दो प्रकार से होता है—प्रज्ञा के अपकर्ष से और प्रज्ञा के उत्कर्ष (गर्व) से। यह वर्णन प्रज्ञा के अपकर्ष के विषय में है। प्रज्ञा के उत्कर्ष में गर्व न करना यह बात भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिए।

२२. दंसण परीषह

२२. नत्थि नूणं परे लोए इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओ मि त्ति इइ भिक्खू न चिंतइ।। (उ० २ : ४४)
अभू जिणा अत्थि जिणा अदुवावि भविस्सई।
मुसं ते एवमाहंसु इइ भिक्खू न चिंतए।। (उ० २ : ४५)

'निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि नहीं है अथवा मैं ठगा गया हूँ'—भिक्षु ऐसा चिंतन न करे। 'जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे—ऐसा जो कहते हैं, वे झूठ बोलते है—भिक्षु ऐसा चिंतन न करे।

१. उपसर्ग और कायरता

१. सूरं मण्णइ अप्पाणं जाव जेयं ण पस्सई।
जुज्झंतं दढधम्माणं सिसुपालो व महारहं।। (सू० १, ३ (१) : १)

कायर मनुष्य भी जब तक विजेता पुरुष को नहीं देखता तब तक अपने को शूर मानता है, परन्तु वास्तविक संग्राम के समय वह उसी तरह क्षोभ को प्राप्त होता है जिस तरह युद्ध में प्रवृत्त दृढ़धर्मी महारथी कृष्ण को देखकर शिशुपाल हुआ था।

२. पापया सूरा रणसीसे संगामम्मि उवट्ठिए।
माया पुत्तं ण जाणाइ जेएण परिविच्छए।। (सू० १, ३ (१) : २)

अपने को शूर माननेवाला पुरुष संग्राम के अग्रभाग में चला तो जाता है परन्तु जब युद्ध छिड़ जाता है और ऐसी घबराहट मचती है कि माता भी अपनी गोद से गिरते हुए पुत्र की सुध न रख सके तब विजेता के प्रहार से क्षत-विक्षत वह अल्प पराक्रमी पुरुष दीन बन जाता है।

३. एवं सेहे वि अप्पुट्ठे भिक्खुचरिया-अकोविए।
सूरं मण्णइ अप्पाणं जाव लूहं ण सेवए।। (सू० १, ३ (१) : ३)

जैसे कायर पुरुष जब तक वीरों से घायल नहीं किया जाता तभी तक शूर होता है, इसी तरह भिक्षाचर्या में अनिपुण तथा परीषहों के द्वारा अस्पर्शित अभिनव प्रव्रजित साधु भी तभी तक अपने को वीर मानता है जब तक रूक्ष संयम का सेवन नहीं करता।

४. जया हेमंतमासम्मि सीयं फुसइ सवायगं।
तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व खत्तीया।। (सू० १, ३ (१) : ४)

जब हेमंत ऋतु के महीने में शीत सब अंगों को स्पर्श करता है उस समय मन्द जीव उसी तरह का अनुभव करते हैं, जिस तरह राज्य-भ्रष्ट क्षत्रिय।

५. पुट्ठे गिम्हाहितावेणं विमणे सुपिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा अप्पोदए जहा।। (सू० १, ३ (१) : ५)

ग्रीष्म ऋतु में अतिताप से पीड़ित होने पर जब अत्यन्त तृषा का अनुभव होता है उस समय अल्प पराक्रमी पुरुष उदास होकर उसी तरह विषाद को प्राप्त होते हैं, जैसे थोड़े जल में मछलियाँ।

६. समया दत्तेसणा दुक्खं जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मंता दुब्भगा चेव इच्चाहंसु पुढोजणा।। (सू० १, ३ (१) : ६)

भिक्षु-जीवन में दी हुई वस्तु को ही लेना—यह दुःख सदा रहता है। याचना का परीषह दुःसह होता है। साधारण मनुष्य कहते हैं कि ये भिक्षु कर्म का फल भोग रहे हैं और भाग्यहीन हैं।

७. एए सद्दे अचायंता गामेसु णगरेसु वा।
तत्थ मंदा विसीयंति संगामम्मि व भीरुणो।। (सू० १, ३ (१) : ७)

ग्रामों में या नगरों में कहे जाते हुए इन आक्रोशपूर्ण शब्दों को सहन कर सकने में असमर्थ मंदगति जीव उसी प्रकार विषाद करते हैं, जिस तरह भीरु मनुष्य संग्राम में।

८. अप्पेगे खुज्झियं भिक्खु सुणी डंसइ लूसए।
तत्थ मंदा विसीयंति ते उपुट्ठा व पाणिणो।। (सू० १, ३ (१ : ८)

भिक्षा के लिए निकले हुए क्षुधित साधु को जब कोई क्रूर प्राणी—कुत्ता आदि—काटता है तो उस समय मंदगति पुरुष उसी तरह विषाद को प्राप्त होता है, जिस तरह अग्नि से स्पर्श किए हुए प्राणी।

९. पुट्ठो य दंसमसगेहिं तणफासमचाइया।
ण मे दिट्ठे परे लोए किं परं मरणं सिया ? (सू० १, ३ (१) : १२)

दंश और मशकों से काटा जाकर तथा तृण की शय्या के रूक्ष स्पर्श को सहन कर सकने में असमर्थ मंदगति पुरुष यह भी सोचने लगता कि मैंने परलोक तो प्रत्यक्ष नहीं देखा है, परन्तु इस कष्ट से मरण तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है ।

१०. संतत्ता केसलोएणं बंभचेरपराइया।
तत्थ मंदा विसीयंति मच्छापविट्ठा व केयणे।। (सू० १, ३ (१) : १३)

केशलोंच से पीड़ित और ब्रह्मचर्य पालन में हारे हुए मंदगति पुरुष उसी तरह विषाद का अनुभव करते हैं जिस तरह जाल में फँसी हुई मछली।

११. आयदंडसमायारा मिच्छासंठियभावणा।
हरिसप्पओसमावण्णा केई लूसंतिऽणारिया।। (सू० १, ३ (१) : १४)

कई अनार्य पुरुष अपनी आत्मा को दंड का भागी बनाते हुए मिथ्यात्व की भावना में सुस्थित हो राग-द्वेष पूर्वक साधु को पीड़ा पहुँचाते हैं।

१२. अप्पेगे पलियंतंसि चारो चोरो त्ति सुव्वयं।
बंधंति भिक्खुयं बाला कसायवसणेहि य।। (सू० १, ३ (१) : १५)

कई अज्ञानी पुरुष, पर्यटन करते हुए सुव्रती साधु को यह 'चर है', 'चोर है' ऐसा कहते हुए रस्सी आदि से बाँधते हैं और कटु वचन से पीड़ित करते हैं।

१३. अप्पेगे पडिभासंति पाडिपंथियमागया।
पडियारगया एए जे एए एवं जीविणो।। (सू० १, ३ (१) : ६)

कई संतों के प्रति द्वेष को प्राप्त मनुष्य साधु को देखकर कहते हैं कि भिक्षा मांगकर इस तरह जीवन-निर्वाह करनेवाले ये लोग अपने पूर्व कृत पाप का फल भोग रहे हैं।

१४. तत्थ दंडेण संवीते मुट्ठिणा अदु फलेण वा।
णाईणं सरई बाले इत्थी वा कुद्धगामिणी।।
(सू० १, ३ (१) : १६)

अनार्य देश में अनार्य पुरुष द्वारा लाठी, मुक्का अथवा फलक के द्वारा पीटा जाता हुआ मन्दगति पुरुष उसी प्रकार अपने बन्धु-बान्धवों को स्मरण करता है, जिस तरह क्रोधवश घर से निकलकर भागी हुई स्त्री।

१५. एए भो कसिणा फासा फरुसा दुरहियासया।
हत्थी वा सरसंवीता कीवावसगा गया गिहं।। (सू० १, ३ (१) : १७)

शिष्यो ! पूर्वोक्त सभी परीषह कष्टदायी और दुःसह हैं। वाणों से प्रहार के घायल हुए हाथी की तरह कायर पुरुष इनसे घबराकर फिर गृहवास में चला जाता है।

१६. जहा संगामकालम्मि पिट्ठओ भीरु वेहइ।
वलयं गहणं णूमं को जाणइ पराजयं।। (सू० १, ३ (३) : १)

जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष, यह शंका करता हुआ कि न जाने किसकी विजय होगी, पीछे की ओर ताकता है और गड्ढा, गहन और छिपा हुआ स्थान देखता है।

१७. एवं तु समणा एगे अबलं णच्चाण अप्पगं।
अणागयं भयं दिस्स अवकप्पंति मं सुयं।। (सू० १, ३ (३) : ३)

इसी प्रकार कई श्रमण अपने को सुयम पालन करने में अबल समझकर तथा अनागत भय की आशंका से व्याकरण तथा ज्योतिष आदि की शरण लेते हैं।

१८. जे उ संगामकालम्मि णाया सूरपुरंगमा।
णं ते पिट्ठममुवेहिंति किं परं मरणं सिया।। (सू० १, ३ (३) : ६)

परन्तु जो पुरुष लड़ने में प्रसिद्ध और शूरों में अग्रगण्य होते हैं वे आगे की बात पर ध्यान नहीं देते हैं। वे समझते हैं कि मरण से अधिक और क्या होगा?

१६. संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिणिव्वुडे।
उवसग्गे णियमित्ता आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।। (सू०१, ३ (३) : २१)

दृष्टिमान् शान्त मुनि सुन्दर धर्म को जानकर उपसर्गों को जीतकर मोक्ष-प्राप्ति पर्यन्त संयम में उद्यत रहे।

३. स्नेह-पाश

१. अहिमे सुह मा संगा भिक्खूणं जे दुरुत्तरा।
जत्थ एगे विसीयंति ण चयंति जवित्तए।। (सू० १, (३) २ : १)

बंधु-बांधवों के स्नेह रूप उपसर्ग बड़े सूक्ष्म होते हैं। ये अनुकूल परीषह साधु पुरुषों द्वारा भी दुर्लध्य होते हैं। ऐसे सूक्ष्म—अनुकूल परीषहों के उपस्थित होने पर कई खेदखिन्न हो जाते हैं और संयमी जीवन के निर्वाह में समर्थ नहीं रहते।

२. वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
भुंजाहिमाइं भोगाइं आउसो ! पूजयामु तं।। (सू० १, (३) २ : १७)

"हे आयुष्मान्! वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियाँ और शय्या इन भोगों को आप भोगें। हम आपकी पूजा करते हैं।

३. जो तुमे णियमो चिण्णो भिक्खुभावम्मि सुव्वया।
अगारमावसंतस्स सव्वो संविज्जए तहा।।(सू० १, (३) २ : १८)

"हे सुन्दर व्रत वाले साधु! आपने प्रवज्वा के समय जिन महाव्रत अदि रूप नियमों का पालन किया है, वे सब गृहवास करने पर भी उसी तरह बने रहेंगे।

४. चिरं दूइज्जमाणस्स दोसो दाणिं कुओ तव?
इच्चेव णं णिमंतेंति णीवारेण व सूयरं।। (सू० १, (३) २ : १६)

"हे मुनिवर ! बहुत काल से संयमपूर्वक विहार करते हुए आपको इस समय दोष कैसे लग सकता है ?" इस प्रकार भोग भोगने का आमंत्रण देकर लोग साधु को उसी तरह फँसा लेते हैं जैसे चावल के दानों से सूअर को।

५. अचयंता व लूहेण उवहाणेण तज्जिया।
तत्थ मंदा विसीयंति पंकंसि व जरग्गवा।। (सू० १, (३) २ : २१)

रूक्ष संयम पालन करने में असमर्थ और बाह्याभ्यन्तर तपस्या से भय पाते हुए मन्द पराक्रमी जीव संयम-मार्ग। में उसी प्रकार क्लेश पाते हैं, जिस प्रकार कीचड़ में बूढ़ा बैल।

६. तत्थ मंदा विसीयंति वाहच्छिण्णा व गद्दभा।
पिट्ठओ परिसप्पंति पीढसप्पीव संभमे।। (सू० १, (३) २ : ५)

अनुकूल परीषह के उत्पन्न होने पर मन्द पराक्रमी मनुष्य भार से पीड़ित गधे की तरह खेद-खिन्न होते हैं। जैसे अग्नि के उपद्रव होने पर पृष्ठसर्पी (लकड़ी के टुकड़ों के सहारे सरककर चलनेवाला) भागनेवालों के पीछे रह जाता है, उसी तरह मूर्ख भी संयमियों की श्रेणी से पीछे रह जाते हैं।

७. इच्चेव णं सुसेहंति कालुणीयउवट्ठिया।
विवद्धो णाइसंगेहिं तओऽगारं पहावइ।। (सू० १, (३) २ : ६)

करुणा के भरे हुए बन्धु-बान्धव एवं राजादि साधु को उक्त रीति से शिक्षा देते हैं। पश्चात् उन ज्ञातियों के संग से बँधा हुआ पामर साधु प्रव्रज्या छोड़ घर की ओर दौड़ता है।

८. जहा रुक्खं वणे जायं मालुया पडिबंधइ।
एवं णं पडिबंधंति णायओ असमाहिए।। (सू० १, (३) २ : १०)

जैसे वन में उत्पन्न वृक्ष को मालुका लता घेर लेती है, उसी तरह असमाधि उत्पन्न कर ज्ञातिवर्ग साधु को बाँध लेते हैं।

९. विबद्धो णाइसंगेहिं हत्थी वा वि णवग्गहे।
पिट्ठओ परिसप्पंति सूती गो व्व अदूरगा।। (सू० १, (३) २ : ११)

ज्ञातियों के स्नेह-पाश में बँधे हुए साधु की स्वजन उसी तरह चौकसी रखते हैं, जिस तरह नये पकड़े हुए हाथी की। जैसे नई ब्याई हुई गाय, अपने बछड़े से दूर नहीं हटती, उसी तरह परिवारवाले उसके पीछे-पीछे चलते हैं।

१०. एए संगा मणुस्साणं पायाला व अतारिमा।
कीवा जत्थ य किस्संति णाइसंगेहि मुच्छिया।। (सू० १, (३) २ : १२)

यह माता-पिता आदि का स्नेह-सम्बन्ध, मनुष्यों के लिए उसी तरह दुस्तर है, जिस तरह अथाह समुद्र। इस स्नेह में मूर्च्छित—आसक्त—शक्तिहीन पुरुष संसार में क्लेश भोगते हैं।

११. तं च भिक्खू परिण्णाय सव्वे संगा महासवा।
जीवियं णावकंखेज्जा सोच्चा धम्ममणुत्तरं।। (सू० १, (३) २ : १३)

साधु ज्ञाति संसर्ग को संसार का कारण जानकर छोड़ देवे। सर्व संग—सम्बन्ध—कर्मों के महान् प्रवेश-द्वार हैं। सर्वोत्तम धर्म को सुनकर साधु असंयम जीवन की इच्छा न करे।

१२. अणुस्सुओ उरालेसु जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थऽहियासए।। (सू० १, ६ : ३०)

उदार—मनोहर शब्दादि विषयों में उत्सुक-उत्कण्ठित न हो मुमुक्षु यत्नपूर्वक संयम मे रमण करे। धर्मचर्या में अप्रमादी हो और अनुकूल परीषहों से स्पृष्ट होने पर उन्हें दृढ़ता से सहन करे।

१३. अह णं वतमाववण्णं फासा उच्चावया फुसे।
ण तहिं विणिहण्णेज्जा वातेण व महागिरी।। (सू० १, ११ : ३७)

जिस तरह महागिरि वायु के झोंके से डोलायमान नहीं होता, उसी तरह व्रत-प्रतिपन्न पुरुष सम-विषय, ऊँच-नीच, अनुकूल, प्रतिकूल परीषहों के स्पर्श करने पर धर्मच्युत नहीं होता है।

४. चित्त-समाधि सूत्र

१. जया य चयई धम्मं अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले आयइ नावबुज्झइ।। (द० चू १ : १)

जब अनार्य साधु भोग-लिप्सा से धर्म को छोड़ता है, उस समय काम-भोग में मूर्च्छित मूर्ख अपने भविष्य को नहीं समझता।

२. जया य पूइमो होइ पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो स पच्छा परितप्पइ।। (द० चू० १ : ४)

जब संयमी रहता है, तब साधु पूज्य होता है, किन्तु संयम से भ्रष्ट होने पर वह अपूज्य हो जाता है। राज्यच्युत राजा की तरह वह पीछे अनुताप करता है।

३. देवलोगसमाणो उ परियाओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं तु महानिरयसारिसो।। (द० चू० १ : १०)

संयम में रत महर्षियों के लिए चरित्र-पर्याय देवलोक के समान (सुखकारक) होती है जिन्हें संयम में रति नहीं, उनके लिए वही चरित्र-पर्याय महानरक के सदृश कष्टदायक होती है।

४. धम्माउ भट्ठं सिरिओ ववेयं जन्नग्गि विज्झायमिव प्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीलं दाढुद्धियं घोरविसं व नागं।।
(द० चू० १ : १२)

जिस तरह अल्पतेज, बुझी हुई यज्ञाग्नि और उखड़े हुए दाढ़वाले घोर विषधर सर्प की हर कोई अवहेलना करते हैं, उसी तरह जो धर्म से भ्रष्ट और चरित्ररूपी लक्ष्मी से रहित होता है, उस साधु की दुष्ट और कुशील भी निन्दा करते हैं।

५. इहेवधम्मो अयसो अकित्ती दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई।।
(द० चू० १ : १३)

जो धर्म से च्युत होता है और अधर्म का सेवन करता है उसका इस लोक में साधारण लोगों में भी दुर्नाम होता है। वह अधर्मी कहीं भी जाकर अयश और अकीर्ति का पात्र बनता है। व्रत भंग करनेवाले की परलोक में अधम गति होती है।

६. भुंजित्तु भोगाइ पसज्झ चेयसा तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं बोही य से नो सुलभा पुणो पुणो।।
(द० चू० १ : १४)

संयमभ्रष्ट मनुष्य दत्तचित्त से भोगों को भोगकर तथा अनेक प्रकार के असंयम का सेवन कर दुःखद अनिष्ट गति में जाता है। बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि सुलभ नहीं होती।

७. इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं?।।
(द० चू० १ : १५)

नरक में गये हुए दुःख से पीड़ित और निरन्तर क्लेशवृत्ति वाले जीव की जब नरक सम्बन्धी पल्योपम और सागरोपम की आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर मेरा यह मनोदुःख तो कितने काल का है?

८. न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई अविस्सई जोवियपज्जवेण म।।
(द० चू० १ : १६)

यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि विषय-तृष्णा इस शरीर से न जायेगी तो मेरे जीवन के अन्त में अवश्य मिट जायेगी।

९. जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं।।
(द० चू० १ : १७)

जिसकी आत्मा इस प्रकार दृढ़ होती है, वह देह को त्याग देता है, पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ता। इन्द्रियाँ (विषय-सुख) ऐसे दृढ़धर्मी मनुष्य को उसी तरह विचलित नहीं कर सकतीं जिस तरह वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को।

: ३५ :

मरण-समाधि

१. अकाम-मरण : सकाम-मरण

१. संतिमे य दुवे ठाणा अक्खाया मारणंतिया।
अकाम-मरणं चेव सकाम-मरणं तहा।। (उ० ५ : २)

मरणान्त के ये दो स्थान कहे गये हैं—एक अकाम-मरण और दूसरा सकाम-मरण।

२. बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे।
पण्डियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे।। (उ० ५ : ३)

बाल (मूर्खों) के अकाम-मरण निश्चय ही बार-बार होता है; पण्डितों के सकाम-मरण उत्कर्षतः एक ही बार होता है।

३. हिंसे बाले मुसावाई माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं सेयमेयं ति मन्नई।। (उ० ५ : ६)

हिंसा करने वाला, झूठ बोलनेवाला, छल-कपट करनेवाला, चुगली खानेवाला, शठता करनेवाला तथा मांस और मन्दिरा खाने-पीनेवाला बाल (मूर्ख) जीव—ये कार्य श्रेय हैं—ऐसा मानता है।

४. तओ से दण्डं समारभई तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए भूयग्गामं विहिंसई।। (उ० ५ : ८)

फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवों को कष्ट पहुँचाना शुरू करता है तथा प्रयोजन से या बिना प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है।

५. कायसा वयसा मत्ते वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं सचिणइ सिसुणागु व्व मट्टियं।। (उ० ५ : १०)

जो काया और वाचा से मत्त—अभिमानी है और कामिनि-कांचन में गृद्ध है, वह राग और द्वेष दोनों से उसी प्रकार कर्म-फल का संचय करता है, जिस तरह शिशुनाग (अलस) मुख और शरीर दोनों से मिट्टी का।

६. तओ पुट्ठो आयंकेणं गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स कम्मणुप्पेह अप्पणो।। (उ० ५ : ११)

फिर वह मूर्ख जीव आतंक—रोग—से स्पृष्ट होने पर पीड़ित हो परिताप करता है तथा अपने कर्मों को देखता हुआ परलोक से भयभीत होता है।

७. सुया मे नरए ठाणा असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूर-कम्माणं पगाढा जत्थ वेयणा।। (उ० ५ : १२)
तओ से मरणंतंमि बाले संतस्सई भया।
अकाम-मरणं मरई धुत्ते व कलिना जिए।। (उ० ५ : १८)

'शील-रहित क्रूरकर्म करने वाले मूर्ख मनुष्यों की जो गति होती है, वह मैंने सुनी है। उन्हें नरक में स्थान मिलता है, जहाँ प्रगाढ़ वेदना है'—मरणान्त के समय मूर्ख मनुष्य इसी तरह भय से संत्रस्त होता है और आखिर एक ही दाँव में हार जानेवाले जुआरी की तरह, अकाम-मरण से डरता है।

८. मरणं पि सपुण्णाणं जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं संजयाणं वसीमओ।। (उ० ५ : १८)

बाल (मूर्ख) जीवों के अकाम-मरण को मुझसे सुना है, उसी तरह पुण्यवान और जितेन्द्रिय संयमियों के प्रसन्न और आघात-रहित सकाम-मरण को भी सुनो।

९. न इमं सव्वेसु भिक्खू सु न इमं सव्वेसुऽगारिसु।
नाणासीला अगारत्था विसमसीला य भिक्खुणो।। (उ० ५ : १९)

यह सकाम-मरण न सब भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सब गृहस्थों को; क्योंकि गृहस्थ नाना (विविध) शीलवाले होते हैं और भिक्षु विषमशील—असमान गुणोंवाले होते हैं।

१०. अगारि-सामाइयंगाइं सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं एगरायं न हावए।। (उ० ५ : २३)

श्रद्धालु अगारी—गृहस्थ सामायिक के अंगों का काया से सम्यक् रूप से पालन करे। दोनों पक्षों में किये जानेवाले पौषध को एक रात को भी[1] बाद न दे।

११. एवं सिक्खा-समावन्ने गिहवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वओ गच्छे जक्खसलोगयं।। (उ० ५ : २४)

इस प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती गृहवास करता हुआ भी हाड़-मांस के इस शरीर को छोड़ पक्षलोक (देवलोक) को जाता है।

१२. अह जे संवुडे भिक्खू दोण्हं अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्खप्पहीणे वा देवे वावि महिड्ढिए।। (उ० ५ : २५)

---

१. अमावस्था और पूर्णिमा में से किसी भी दिन बाद न दे।

तथा जो संवृतात्मा भिक्षु है, वह दोनों में से एक गति को पाता है—या तो वह सर्व दुःख क्षय हो गये हैं जिसके ऐसा सिद्ध होता है अथवा महाऋद्धि वाला देव होता हैं।

१३. ताणि ठाणाणि गच्छंति सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा जे संपरिनिव्वुडा।। (उ० ५ : २८)

संयम और तप के अभ्यास द्वारा जो वासना से परिनिवृत्त हैं, वे भिक्षु हों या गृहस्थ, दिव्य देवगति को जाते हैं।

१४. तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं संजयाण वुसीमओ।
न संतसंति मरणंते सीलवंता बहुस्सुया।। (उ० ५ : २६)

उन सत्पूज्य जितेन्द्रिय संयमियों की मनोहर गति को सुनकर, शील-सम्पन्न और बहुश्रुत पुरुष मरणान्त के समय संत्रस्त नहीं होते।

१५. तुलिया विसेसमादाय दया-धम्मस्स खंतिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी तहाभूएण अप्पणा।। (उ० ५ : ३०)

अकाम और सकाम—इन दोनों मरणों को तोल, विवेकशील पुरुष सकाम-मरण को ग्रहण करे। क्षमा द्वारा दया-धर्म का प्रकाश कर मेधावी तथाभूत आत्मा से अपनी आत्मा को प्रसन्न करे।

१६. तओ काले अभिप्पेए सड्ढी तालिसमंतिए।
विणएज्ज लोमहरिसं भेयं देहस्स कंखए।। (उ० ५ : ३१)

बाद में श्रद्धावान पुरुष काल—अवसर—आने पर गुरुजनों के समीप, रोमांचकारी मृत्यु-भय को दूर कर देह-भेद की चाह करे।

१७. अह कालंमि संपत्ते आघायाय समुस्सयं।
सकाम-मरणं मरई तिण्हमन्नयरं मुणी।। (उ० ५ : ३१)

काल के उपस्थित होने पर, संलेखना आदि के द्वारा शरीर का त्याग करता हुआ साधु पण्डित-मरण के तीन प्रकारों में से किसी एक के द्वारा सकाम-मृत्यु को प्राप्त करता हैं।

२. बाल-मरण : पण्डित-मरण

१. वीरेण वि मरिदव्वं णिव्वीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि वीरत्तणेण मरिदव्वं।। (मू० २ : ६६)

निश्चय ही जो वीर है उसे भी मरना होगा और जो कापुरुष है उसे भी मरना है। यदि दोनों को ही मरना होगा तो वीरता के साथ मरना ही श्रेयस्कर है।

२. तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिओ अणुमरंति।। (मूल० २ : ३१)

बाल, बाल-पण्डित और पण्डितों के मरण के भेद से मरण तीन प्रकार का होता है—बाल-मरण, बाल-पण्डित-मरण और पण्डित-मरण। केवली पण्डित-मरण से मृत्यु प्राप्त करते हैं।

३. बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणि मरणाणि।
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति।। (मूल० २ : ७३)

जो जिन-वचन को नहीं जानते हैं वे मूर्ख बहुत से अनिष्ट बाल-मरणों से मृत्यु को प्राप्त करेंगे, उनके अनेक अकाम-करण होंगे।

४. एगम्हि भवग्गणे समाहिमरणं लभेज्ज जदि जीवो।
सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि।। (मूल० २ : ५४)

यदि एक भी भव में जीव समाधि-मरण को प्राप्त कर लेता है तो सात-आठ भवों में ही अनुत्तर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

५. एक्कं पंडिदमरणं छिंदंदि जादीसयाणि बहुगाणि।
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि।। (मूल० २ : ६४)

एक पण्डित-मरण अनेक जन्मों का नाश करता है। अतः ऐसे मरण से मृत्यु प्राप्त करना चाहिए जिससे मरण सुमरण हो।

६. सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेस्समोगाढा।
इह जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा हवे बोही।। (मूल० २ : ७१)

जो सम्यग्दर्शन में रत होते हैं, जो निदान—फल-कामना—नहीं करते, जो शुक्ल-लेश्या के धारक होते हैं—इस प्रकार जो मृत्यु को प्राप्त होते हैं उन्हें बोधि सुलभ होती है।

७. जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण।
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा।। (मूल० २ : ७२)

जो जिन-वचनों में अनुरक्त होते हैं और जो अन्तरमन से गुरुवचनों के अनुसार चलते हैं वे अशबल और असंक्लिष्ट पुरुष संसार को संक्षिप्त करने वाले होते हैं।

८. उड्ढमधोतिरियम्हि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि।
दंसणणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से।। (मूल० २ : ७५)

मैंने ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् लोक में अनेक बार बाल-मरण किए हैं, अब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक पण्डित-मरण से मरण प्राप्त करूँगा।

६. उव्वेयमरणजादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य।
एदाणि संभरंतो पंडियमरणं अणुमरिस्से।। (मूल० २ : ७६)

उद्वेगमरण, जातिमरण तथा नरक में अनेक वेदनाएँ होती हैं। इन मरणों और वेदनाओं का स्मरण करता हुआ मैं पण्डित-मरण से मरण को प्राप्त होऊँगा।

३. शरीर-आसक्ति त्याग

१. जावंति किंचि दुक्खं सारीरे माणसं च संसारे।
पत्तो अणंतखुत्तं कायस्स ममत्तिदोसेण।। (भग० आ० १६६७)

इस अनादि संसार में अनंत बार जो शारीरिक अथवा मानसिक दुःख तुझे प्राप्त हुए हैं, वे सब शरीर के प्रति ममत्वदोष से ही प्राप्त हुए हैं।

२. एण्हं पि जदि ममत्तिं कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुमं।
दुक्खाणि संसरंतो पाविहसि अणंतयं कालं।।
(भग० आ० १६६८)

यदि इस समय भी, जब अन्त समीप है, तू शरीर में ममत्त्व करेगा तो तू पुनः अनन्त काल तक संसार में उन्हीं दुःखों को प्राप्त करेगा।

३. णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जजदे दुक्खं।
जम्मणमरणादंकं छिंदि ममत्तिं सरीरादो।।[1] (मू० ११६)

इस जगत् में मृत्यु के समान कोई भय नहीं है। भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म के समान कोई दूसरा दुःख नहीं है। तू जन्म और मरण दोनों का अन्त कर। ये दोनों जन्म-मरण रूपी आतंक शरीर के होने से होते हैं अतः शरीर से ममत्व का छेदन कर।

४. अण्णं इमं सरीरं अण्णे जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ।
दुक्खभयकिलेसयरीं मा हु ममत्तिं कुण सरीरे।।
(भग० आ० १६७०)

यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है, ऐसा निश्चयपूर्वक समझकर दुःख, भय और क्लेश को उत्पन्न करने वाली शरीर-ममता को मत करे

---

१. भग० आ० ११६६।

५. सव्वं अधियासंतो उवसग्गविधिं परीसहविधिं च।
णिस्संगदाए सल्लिह असंकिलेसेण त मोहं।।
(भग० आ० १६७१)

सर्व प्रकार के उपसर्ग और परीषहों को समभाव से सहते हुए निःसंगत्व की भावना से और संक्लेश-रहित परिणामों से तू मोह को क्षीण कर।

४. आहार उपेक्षा

१. आहारत्थं हिंसइ भणइ असच्चं करेइ तेणक्कं।
रूसइ लुब्भइ मायां करेइ परिगिण्हदि य संगे।। (भग० आ० १६४२)

आहार के लिए मनुष्य हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, लोभ करता है, माया करता है और परिग्रह ग्रहण करता है।

२. होइ णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदंसणचरित्तं।
आमिसकलिणा ठइओ छायं मइलेइ य कुलस्स।।
(भग० आ० १६४३)

आहार के लिए मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है। तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्र को छोड़ देता है और आहार-संज्ञारूपी पाप के वश होकर कुल की शोभा को मलिन करता है।

३. णासदि बुद्धी जिब्भावसस्स मंदा वि होदि तिक्खा वि।
जोणिगसिलेसलग्गो व होइ पुरिसो अणप्पवसो।।
(भग० आ० १६४४)

जो मनुष्य जिह्वा के वश होता है, उसकी बुद्धि नाश को प्राप्त होती है उसकी तीक्ष्णबुद्धि भी मंद हो जाती है। यह वज्रलेप के बंधन से बँधे हुए पुरुष की तरह बिल्कुल परवश हो जाता है।

४. आहारत्थं काऊण पावकम्माणि तं परिगओ सि।
संसारमणादीयं दुक्खसहस्साणि पावंतो।।
(भग० आ० १६५१)

हे मनुष्य! आहार में गृद्ध होकर तूने अनेक पाप-कर्म कर अनादि संसार में सहस्रों दुखों को प्राप्त करते हुए भ्रमण किया है।

५. जह इंधणेहिं अग्गी जह य समुद्दो णदीसहस्सेहिं।
आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदुं इमो जीवो।।
(भग० आ० १६५४)

जैसे ईंधनों से अग्नि और सहस्रों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता, वैसे ही यह जीव भी आहार से कभी भी तृप्त नहीं होता है।

६. उद्धुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी।
पीदीए विणा ण सुहं उद्धुदचित्तस्स घण्णस्स।।
(भग० आ० १६५६)

आहार के विषय में जिसका मन चंचल रहता है, उसे रति की प्राप्ति नहीं होती। बिना रति के प्रीति कैसे हो सकती है ? और प्रीति के बिना आहार-लंपट पुरुष को सुख नहीं होगा।

७. सव्वाहारविधाणेहिं तुमे ते सव्वपुग्गला बहुसो।
आहारिदा अदीदे काले तित्तिं च सि ण पत्तो।। (भग० आ० १६५७)

हे मनुष्य ! अतीत काल में तूने सर्व पुद्गलों का सर्व प्रकार के आहार के रूप में बहुत बार भक्षण किया है तो भी तृप्ति नहीं हुई।

८. को एत्थ विभओ दे बहुसो आहारभुत्तपुव्वम्मि।
जुंज्जेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुव्वम्मि आहारे।। (भग० आ० १६५६)

कभी जिसका भक्षण नहीं किया उस वस्तु में तो जीव की अभिलाषा हो सकती है, लेकिन जो आहार पूर्वकाल में अनेक बार भक्षण किया है, उसमें तुम्हारे लिए कौतूहल की क्या बात है ?

९. आवादमेत्तसोक्खो आहारेण हु सुखं बहुं अत्थि।
दुःखं चेवत्थ बहुं आहट्टंतस्स गिद्धीए।।
(भग० आ० १६६०)

जिह्वा के अग्र-भाग पर आहार होता है, उतनी ही देर सुखानुभव होता है। वह सुख भी अत्यल्प है। गृद्धिपूर्वक आहार करने से दुःख ही अधिक होता है।

१०. जिब्भामूलं बोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो।
तत्थेव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो।।
(भग० आ० १६६१)

जैसे उत्तम घोड़ा वेग से दौड़ता है वैसे ही आहार भी जिह्वा के अग्र-भाग का उल्लंघन कर शीघ्र ही पेट में प्रवेश करता है जिह्व का अग्र-भाग ही आहार के रस को जानता है उसके बाद का जिह्वा का भाग अथवा कण्ठादि भाग स्वाद को नहीं जानते।

११. अच्छिणिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो।
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुखं।।
(भग० आ० १६६२)

आहार के रसानुभाव से जो सुख मिलता है उसकी अवधि आँख के निमेष मात्र है। जीव गृद्धिवश आहार को शीघ्रता से निगल जाता है। गृद्धि बिगना इन्द्रिय-सुख नहीं होता।

१२. किं पुण कंठप्पाणो आहारेदूण अज्जमाहारं।
लभिहिसि तित्तिं पाऊणुदधिं हिमलेहणेणेव।। (भग० आ० १६५८)

यदि कोई मनुष्य समुद्र को पीकर भी तृप्त नहीं हुआ तो क्या यह एकाध हिमबिंदु का आस्वादन कर तृप्त होगा ? वैसे ही हे मनुष्य ! तू आज तक तृप्त नहीं हुआ तब आज जब तेरे प्राण कंठ में आ चुके हैं तब आहार ग्रहण कर अपनी तृप्ति कर सकेगा ?

१३. पुणरवि तहेव तं संसारं किं भमिदुमिच्छसि अणंतं।
जं णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते।।
(भग० आ० १६५२)

हे मनुष्य ! तू अब भी आहाराभिलाषा को नहीं छोड़ता तब क्या तू पुनः उस अनन्त संसार में भ्रमण करना चाहती है ?

५. तीन पण्डित-मरण

१. आणुपुव्वी.विमोहाइं जाइं धीरा समासज्ज।
वसुमंतो मइमंतो सव्वं नच्चा अणेलिसं।। (आ० ८ (८) : १)

संयमी, प्राज्ञ और धीर पुरुष अनुपूर्वी से (साधना करता हुआ) सभी अनुपम धार्मीक मरणों को जान, मोहरहित मरणों में से (शक्ति अनुसार) किसी एक का अपना (समाधिमरण करे)।

२. दुविंह पि विदित्ताणं बुद्धा धम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीए संखाए आरंभाओ तिउट्टति।। (आ० ८ (८) : २)

धर्म के पारगामी बुद्ध पंडित और अपंडित द्विविध मरणों को समझ, यथाक्रम से संयम का पालन करते हुए मृत्यु के समय को जान आरम्भों से निवृत्त होते हैं।

३. कसाए पयणुए किच्चा अप्पाहारो तितिक्खए।
अह भिक्खू गिलाएज्जा आहारस्सेव अंतियं।। (आ० ८ (८) : ३)

वह कषायों को प्रतनु—क्षीण कर अल्पाहार करता हुआ रहे तथा तितिक्षा भाव रखे। जब भिक्षु ग्लान हो तो वह आहार के समीप न जाय—उसका सर्वथा त्याग कर दे।

४. जीवियं णाभिकंखेज्जा मरणं णोवि पत्थए।
दुहतोवि ण सज्जेज्जा जीविते मरणे तहा।। (आ० ८ (८) : ४)

वह जीने की आकांक्षा न करे और न मरने की ही कामना करे। वह जीवन और मृत्यु दोनों में ही आसक्त न हो।

५. मज्झत्थो णिज्जरापेही समाहिमणुपालए।
अंतो बहिं विउसिज्ज अज्झत्थं सुद्धमेसए।। (आ० ८ (८) : ५)

वह समभाव में स्थित हो, निर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ समाधि का पालन करे। अभ्यन्तर और बाह्य ममत्व का त्याग कर वह विशुद्ध अध्यात्म का अन्वेषण करे।

६. जं किंचुवक्कमं जाणे आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरद्धाए खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिए।। (आ० ८ (८) : ६)

यदि अपने आयु-क्षेम में किंचित् भी विघ्न मालूम दे तो उसके अंतर काल में पंडित साधक शीघ्र ही भक्त-परिज्ञा आदि को ग्रहण करे।

७. गामे वा अदुवा रण्णे थंडिलं पडिलेहिया।
अप्पपाणं तु विण्णाय तणाइं संथरे मुणी।। (आ० ८ (८) : ७)

ग्राम अथवा अरण्य में प्रासुक भूमि का प्रतिलेखन कर प्राणि-रहित जगह जान कर मुनि तृण बिछावे।

८. अण्णाहारो तुअट्टेज्जा पुट्ठो तत्थहियासए।
णातिवेलं उवचरे माणुस्सेहिं वि पुट्ठओ।। (आ० ८ (८) : ८)

आहार का त्याग कर तृणों पर शयन करे, वहाँ परीषहों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे और मानुषिक उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर मर्यादा का उलंघन न करे।

९. संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा।
भुंजंति मंससोणियं ण छणे ण पमज्जए।। (आ० ८ (८) : ९)

सरीसृप, ऊर्ध्वचर अथवा अधःचर प्राणी मांस को नोचें अथवा शोणित का पान करें। तो उनको न मारे और न उन्हें दूर करे।

१०. पाणा देहं विहिंसंति ठाणाओ ण विउब्भमे।
आसवेहिं विवित्तेहिं तिप्पमाणेऽहियासए।। (आ० ८ (८) : १०)

जीव-जन्तु देह की हिंसा करते हों, तब भी मुनि उस स्थान से अन्यत्र न जावे। हिंसा आदि आस्रवों से दूर रहकर तुष्ट हृदय से कष्टों को सहन करे।

११. गंथेहिं विवित्तेहिं आउकालस्स पारए।
पग्गहियतरगं चेयं दवियस्स वियाणतो।। (आ० ८ (८) : ११)

बाह्य और अभ्यन्तर ग्रंथियों से दूर रहकर समाधिपूर्वक आयुष्य को पूरा करे। गीतार्थ संयमी के लिए यह दूसरा इंगित-मरण विशेष ग्राह्य है।

१२. अयं से अवरे धम्मे णायपुत्तेण साहिए।
आयवज्जं पडीयारं विजहिज्जा तिहा तिहा।। (आ० ८ (८) : १२)

ज्ञातपुत्र के द्वारा अच्छी तरह कहा गया दूसरा इंगति-मरण धर्म है, इसमें खुद को छोड़ अन्य से प्रतिचार (सेवा) कराने का त्रियोग से त्याग करे।

१३. हरिएसु ण णिवज्जेज्जा थंडिलं मुणिआ सए।
विउसिज्ज अणाहारो पुट्ठो तत्थहियासए।। (आ० ८ (८) : १३)

मुनि हरित—दूर्वादियुक्त—भूमि आदि पर न सोए भूमि को प्राशुक जानकर सोए। शरीर का व्युत्सर्ग कर अनशन करे। वहाँ उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे।

१४. इंदिएहिं गिलायंते समियं साहरे मुणी।
तहावि से अगरिहे अचले जे समाहिए।। (आ० ८ (८) : १४)

(निराहार के कारण) इन्द्रियों के ग्लान होने पर मुनि चित्त के स्थैर्य को रखे।इंगित-मरण में अपने स्थान में हलन-चलन आदि करता हुआ वह निंद्य नहीं होता, यदि वह भावना में अचल और समाहित होता है।

१५. अभिक्कमे पडिक्कमे संकुचए पसारए।
कायसाहारणट्ठाए एत्थ वावि अचेयणे।। (आ० ८ (८) : १५)

इंगित-मरण में मुनि काया को सहारा देने के लिए चंक्रमण करे, टहले, अंगोपांगों को संकुचित करे, प्रसारित करे अथवा इसमें भी अचतेन—जड़वत् निश्चल रहे।

१६. परक्कमे परिकिलंते अदुवा चिट्ठे अहायते।
ठाणेण परिकिलंते णिसीएज्जा य अंतसो।। (आ० ८ (८) : १६)

परिक्लान्त होने पर वह टहले अथवा यथावत् खड़ा रहे। यदि खड़ा रहने से परिक्लान्त हो तो वह अन्त में पुनः बैठे।

१७. आसीणे णेलिसं मरणं इंदियाणि समीरए।
कोलवासं समासज्ज वितहं पाउरेसए।। (आ० ८ (८) : १७)

अनुपम मरण में आसीन मुनि इन्द्रियों को विषयों से हटावे, घुनवाले पाटे के प्राप्त होने पर अन्य जीवरहित पाटे की गवेषणा करे।

१८. जओ बज्जं समुप्पज्जे ण तत्थ अवलंबए।
ततो उक्कसे अप्पाणं सव्वे फासेहियासए।। (आ० ८ (८) : १८)

जिससे पाप की उत्पत्ति हो, उसका अवलम्बन न करे। पाप-कार्यों से बच अपनी आत्मा का उत्कर्ष करे। परीषहों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे।

१९. अयं चाययतरे सिया जो एवं अणुपालए।
सव्वगायणिरोधेवि ठाणातो ण विउब्भमे।। (आ० ८ (८) : १९)

अब आगे कहा जानेवाला पादोपगमन मरण इंगित-मरण से भी बढ़कर है। जो इसका पालन करता है, वह सारे अंगों के जकड़ जाने पर भी अपने स्थान से किंचित्मात्र भी नहीं हटता।

२०. अयं से उत्तमे धम्मे पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।
अचिरं पडिलेहित्ता विहरे चिट्ठ माहणे।। (आ० ८ (८) : २०)

यह आत्मधर्म पादापगमन-मरण पूर्व-कथित मरणों से भी विशेष रूप से ग्राह्य है। प्रासुक भूमि को देखकर माहन—मुनि, वहीं रह पादोपगमन मरण का पालन करे।

२१. अचित्तं तु समासज्ज ठावए तत्थ अप्पगं।
बोसिरे सव्वसो कायं ण मे देहे परीसहा।। (आ० ८ (८) : २१)

अचित्त स्थान को प्राप्त कर वहाँ अपने-आपको स्थित करे। काया को सर्वशः व्युतसर्ग करे और परीषहों के आने पर सोचे—मेरे शरीर में परीषह नहीं हैं।

२२. यावज्जीवं परीसहा उवसग्गा य संखाय।
संवुडे देहभेयाए इति पण्णेहियासए।। (आ० ८ (८) : २२)

जब तक यह जीवन है तब तक ये परीषह और उपसर्ग हैं, ऐसा जानकर-देह-भेद के लिए संवृत, प्राज्ञ उनको समभाव से सहन करे।

२३. भेउरेसु न रज्जेज्जा कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छा-लोभं न सेवेज्जा सुहुमं वण्णं सपेहिया।। (आ० ८ (८) : २३)

वह नश्वर विपुल कामभोगों में रंजित न हो। सूक्ष्म-वर्ण—मोक्ष की ओर दृष्टि रख, वह इच्छा और लोभ का सेवन न करे।

२४. सासएहिं णिमंतेज्जा दिव्वं मायं ण सद्दहे।
तं पडिबुज्झ माहणे सव्वं नूमं विधूणिया।। (आ० ८ (८) : २४)

कोई जीवनपर्यन्त नहीं नाश होनेवाले शाश्वत ऐश्वर्य के लिए निमंत्रित करे, तो भी मुनि उस देव-माया में विश्वास न करे। उसको अच्छी तरह समझ, वह सब प्रपंच का मुत्याग करे।

२५. सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए आउकालस्स पारए।
तितिक्खं परमं णच्चा विमोहण्णतरं हितं।। (आ० ८ (८) : २५)

सब्र इनिद्रय विषयों में मूर्च्छित न होता हुआ, वह आयुष्य को पूर्ण करे। तितिक्षा को परम धर्म समझकर मोहरहित मरणों में से किसी एक को धारण क़रना, अत्यन्त हितकर है।

२६. जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णहिं।
पत्तणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जंति।।
सल्लेहणा विसुद्धा केइ तह चेव विवहसंगेहिं।
संथारे विहरंता वि संकिलिट्ठा विवज्जंति।। (भग०आ० १६७३-७४)

जैसे वणिक् पत्तन (बन्दरगाह) के समीप पहुँकर भी प्रमादवश मूढ़ हो रत्नों से भरी हुई नौका के साथ डूब मरते हैं वैसे ही विशुद्ध सल्लेखनापूर्वक संस्तारक पर आरूढ़ होने पर भी कई राग-द्वेष आदि विविध भाव-परिग्रह द्वारा संक्लिष्ट परिणामों से युक्त होते हुए विनाश को प्राप्त होते हैं।

: ३६ :

श्रमण-शिक्षा

१. अहिंसा और माधुकरी वृत्ति

[१]

१. जावंति लोए पाणा तसा अदुव थावरा।
तें जाणमजाणं वा न हणे णो वि घायए।। (द० ६ : ६)

इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ उन्हें जान या अजान में न मारे न मरवाए।

२. सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गथा वज्जयंति णं।। (द० ६ : १०)

सभी जीव जीने की इच्छा करते हैं, कोई मरना नहीं चाहता। अतः निर्ग्रन्थ निर्दय प्राण-वध का सर्वथा त्याग करते हैं।

३. पुढवि दग अगणि मारुय तणरुक्ख सबीयगा।
तसा य पाणा जीव त्ति इइ वुत्तं महेसिणा।। (द० ८ : २)

पृथ्वी, अप्—जल, अग्नि, वायु, बीज सहित तृण और वृक्ष तथा त्रस प्राणी—ये जीव हैं, ऐसा महर्षि ने कहा है।

४. तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केण एवं भवइ संजए।। (द० ८ : ३)

भिक्षु को मन, वचन और काया से इनके प्रति सदा अहिंसक होना चाहिए। इसी प्रकार अहिंसक रहनेवाला संयत होता है।

५. पुढविकायं न हिंसति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया।। (द० ६ : २६)

सुसमाहित संयमी मन, वचन और काया रूप तीनों योगों से तथा कृत; कारित और अनुमोदनरूप तीनों करण से पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, और त्रसकाय की हिंसा नहीं करते।

६. पुढविकायं विहिंसंतो हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे।। (द० ६ : २७)

पृथ्वीकाय, (अप्काय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और तसकाय—इन जीवों) की हिंसा करता हुआ प्राणी उनके आश्रित अनेक प्रकार के चक्षुओं द्वारा दिखाई देनेवाले या न दिखाई देनेवाले त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

७. तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं।
पुढविकायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए।। (द० ६ : २८)

इसलिए इसे दुर्गतिवर्धक दोष जानकर मुमुक्षु यावज्जीवन पृथ्वीकाय आदि छह प्रकार के जीवों के समारंभ का वर्जन करे।

८. तसे पाणे न हिंसेज्जा वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु पासेज्ज विविहं जगं।। (द० ८ : १२)

मुनि मन, वचन और काया से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे। सर्वभूतों की हिंसा से विरत साधु सारे जगत् को—सर्व प्राणियों को—आत्मवत् देखे।

९. इच्चेयं छज्जीवणियं सम्मद्दिठी सया जए।
दुलहं लभित्तु सामण्णं कम्मुणा न विराहेज्जासि।। (द० ४ : २८)

दुर्लभ रमण-भाव को प्राप्त करके समदृष्टि और सदा यत्न से प्रवृत्ति करनेवाले मुनि इन षट् जीव-निकाय के जीवों की मन, वचन और काया से कभी भी विराधना न करे।

[२]

१०. अट्ठ सुहुमाइं पेहाए जाइं जाणित्तू।
दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सएहि वा।। (द० ८ : १३)

संयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को जानने से सर्व जीवों के प्रति दया—अहिंसा का अधिकारी होता है इन जीवों को भलीभाँति देखकर मुनि बैठे, खड़ा हो और सोए।

११. सिणेहं पुप्फसुहुमं च पाणुत्तिंगं तहेव य।
पणगं बीय हरियं च अंडसुहुमं च अट्ठमं।। (द० ८ : १५)

सूक्ष्म स्नेह—ओस, बर्फ, धँअर आदि, पुष्प, प्राणी, उत्तिंग—चींटी आदि का नगर, पनग—काई, बीज, हरितकाय और अण्डे—ये आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव हैं।

१२. एवमेयाणि जाणित्ता सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं सव्विंदियसमाहिए।। (द० ८ : १६)

साधु इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को जानकर सर्व इन्द्रियों का दमन करता हुआ एवं प्रमादरहित होकर हमेशा सर्व भावों से—तीन करण तीन योग से—इनकी यतना करे।

१३. तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि जीवाण घदणं किच्चा।
पयिारं कादुंजे मा तं चिंतेसु लभसु सदिं।।(भग० आ० ७७८)

तृषा, क्षुधा आदि से पीड़ित होने पर भी जीवों का घात कर तृषा आदि को शान्त करने का विचार मन में भी मत ला। ऐसे दुःख के अवसर पर आगम का स्मरण कर।

१४. रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि।
भोगपरिभोगहेदुं मा हि विचिंतेहि जीववहं।। (भग० आ० ७७६)

रति, अरति, हास्य, भय, उत्सुकता, दीनत्व आदि भाव आत्मा में उत्पन्न होने पर भी भोगोपभोग के लिए तू जीव-वध का विचार मन में भी मत कर।

१५. जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं।। (द० १ : २)

जिस प्रकार भ्रम द्रुम-पुष्पों से थोड़ा रस पीता है—किसी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपने को भी तृप्त करता है (वैसे श्री श्रमण अनेक घरों से सहज उत्पन्न आहार बिना किसी को खिन्न किये थोड़ा-थोड़ा ग्रहण कर जीवन चलता है।)

१६. वयं च वित्तिं लब्भामो न य कोइ उवहम्मई।
अहागडेसु रीयंति पुप्फेसु भमरा जहा।। (द० १ : ४)

(भिक्षु की प्रतिज्ञा होती है)—"हम इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो।" श्रमण यथाकृत—गृहस्थ के यहाँ सहज रूप से बना आहार लेते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पों से रस।

१७. एइंदियादिपाणा पंचविधावज्जभीरुणा सम्मं।
ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ।। (मू० २८६)

पाँच प्रकार के पापों से डरनेवाले पुरुष को सम्यक् आचरण करते हुए सर्वत्र एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय प्राणियों को कभी भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। यही अहिंसा महाव्रत है।

२. अपरिग्रह और असंग्रह

[१]

१. अब्भंतरबाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि।
कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं।।

(भग० आ० १११७)

हे क्षपक ! तू संपूर्ण अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहों का मन, वचन और काया से तथा कृत, कारित और अनुमोदन से त्याग कर।

२. मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा।।

(भग० आ० १११८)

मिथ्यात्व, तीन वेद (स्त्री वेद, पुरुष वेद नपुंसक वेद), छः दोष (हास्य, रति, अरति, शोच, भय, जुगुप्सा) और चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं।

३. बाहिरसंगा खेत्तं वत्थं धणधण्णकुप्पभंडाणि।
दुपयचउप्पय जाणामि चेव सयणासणे य तहा।।

(भग० आ० १११९)

क्षेत्र वास्तु, धन, धान्य, कुप्य-भांड, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन और आसन—ये दस बाह्य परिग्रह हैं।

४. लूहवित्ती सुसंतुट्ठे अप्पिच्छे सुहरे सिया।
आसुरत्तं न गच्छेज्जा सोच्चाणं जिणसासणं।। (द० ८ : २५)

भिक्षु, रूक्षवृत्ति, सुसंतुष्ट, अल्प इच्छावाला और थोड़े आहार से तृप्त होनेवाला हो। जिन-शासन को सुनकर वह कभी असुरवृत्ति को धारण न करे—क्रुद्ध न हो।

५. ण य होदि संजदो वत्थमित्तचागेण सेससंगेहिं।
तह्मा आचेलक्कं चाओ सव्वेसि होइ संगाणं।। (भग० आ० ११२४)

यदि अन्य सारे परग्रिह हैं तो केवल वस्त्र मात्र के त्याग से कोई संयती नहीं होता। अतः सभी परिग्रह का त्याग ही अचेलकत्व है।

६. अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं। (द० ६ : २१)

बुद्ध पुरुष अधिक क्या अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नहीं रखते।

७. परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि।।
(प्र० सा० ३ : ३६)

जिस पुरुष का शरीर आदि में एक परमाणु के बारबर भी ममत्व है वह समस्त आगमों का जाननेवाला होने पर भी मुक्ति को प्राप्त नहीं करता।

८. किं किंचणत्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहोवि।
संगोत्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा।।
(प्र० सा० ३ : २४)

जिनवर भगवान् ने पुनर्जन्म को न चाहनेवाले मुमुक्षु को अपने शरीर के प्रति भी 'यह परिग्रह है' ऐसा मान कर उपेक्षा करने का ही उपदेश किया है ऐसी स्थिति में यह विचार होता है कि क्या कुछ परिग्रह है?

९. णिस्संगो चेव सदा कसायल्लेहणं कुणदि भिक्खू।
संगा हु उदीरंति कसाए अग्गीव कठ्ठाणि।।
(भग० आ० ११७५)

जो परिग्रह-रहित है वही भिक्षु सदा अपने कषाय को क्षीण कर सकता है। जो परिग्रही है, उसकी कषायें वैसे ही उद्दीप्त होती रहती है जैसे काष्ठ से अग्नि।

१०. गंथच्चाओ इदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स।
णयरस्स खाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं।। (भग० आ० ११६८)

जिस प्रकार हाथी के नियंत्रण के लिए अंकुश होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के नियंत्रण के लिए अपरिग्रह है जिस प्रकार नगर की रक्षा के लिए खाई जाती है, उसी प्रकार इन्द्रिय-गुप्ति के लिए अपरिग्रह है।

[२]

११. सन्निहिं च न कुव्वेजजा अणुमायं पि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे हवेज्ज जगनिस्सिए।। (द० ८ : २४)

संयमी मुनि अणुमात्र भी संग्रह न करे। वह मुधाजीवी, असंबद्ध और जगत् (लोगों) पर—आश्रित हो।

१२. लोभस्सेसो अणुफासो मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से।। (द० ६ : १८)

संग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है। जो किसी भी वस्तु के संग्रह की कामना करता है, वह गृहस्थ है, साधु नहीं। ऐसा मैं मानता हूँ।

१३. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए।। (उ० ६ : १५)

संयमी मुनि लेप मात्र भी संचय न करे। पक्षी की भाँति दूसरे दिन का ध्यान न रखते हुए पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे।

३. ब्रह्मचर्य-समाधि

१. अबंभचरियं घोरं पमायं दुरहिट्ठियं।
नायरंति मुणी लोए भेयाययणवज्जिणो।। (द० ६ : १५)

चरित्र को भंग करनेवाली बातों का वर्जन करनेवाला—उनसे सदा सशंक रहने वाला—मुनि इस लोक में प्रमाद के घर, घोर दुष्परिणाम वाले और असेव्य अब्रह्मर्य का सेवन नहीं करते।

२. मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गिं निग्गंथा वज्जयंति णं।। (द० ६ : १६)

अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महा दोषों की राशि है। अतः निर्ग्रन्थ मुनि सब प्रकार के मैथुन-संसर्ग का वर्जन करते हैं—उनसे दूर रहते हैं।

३. नारीसु नोपगिज्झेज्जा इत्थी विप्पजहे अणगारे।
धम्मं च पेसलं नच्चा तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।। (उ० ८ : १६)

स्त्रियों को त्यागनेवाला अनगार उनमें आसक्त न हो। धर्म को मनोहर जानकर भिक्षु अपनी आत्मा को उसमें स्थापित करे।

४. न रूवलावण्णविलासहासं न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता दट्ठं ववस्से समणे तवस्सी।।
(उ० ३२ : १४)

तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास, प्रिय भाषण, संकेत और कटाक्षपूर्ण दृष्टिपात को चित्त में स्थान न दे और न स्त्रियों को देखने की अभिलाषा करे।

५. कामं तु देवीहि विभूसियाहिं न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो।।
(उ० ३२ : १६)

मन, वचन, और काया से गुप्त जिस परम संयमी को विभूषित देवाग्ङनाएँ भी काम से विह्वल नहीं कर सकती, ऐसे मुनि के लिए भी एकांतवास ही हितकर जानकर स्त्री आदि से रहित एकान्त स्थान में निवास करना ही प्रशस्त कहा है।

६. जउकुम्भे जोइसुवगूढे आसुभितत्ते णासमुवयाइ।
एवित्थियाहिं अणगारा संवासेण णासमुवयंति।।
(सू० १, ४ (१) : २७)

जैसे अग्नि के पास रखा हुआ लाख का घड़ा शीघ्र तप्त होकर नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी तरह स्त्रियों के सहवास से अनगार का संयमरूपी जीवन नाश को प्राप्त हो जाता है।

७. हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णनासविगप्पियं।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए।।[1] (द० ८ : ५५)

अधिक क्या, जिसके हाथ-पैर प्रतिछिन्न हों—कटे हों, जो नकटी और बूची—विकृत अंगवाली हो तथा जो सौ वर्ष की वृद्धा हो वैसी स्त्री के संसर्ग से भी ब्रह्मचारी बचे।

८. जं विवित्तमणाइण्णं रहियं थीजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा आलय तु निसेवए।। (उ० १६ : १)

मुमुक्षु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उस आलय—स्थान में रहे, जो विविक्त, अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित हो।

९. मणपल्हायजणणिं कामरागविवड्ढणिं।
बम्भचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए।। (उ० १६ : २)

ब्रह्मचर्य से अनुरक्त मुनि मन को चंचल करनेवाली और विषय-राग को बढ़ानेवाली स्त्री-कथा का वर्जन करे।

---

१. मू० ६६३।

१०. समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए।। (उ० १६ : ३)

स्त्रियों की संगति, उनके साथ परिचय और उनसे बार-बार बातचीत करने से ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु हमेशा बचे।

११. अंगपच्चंगसंठाणं चारूल्लवियपेहियं।
बम्भचेररओ थीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए।। (उ० १६ : ४)

ब्रह्मचर्य में रत रहनेवाला भिक्षु स्त्रियों के चक्षुग्राह्य अंग-प्रत्यंग, संस्थान—आकार, बोलने की मनोहर मुद्रा और चिंतवन को देखने का वर्जन करे।

१२. कुइयं रुइयं गीयं हसियं थणियकंदियं।
बम्भचेररओ थीणं सोयगिज्झं विवज्जए।। (उ० १६ : ५)

ब्रह्मचर्य में रत पुरुष स्त्रियों के श्रोत्र-ग्राह्य कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, क्रंदन अथवा विषय-प्रेम के शब्दों को सुनने से दूर रहे।

१३. हासं किड्डं रइ दप्पं सहसाऽवत्तासियाणि य।
बम्भचेररओ थीणं नाणुचिंते कयाइ वि।। (उ० १६ : ६)

ब्रह्मचर्य में रत पुरुष पूर्व में स्त्री के साथ भोगे हुए हास्य, क्रीड़ा, रति—मैथुन, दर्प और सहसा वित्तासन आदि के प्रसंगों का कभी भी स्मरण न करे।

१४. पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवजजए।। (उ० १६ : ७)

ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु-विकार को शीघ्र बढ़ानेवाले प्रणीत खान-पान का सदा वर्जन करे।

१५. धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुजेज्जा ब्बम्भचेररओ सया।। (उ० १६ : ८)

ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु गोचरी में धर्मानुसार प्राप्त आहार, जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए नियत समय और मित मात्रा में ग्रहण करे। वह कभी भी अति मात्रा में आहार का सेवन न करे।

१६. विभूसं परिवज्जेज्जा सरीरपडिमण्डणं।
बम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए।। (उ० १६ : ९)

ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु विभूषा और शरीर-संस्कार—बनाव-शृंगार को छोड़ दे। वह कोई भी वस्तु शृंगार—शोभा—के लिए धारण न करे।

१७. सद्दे रुवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए।। (उ० १६ : १०)

ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के इन्द्रियों के विषयों का सदा वर्जन करे।

१८. धम्मारामे चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दंते बम्भचेरसमाहिए।। (उ० १६ : १५)

धैर्यवान् और धर्मरूपी रथ को चलाने में सारथी के समान भिक्षु धर्मरूपी बगीचे में विहार करे। धर्मरूपी बगीचे में आनन्दित रह इन्द्रियों का दमन करता हुआ भिक्षु ब्रह्मचर्य में समाधि प्राप्त करे।

४. रात्रि-भोजन परित्याग

१. अहो निच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जा य लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोयणं।। (द० ६ : २२)

अहो ! साधु पुरुषों के लिए यह कैसा सुन्दर नित्य तपकर्म है जो उन्हें संयम निर्वाह-भर के लिए और केवल एक बार भोजन करना होता है। सब ज्ञानियों ने इस रात्रिभोजन विरमण रूप व्रत का वर्णन किया है।

२. संतिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो कहमेसणियं चरे ? (द० ६ : २३)

संसार में बहुत-से त्रस और स्थावर प्राणी इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे रात्रि में नहीं देखे जा सकते। फिर वह रात्रि में उन्हें न देखता हुआ किस प्रकार एषणीय—निर्दोष आहार को ला या भोग सकेगा।

३. अत्थंगयम्मि आइच्चे पुरत्था च अणुग्गए।
आहारमइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए।। (द० ६ : २८)

सूर्य के अस्त होने से प्रातःकाल सूर्य के पुनः उदय न होने तक सर्व प्रकार के आहारदि की मन से भी इच्छा न करे।

४. तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती।
अट्ठयपवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ।। (मू० २६५)

रात्रिभोजन निवृत्ति का विधान अहिंसा पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए है, जैसे आठ प्रवचन-माताओं और सर्व भावनाओं का।

५. तेसिं पंचण्हंपि य वयाणमावज्जणं च संका वा।
आदविवत्ती अ हवे रादीभत्तप्पसंगेण।। (मू २६६)

रात्रि-भोजन के प्रसंग से मुनि के उन अहिंसादि पाँच महाव्रतों में मलिनता आती है, उनका नाश होता है, गृहस्थों को शंका होती है और आत्म-विपत्ति उत्पन्न होती है।

५. कौन संसार-भ्रमण नहीं करता ?

१. रागद्दोसे य दो पावे पावकम्मपवत्तणे।
जे भिक्खू रुम्भई निच्चं से न अच्छइ मंडले।। (उ० ३१ : ३)

राग और द्वेष—ये दो पाप है, जो ज्ञानावरणीय आदि पाप-कर्मों के प्रवर्त्तक हैं। जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है, वह संसार में नहीं रहता।

२. दण्डाणं गारवाणं च सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयई निच्चं से न अच्छइ मंडले।। (उ० ३१ : ४)

तीन दण्ड[1], तीन गौरव[2] तथा तीन शल्य[3]—इन तीन-तीन का जो भिक्षु नित्य त्याग करता है, वह संसार में नहीं रहता।

३. दिव्वे य जे उवसग्गे तहा तेरिच्छमाणुसे।
जे भिक्खू सहई निच्चं से न अच्छइ मंडले।। (उ० ३१ : ४)

जो मनुष्य देव, तिर्यञ्च और मनुष्य-सम्बन्धी उपसर्ग—परीषहों को सदा सहता है। वह संसार में नहीं रहता।

---

१. मन-दंड, वचन-दंड और काय-दंड।

२. ऋद्धि का गर्व, रस का गर्व और सात---सुख का गर्व।

३. माया, निदान (फल-कामना) और मिथ्यात्व।

४. विगहाकसायसन्नाणं झाणाणं च दुयं तहा।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं से न अच्छइ मंडले।। (उ० ३१ : ६)

चार विकथा[1], चार कषाय[2], चार संज्ञा[3] और चार ध्यान में से दो ध्यान[4] को जो भिक्षु नित्य टालता है, वह संसार में नही रहता।

५. वएसु इन्यित्थेसु समिईसु किरियासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मंडले।। (उ० ३१ : ७)

जो भिक्षु महाव्रतो[5], समितियों[6], के पालन में, इन्द्रिय-विषयों[7] और क्रियाओं[8] के परिहार में यत्न करता है, वह संसार में नही रहता।

६. मयेसु बम्भगुत्तीसु भिक्खुधम्मंमि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मंडले।। (उ० ३१ : १०)

आठ प्रकार के मद[9]-त्याग, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ती[10] और दस प्रकार के भिक्षु-धर्म[11] के प्रति जो भिक्षु यत्न करता है—वह संसार में नही रहता।

६. समत्व-साधना

१. ण सक्का ण सोउं सद्दा सोयविसयमागता।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।।(आ० चू० २, १५ : ७२)

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। कान में पड़े हुए शब्दों को न सुनना शक्य नहीं है। भिक्षु कान में पड़े हुए शब्दों में राग-द्वेष का परित्याग करे।

---

१. राजकथा, देशकथा, भोजकथा और स्त्रीकथा।
२. क्रोध, मान, माया और लोभ।
३. आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा।
४. आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान—इन चार में से प्रथम दो।
५. पाँच महाव्रत। इनके लिए देखिए पृ० २३६-२५६।
६. पाँच समितियाँ। इनके लिए देखिए पृ० २६०-२६४।
७. श्रोत, चक्षु, प्राण, रस और स्पर्श—इन पाँच के विषय।
८. कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, परितापनिकी और प्राणातिपातिकी।
९. जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, ऐश्वर्यमद, श्रुतमद और लाभमद।
१०. देखिए पृ० ३१८-३२१।
११. क्षांति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति—निर्लोभता, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

२. णो सक्का रूवमदटठुं चक्खुविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।। (आ० चू० २, १५ : ७३)

रूप चक्षु का विषय है। आँखों के सामने आये हुए रूप को न देखना शक्य नहीं। भिक्षु आँखों के सामने आये हुए रूप में राग-द्वेष का परित्याग करे।

३. णो सक्का ण गंधमग्घाउं णासाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।। (आ० चू० २, १५ : ७४)

गंध नाक का विषय है। नाक के समीप आई गंध को न सूँघना शक्य नहीं। भिक्षु नाक के समीप आई हुई गंध में राग-द्वेष का परित्याग करे।

४. णो सक्का रसमणासाउं जीहाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।। (आ० चू० २, १५ : ७५)

रस जिह्वा का विषय है।। जिह्वा पर आये हुए रस का आस्वाद न लेना शक्य नहीं। भिक्षु जिह्वा पर आये हुएरस में राग-द्वेष का परित्याग करे।

५. णो सक्का ण संवेदेउं फासविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।। (आ० चू० २, १५ : ७६)

स्पर्श शरीर का विषय है। स्पर्श विषय के उपस्थित होने पर उसका अनुभव न करना शक्य नहीं। स्पर्श विषय के उपस्थित होने पर भिक्षु उसमें राग-द्वेष का परित्याग करे।

[२]

६. जे न वंदे न से कुप्पे वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठई।। (द० ५ (२) : ३०)

जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष (गर्व) न लाए। इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्बाध भाव से टिकता है।

७. सयणासण वत्थं वा भत्तपाणं व संजए।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा पच्चक्खे वि य दीसओ।। (द० ५ (२) : २८)

संयमी मुनि सामने दीख रहे शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान न देने वाले पर भी कोप न करे।

८. लद्धे ण होंति तुट्ठा णवि य अलद्धेण दुम्मणा होंति।
दुक्खे सुहेसु मुणिणो मज्झत्थमणाकुला होंति।। (मू० ८१६)

मुनि आहार के मिलने पर प्रसन्न नहीं होते और न मिलने पर मलिन-चित्त नहीं होते। दुःख और सुख में मुनि मध्यस्थ और अनाकुल होते हैं।

६. किं काहदि वणवासो कायंकलेसो विचित्तउववसो।
अज्झयमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।।(नि० सा० १२४)

जो श्रमण समतारहित है, उसके वनवास, काय, क्लेश, विविध उपवास, अध्ययन, मौन आदि से क्या लाभ?

७. ण तस्स जाति व कुलं व ताणं

१. जे यावि अप्पं वसुमं ति मंता संखाय वायं अपरिच्छ कुज्जा।
तवेण वाहं अहिए ति मता अण्णं जणं पस्सति बिंबभूतं।।
एगंतकूडेण तु से पलेइ ण विज्जं मोणपदंसि गोते।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा वसुमण्णतरेण।।
(सू० १, १३ : ८-६)

अपने को संयमी समझकर परमार्थ की परख न होने पर भी जो अपने को ज्ञानी मानता हुआ बड़ाई करता है और मैं तो तप से अधिक हूँ, ऐसा गुमान करता हुआ दूसरे को परछाई की नाँई देखता है, वह कर्म-पाश में जकड़ा जाकर—जन्म-मरण के एकान्त दुःखपूर्ण चक्र में घूमता है। ऐसा पुरुष संयमरूपी सर्वज्ञ मान्य गोत्र में अधिष्ठित नहीं होता। जो मान का भूखा अपनी बड़ाई करता है और संयमधारण करने पर भी अभिमानी होता है, वह परमार्थ को नहीं समझता।

२. जे माहणे खत्तिए जाइए वा तहुग्गपुत्ते तह लेच्छवी वा।
जे पव्वइए खत्तिए परदत्तभोई गोतेण जे थब्भति माणबद्धे।।
ण तस्स जाती व कुलं व ताणं णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।
णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मे ण से पारए होति विमोयणाए।।
(सू० १, १३ : १०-११)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र व लेच्छवी कोई भी हो जिसने घरवार छोड़ प्रव्रज्या ले ली है और दूसरे के दिये हुए भोजन पर ही जीवन चलाता है, ऐसे गोत्राभिमानी को उसकी जाति व कुल शरणभूत—रक्षाभूत नहीं हो सकते। सुआचरति विद्या और चरण—धर्म के सिवा अन्य वस्तु नहीं, जो उसकी रक्षा कर सके। जो घरबार से निकल चुकने पर भी गृही-कर्मों का सेवन करता है, वह कर्म-मुक्त होकर संसार के पार नहीं पहुँचता।

३. णिक्किंचणे भिक्खू सुलूहजीवी जे गारवं होइ सिलोगगामी।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो पुणो-पुणो विप्परियासुवेति।।
(सू० १, १३ : १२)

निष्किंचन और रूखे-सूखे आहार पर जीवन चलाने वाला भिक्षु होकर भी जो मानप्रिय ओर स्तुति की कामना वाला होता है, उसका वेष केवल आजीविका के लिए होता है। परमार्थ को न जानकर वह बार-बार संसार भ्रमण करता है।

४. जे भासवं भिक्खु सुसाहुवादी पडिहाणवं होइ विसारए य।
आगाढपण्णे सुय-भावियप्पा अण्णं जणं पण्णसा परिहवेज्जा।।
एवं ण से होति समाहिपत्ते जे पण्णसा भिकखु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमदावलित्ते अण्णं जणं खिंसति बालपण्णे।।
(सू० १, १३ : १३-१४)

भाषा का जानकार, हित-मित बोलने वाला, प्रतिभगवान् विशारद, स्थिर-प्रज्ञ और आत्मा को धर्म-भाव में लीन रहने वाला—ऐसा भी जो साधु अपनी प्रज्ञा से दूसरे का तिरस्कार करता है, जो लाभ-मद से अवलिप्त हो दूसरे की निन्दा करता है और अपनी प्रज्ञा का अभिमान रखता है वह मूर्ख बुद्धि वाला पुरुष समाधि प्राप्त नहीं कर सकता।

५. पण्णामदं चेव तवोमदं च, णिण्णामए गोयमदं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से।।
(सू० १, १३ : १५)

प्रज्ञा-मद, तप-मद, गोत्र-मद और चौथा आजीविका का मद—इन चारों मदों को नहीं करने वाला भिक्षु सच्चा पण्डित और उत्तम आत्मा वाला होता है।

६. एयाइं मदाइं विगिंच धीरा णेताणि सेवंति सुधीरधम्मा।
ते सव्वगोतावगता महेसी उच्चं अगोतं च गतिं वयंति।।
(सू० १, १३ : १६)

जो धीर पुरुष इन मदों को दूर कर धर्म में स्थिर बुद्धि हो इनका सेवन नहीं करते वे सर्व गोत्र से पार पहुँचे हुए महर्षि उच्च अगोत्र—मोक्ष को पाते हैं।

७. तय सं व जहाइ से रयं इइ संखाय मुणी ण मज्जई।
गोयण्णतरेण माहणे अहऽसेयकरी अण्णेसि इखिणी।।
(सू० १, २ (२) : १)

जिस तरह सर्प काँचली को छोड़ता है उसी तरह सन्त पुरुष पाप-रज को झाड़ देते हैं। यह जानकर मुनि गोत्र या अन्य बातों का अभिमान न करे और न दूसरों की अश्रेयस्कारी निंदा करे।

८. जो परिभवई परं जणं संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया इह संखाय मुणी य मज्जई।।
(सू० १, २ (२) : २)

जो दूसरों का तिरस्कार करता है, वह संसार में अत्यन्त परिभ्रमण करता है। परनिंदा को पापकारी समझकर मुनि किसी प्रकार का मद न करे।

९. जे यावि अणायगे सिया जे वि य पेसगपेसगे सिया।
इद मोणपयं उवट्ठिए णो. लज्जे समयं सया चरे।।
(सू० १, २ (२) : ३)

कोई नौकर का नौकर, तो भी संयम ग्रहण कर लेने पर मुनि परस्पर वंदनादि करने में निःसंकोच भाव हो सदा परस्पर समभाव रखें।

८. उपदेश और चर्चा विधि

[१]

१. संखाए धम्मं च वियागरंति बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति।
ते पारगा दोण्ह विमायणाए संसोधियं पणहमुदाहरंति।।
(सू० १, १४ : १८)

धर्म को अच्छी तरह जानकर जो बुद्ध पुरुष उपदेश देते हैं, वे ही सर्व सशयें का अन्त कर सकते हैं। अपनी और दूसरों की—दोनों की मुक्ति साधने वाले पारगामी पुरुष ही गूढ़ प्रश्नों का सोच-विचार कर उत्तर दे सकते हैं।

२. णो छादए णो वि य लूयएज्जा माणं ण सेवेज्ज पगासणं च।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा।।
(सू० १, १४ : १६)

बुद्ध पुरुष सत्य को नहीं छिपाते, न उसका लोप करते हैं, वे मान नहीं करते, न अपनी बढ़ाई करते हैं। बुद्धिमान होकर वे दूसरों का परिहास नहीं करते और न आशीर्वाद देते हैं।

३. भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणे ण णिव्वहे मंतपएण गोयं।
ण किंचिमिच्छे मणुए पयासुं असाहुधम्माणि ण संवएज्जा।।
(सू० १, १४ : २०)

साधु प्राणियों के विनाश की शंका से सावद्य वचन से घृणा करता है। वह मंत्रविद्या के द्वारा अपने गोत्र—संयम—को नष्ट न करे। लोगों को धर्मोपदेश करता हुआ उनसे किसी चीज की चाह न करे तथा असाधुओं के धर्म का उपदेश न दे।

४. हासं पि णो संधए पावधम्मे ओए तहिय फरुसं वियाणे।
णो तुच्छए णो य विकत्थएज्जा अणाइले या अकसाइ भिक्खू।।
(सू० १, १४ : २१)

साधु हास्य उत्पन्न हो ऐसा शब्द या मन, वचन, काया की चेष्टा न करे। तथ्य होने पर भी दूसरे को कठोर लगने शब्द न कहे। विकथा न करे। वह लोभ आदि कषाय-रहित हो।

५. संकेज्ज या ऽसंकितभाव भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा।
भासादुगं धम्मसमुट्ठितेहिं वियागरेज्जा समयाऽसुपण्णे।।
(सू० १, १४ : २२)

अर्थ आदि के विषय-रहित भी भिक्षु संभल कर बोले। वह विभज्यवाद (स्याद्वादमय) वचन बोले। धर्म में समुपस्थित मनुष्यों में रहता हुआ दो भाषा—सत्य भाषा और व्यवहार का प्रयोग करे। सुप्रज्ञ समभाव से सबको धर्म कहे।

६. अणुगच्छमाणे वितहं ऽभिजाणे तहा तहा साहु अकक्कसेणं।
ण कत्थई भास विहिंसएज्जा णिरुद्धगं वावि ण दीहएज्जा।।
(सू० १, १४ : २३)

कई साधु के अर्थ को ठीक समझा लेते हैं। साधु अकर्कश शब्दों से वस्तु तत्त्व समझावे। कठोर बात न कहे। प्रश्नकर्त्ता की भाषा का उपहास न करे और न छोटे अर्थ को लम्बा करे।

७. अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा या णाइवेलं वएजजा।
से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएजजा से जाणइ भासिउं तं समाहिं।।
(सू० १, १४ : २५)

उपदेशक बुद्ध वचनों को अच्छी तरह सीखे। गूढ़ार्थ जानने के लिए यत्न करे। मर्यादा उपरान्त न बोले। वह दृष्टिवान् ज्ञानियों की दृष्टि न करे। ऐसा उपदेशक ही सच्ची भाव-समाधि जानता है।

८. अलूसए णो पच्छण्णभासी णो सुत्तमत्थं च करेच्च अण्णं।
सत्थारभत्ती अणुवीचि वायं सुयं च सम्मं पडिवादएजजा।।
(सू० १, १४ : २६)

उपदेशक सिद्धान्त का लोप न करे, वह प्रच्छन्न भाषी न हो। वह सूत्र और अर्थ को विकृत न करे परन्तु उनकी अच्छी तरह रक्षा करने वाला हो। वह गुरु के प्रति अच्छी तरह भक्ति रखता हुआ, गुरु की बात का विचार कर सुनी हुई बारत को यथातथ्य कहे।

९. से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ।
आएज्जवक्के कुसले वियत्ते से अरिहइ भासिउं तं समाहिं।।
(सू० १, १४ : २७)

जो आगम सूत्रों को शुद्ध रूप से समझता हो, जो धर्म को यथातथ्य जानता हेा, जो प्रामाणिक बोलता हो, जो कुशल हो तथा विवेकयुक्त हो वही समाधि-साधना (मोक्ष-मार्ग) का उपदेश देने योग्य है।

१०. केसिंचि तक्काए अबुज्झ भावं खुद्दं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आउस्स कालतियारं वघातं लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे।।
(सू० १, १३ : २०)

तर्क से दूसरे के भाव को न समझकर उपदेश करने से दूसरा पुरुष श्रद्धा न कर क्षुद्रता धारण कर सकता है और आयुक्षय भी कर सकता है, इसलिए अनुमान से दूसरे का अभिप्राय समझकर धर्मोपदेश करे।

११. ण पूयणं चेव सिलोय कामे पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते अणाइले या अकसाइ भिक्खू।।
(सू० १, १३ : २२)

भिक्षु धर्मोपदेश के द्वारा अपनी पूजा और स्तुति की कामना न करे तथा किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे एवं सब अनर्थों को टालता हुआ अनाकुल और कषाय-रहित होकर धर्मोपदेश करे।

१२. आयगुत्ते सया दंते छिण्णसोए णिरासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति पडिपुण्णमणेलिसं।। (सू० १, ११ : २४)

जो आत्मगुप्त हैं, सदा इन्द्रि-दमन करने वाला है, छिन्नस्रोत है एवं अनास्रव है एवं अनास्रव है, वही शुद्ध, प्रतिपूर्ण एवं अनुपम धर्म का उपदेश करता है।

[२]

१३. रागदोसाभिभूयप्पा मिच्छत्तेण अभिद्दुया।
अक्कोसे सरणं जंति अंकणा इव पव्वयं।। (सू० १, ३ (३) : १८)

राग और द्वेष से पराजित तथा मिथ्यात्व से व्याप्त अन्यतीर्थी युक्तियों द्वारा बाद करने में असमर्थ होने पर आक्रोश और मारपीट आदि का वैसे ही आश्रय लेते हैं जैसे टङ्कण नामक म्लेच्छ जाति हारकर पहाड़ का आश्रय लेती है।

१४. बहुगुणप्पकप्पाइं कुज्जा अत्तसमाहिए।
जेणण्णे ण विरुज्झेज्जा तेणं तं तं समायरे।। (सू० १, ३ (३) : १६)

आत्म-समाधि में लीन मुनि वाद करते समय ऐसी बातें करें जो अनेक गुण उत्पन्न करने वाली हों। मुनि, प्रतिवादी विरोधी न बने, ऐसा कार्य अथवा भाषण करे।

६. मार्ग-स्थित भिक्षु

१. जहित्तु संगं च महाकिलेसं महंतमोहं कसिणं भयावहं।
परियायधम्मं चऽभिरोयएजा वयाणि सीलाणि परीसहे य।।
(उ० २१ : ११)

मुनि महान् क्लेश और महान् मोह को उत्पन्न करनेवाले कृष्ण और भयावह ममत्व को छोड़कर पर्याय-धर्म (संयम), व्रत और शील परीषहों में अभिसरुचि रखे।

२. अहिंस सच्चं व अतेणगं च तत्तो य बम्भं अपरिग्गाहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ।।
(उ० २१ : १२)

विद्वान् अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और परिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को ग्रहण कर जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करें।

३. सव्वेहिं भूएहिं दयाणकुम्पी खंतिक्खमे संजयबम्भयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयन्तो चरिज्जा भिक्खू सुसमाहिइंदिए य।।
(उ० २१ : १३)

सुसमाहित-इन्द्रिय भिक्षु भूतों के प्रति दयानुकम्पी हो। वह क्षमाशील हो, संयत हो, ब्रह्मचारी हो। वह सर्व सावद्य योग का वर्जन करता हुआ विचरे।

४. कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु।।
(उ० २१ : १४)

मुनि अपने बलाबल को जानकर कालोचित कर्त्तव्य करता हुआ राष्ट्र में विहार करे। वह सिंह की तरह भयानक शब्दों से संत्रस्त न हो। वह अयोग्य वचन सुनकर असभ्य वचन न बोले।

५. अरइरइसहे पहीणसंथवे विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई छिन्नसोए अममे अकिंचणे।। (उ० २१ : २१)

जो रति और अरति को सहन करनेवाला है, जो गृहस्थ के परिचय का नाश कर चुका, जो पापों से विरत है, जो आत्महितैषी है, संयम जिसका प्रधान लक्ष्य है, जो छिन्नशोक है तथा जो ममत्वरहित और अकिंचन है—वही परमार्थ-पदों में—निर्माण-मार्ग पर अवस्थित है।

६. सीओसिणा दंसमसा य फासा आयंका विविहा फुसंति देहं।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं।।
(उ० २१ : १८)

सर्दी, गर्मी, दंश, मशक, कठोर-तीक्ष्ण स्पर्श तथा विविध आतंक आदि अनेक परीषह मनुष्य शरीर को स्पर्श करते हैं। साधु इन सबको बिना किसी विकृति के सहन करे। इस प्रकार वह पूर्व संचित रज का क्षय करे।

७. उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोएज्जा न यावि पूयं गरहं च संजए।।
(उ० २१ : १५)

संयमी मुनि विरोधियों की उपेक्षा करता हुआ विचरण करे। प्रिय और अप्रिय सब सहन करे। जहाँ जो हो सब में अभिरुचि न करे, न पूजा एवं गर्हा की स्पृहा करे।

८. अणेगछन्दाइह माणेवहिं जे भावओ संपगरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइंति भीमा दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा।।
(उ० २१ : १६)

इस लोक में मनुष्य के अनेक अभिप्राय होते हैं। यहाँ देवताओं के, मनुष्यों के और तिर्यंचों के अनेक भयंकर भय-भैरव उत्पन्न होते हैं। भिक्षु उन सबको समभाव से ले और सहन करे।

९. परीसहा दुव्विसहा अणेगे सीयंति जत्था बहुकाया नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्जा भिक्खू संगामसीसे इव नागराया।।
(उ० २१ : १७)

ऐसे अनेक दुःसह परीषह हैं, जिनके सम्मुख बहुत-से कायर पुरुष व्यथित हो जाते हैं, पर भिक्षु उनके उपस्थित होने पर उसी तरह व्यथित नहीं होता, जिस तरह संग्राम के अग्र-मुख पर रहा हुआ नागराज।

१०. जो सहइ हु गामकंटए अक्कोसपहारतज्जणाओ य।
भयभेरवसद्दसंपहासे समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू।।
(द० १० : ११)

जो काँटे के समान चुभनेवाले इन्द्रिय-विषयों, आक्रोश- वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं और वेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दुःख को समभावपूर्वक सहन करता है—वह भिक्षु है।

११. पडिमं पडिवज्जिया मसाणे नो भायए भयभेरवाइं दिस्स।
विविहगुणतवोरए य निच्चं न सरीरं चाभिकंखई जे स भिकखू।।
(द० १० : १२)

जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहण कर अत्यन्त भयजनक दृश्यों को देखकर नहीं डरता, जो विविध गुणों और तपों में रत होता है, जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता, वह भिक्षु है।

१२. पहाय रागं च तहेव दोसं मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।
मेरु व्व वाएणं अकम्पमाणो परीसहे आयुगुत्ते सहेज्जा।।
(द० २१ : १६)

विचक्षण भिक्षु, राग, द्वेष तथा मोह को सतत् छोड़े तथा जिस तरह मेरु वायु से कम्पित नहीं होता उसी तरह आत्मगुप्त परीषहों को अकम्पित भाव से सहन करे।

१३. अणुन्नए नावणए महेसी न यावि पूयं गरहं च संजए।
स उज्जुभावं पडिवज्ज संजए निव्वाणमग्गं विरए उवेइ।।
(द० २१ : २०)

जो न अभिमानी है और न दीनवृत्तिवाला है—जिसका पूजा में उन्नत भाव नहीं और न निन्दा में अवनत भाव है, जो इनमें लिप्त नहीं होता, वह ऋजुभाव को प्राप्त संयमी महर्षि पापों में विरत होकर निर्वाण-मार्ग को प्राप्त करता है।

१४. सन्नाणनाणोवगए महेसी अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरेनाणधरे जसंसी ओभासई सूरिए वंतलिक्खे।।
(द० २१ : २३)

सद्ज्ञान से ज्ञान- प्राप्त महर्षि मुनि अनुत्तर धर्म-संचय का आचरण कर अनुत्तर ज्ञानधारी और यशस्वी होकर अन्तरिक्ष में सूर्य की भाँति चमकता है।

१०. ऋजुधर्मा

१. माता पिता ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
णालं ते मम ताणाए लुप्पंतस्स सकम्मुणा।।
एयमट्ठं सपेहाए परमट्ठाणुगामियं।
णिम्ममो णिरहंकारो चरे भिक्खू जिणाहियं।। (सू० १, ६ : ५-६)

'अपने कर्मों से संसार-चक्रवाल में पीड़ित मेरी—माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, स्त्री और पुत्र भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं'—इस तथ्य को विचार कर परमार्थ का अनुगामी भिक्षु ममता और अहंकार-रहित होकर जिन-कथित धर्म का आचरण करे।

२. संतिमा तहिया भासा जं वइत्ताणुतप्पई।
जं छणं तं ण वत्तव्वं एसा आणा णियंठिया।। (सू० १, ६ : २६)

चार प्रकार की भाषाओं में से तृतीय भाषा (झूठ मिश्रित सत्यभाषा) साधु न बोले। जिसे बोलने से बाद में अनुताप हो वैसी भाषा भी न बोले। जो भाषा छन्न—हिंसाप्रधान हो उसे न बोले। यही निर्ग्रन्थ प्रभु की आज्ञा है।

३. होलावायं सहीवायं गोयवायं च णो वए।
तुमं तुमं ति अमणुण्णं सव्वसो तं ण वत्तए।। (सू० १, ६ : २७)

'होला'वाद, 'सखि'वाद, 'गोत्र'वाद भाषा न बोले। 'तू-तू' आत्मक भाषा न बोले। जो भाषा अमनोज्ञ हो, साधु उसका सर्वशः प्रयोग न करे।

४. अकुसीले सदा भिक्खू णो य संसग्गियं भए।
सुहरूवा तत्थुवसग्गा पडिबुज्झेज्ज ते विदू।। (सू० १, ६ : २८)

भिक्षु स्वयं सदा अकुशील रहे। वह कुशील—दुराचारियों का संसर्ग न करे। कुशीलों की संगति में सुखरूप—अनुकूल विपद रहती है—यह विद्वान पुरुष जाने।

५. अणुस्सुओ उरालेसु जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थऽहियासए।। (सू० १, ६ : ३०)

साधु मनोहर शब्दादि विषयों में अनुत्सुक हो। यतना पूर्वक रहे। अपनी चर्या में अप्रमत्त हो। परीषहों से स्पृष्ट होने पर उन्हें समभावपूर्वक सहन करे।

६. गिहे दीवमपासंता पुरिसादाणिया णरा।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का णावकंखंति जीवियं।। (सू० १, ६ : ३४)

गृह में ज्ञानरूपी दीपक न देख जो पुरुष प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, वे पुरुषानीय—बड़े. से बड़े आश्रय.स्थल हो जाते हैं। ऐसे पुरुष बंधन से मुक्त होते हैं। वे वीर पुरुष असंयममय जीवन की इच्छा नहीं करते।

७. लद्धे कामे ण पत्थेज्जा विवेगे एव माहिए।
आयरियाई सिक्खेज्जा बुद्धाणं अंतिए सया।। (सू० १, ६ : ३२)

काम-भोग प्राप्त हों, तो भी उनकी कामना न करे। ज्ञानियों ने त्यागियों के लिए ऐसा ही विवेक बतलाया है। बुद्ध पुरुष के समीप रहकर मुनि सदा आर्यधर्म (सदाचार) सीखे।

८. अगिद्धे सद्दफासेसु आरंभेसु अणिस्सिए।
सव्वं तं समयातीतं जमेत्तं लवियं बहु।। (सू० १, ६ : ३५)

सत्य मार्ग की गवेषणा करनेवाला पुरुष शब्द, स्पर्श प्रमुख विषयों में अनासक्त रहता है तथा छह काया की हिंसावाले कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करता। जो सब बातें निषेध की गई हैं। वे दर्शन से विरूद्ध होने के कारण निषेध की गई हैं।

९. णिव्वाण-परमा बुद्धा णक्खत्ताण व चंदमा।
तम्हा सया जए दंते णिव्वाणं संधए मुणी।। (सू० १, ११ : २२)

बुद्ध पुरुषों ने निर्वाण को वैसे ही परम श्रेष्ठ कहा है, जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा होता है। अतः मुनि सदा यतनाशील और जितेन्द्रिय रहकर मोक्ष की साधना करे।

१०. वुज्झमाणाण पाणाणं किच्चंताणं सकम्मणा।
आघाति साधुतं दीवं पतिट्ठेसा पवुच्चई।। (सू० १, ११ : २३)

अपने धर्मों से कष्ट पाते हुए तथा संसार.सागर में डूबते हुए प्राणियों के लिए तीर्थंकर धर्म को ही उत्तम द्वीप कहते हैं। उनके द्वारा धर्म को ही प्रतिष्ठा—आधार—कहा गया है।

११. संधए साहुधम्मं च पावधम्मं णिराकरे।
उवाधाणवीरिए भिक्खू कोहं माणं ण पत्थर।। (सू० १, ११ : ३५)

भिक्षु क्षान्ति आदि साधु-धर्मों की वृद्धि करे। पाप धर्म का त्याग करे। तप करने में यथाशक्य पराक्रमी भिक्षु क्रोध और मान का वर्जन करे।

११. विमुक्त

१. अणिच्चमावासमुवेंति जंतुणो पलोयए सोच्चमिदं अणुत्तरं।
विऊसिरे विष्णु अगारबंधणं अभीरु आरंभपरिग्गहं चए।।
(आ० चू० १६ : १)

प्राणी चार गतियों में जो भी आवास प्राप्त करते हैं वह अनित्य है। इस अनुत्तर उपदेश को सुनकर, उस पर विचार कर विद्वान व्यक्ति गृहबंधन का परित्याग करे और निर्भय हो आरंभ और परिग्रह को छोड़े।

२. तहागअं भिक्खु मणंतसंजयं अणेलिसं विण्णु चरंतमेसणं।
तुदंति वायाहि अभिद्दवं णरा सरेहिं संगामगयं व कुंजरं।।
(आ० चू० १६ : २)

उत्तम भावना से भावित अनन्त जीवों के प्रति संयत विद्वान् भिक्षु को अनुपम भिक्षाचर्या करते समय कई मनुष्य, संग्राम में गये हुए हाथी को वाणों से बींधने के समान असभ्य वचनों से व्यथित करते हैं और उस पर अन्य उपद्रव करते हैं।

३. तहप्पगारेहिं जणेहिं हीलिए ससद्दफासा फरुसा उदीरिया।
तितिक्खए णाणि अदट्ठचेयसा गिरिव्व वाएण ण संपवेवए।।
(आ० चू० १६ : ३)

उसी प्रकार लोगों द्वारा तर्जित और कर्कश शब्द और स्पर्श द्वारा व्यथित किया जाता हुआ ज्ञानी भिक्षु इन कष्टों को वैसे ही अदुष्टचित से सहन करे जैसे पर्वत वायु से प्रकम्पित नहीं होता हुआ उसे सहन करता है।

४. उवेहमाणे कुसलेहिं संवसे अकंतदुक्खी तसथावरा दुही।
अलूसए सव्वसहे महामुणी तहा हि से सुस्समणे समाहिए।।
(आ० चू० १६ : ४)

भिक्षु परीषहों को सहन करता हुआ कुशल मुनियों के साथ रहे। अनेक प्रकार के अप्रिय दुःखों से दुःखित त्रस और स्थावर जीवों को किसी प्रकार का परिताप न देता हुआ सर्वसह हो। इस तरह करनेवाला और सर्वसह होने के कारण ही वह महामुनि श्रेष्ठ श्रमण कहा जाता है।

५. विदू णते धम्मपयं पणुत्तरं विणीयतण्हस्स मुणिस्स झायओ।
समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा तवो य पण्णा य जसो य वड्ढइ।।
(आ० चू० १६ : ५)

अनुत्तर धर्मपदों का अनुसरण करनेवाला, विनीत, विद्वान्, विनीततृष्ण, समाहित और ध्यानयुक्त मुनि के तप, प्रज्ञा और यश उसी तरह वृद्धि को प्राप्त होते हैं जिस तरह अग्नि-शिखा प्रकाश से।

६. सितेहिं भिक्खू असिते परिव्वए असज्जमित्थीसु चएज्ज पूअणं।
अणिस्सिओ लोगमिणं तहा परं ण मिज्जति कामगुणेहिं पंडिए।।
(आ० चू० १६ : ७)

भिक्षु बँधे हुओं में अबद्ध रहे। स्त्रियों में आसक्त न हो। पूजा—सत्कार.सम्मान की इच्छा का त्याग करे। इस लोक तथा परलोक की कामना से रहित हो। पंडित साधु कामगुणों में न फँसे।

७. तहा विमुक्कस्स परिण्णचारिणो धिईमओ दुक्खखमस्स भिक्खुणो।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं समीरियं रुप्पमलं व जोइणा।।
(आ० चू० १६ : ८)

इस तरह विमुक्त तथा विवेकपूर्वक आचरण करनेवाले उस धृतिमान और दुःखसह भिक्षु से पूर्वकृत सारे पाप कर्म उसी तरह दूर हो जाते हैं जिस तरह अग्नि के ताप द्वारा चाँदी का मैल।

८. से हु प्परिण्णा समयंमि वट्टइ णिराससे उवरय-मेहुणे चरे।
भुजंगमे जुण्णतयं जहा जहे विमुच्चइ से दुहसेज्ज माहणे।।
(आ० चू० १६ : ६)

विवेक और ज्ञान के अनुसार चलनेवाला, आशंसा-आकांक्षा रहित और मैथुन से उपरत वह माहन—किसी की हिंसा न करनेवाला मुनि जिस तरह सर्प जीर्ण काँचली को छोड़ता है, उसी तरह दुःखशय्या से मुक्त हो जाता है।

९. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं।
अहे य ण परिजाणाहि पंडिए से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चइ।।
(आ० चू० १६ : १०)

अपार सलिल से भरे महासमुद्र को भुजाओं से तैरना कठिन होता है वैसे ही संसार का पार पाना कठिन कहा गया है। उस संसार के स्वरूप को जानकर ज्ञानी उसका त्याग करे। जो ऐसा करता है, वह मुनि ही अन्तकृत (संसार का अन्त लानेवाला) कहलाता है।

१०. जहा हि बद्धं इह माणवेहि य जहा य तेसिं विमोक्ख आहिओ।
अहा तहा बंधविमोक्ख जे विऊ से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चइ।।
(आ० चू० १६ : ११)

इस संसार में मनुष्य द्वारा जिस तरह कर्मों का बन्धन होता है, उसी तरह उस बंधन से उसकी मृत्यु भी कही गई है। बंध और मोक्ष की प्रक्रिया के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला वह मुनि अन्तकृत कहा गया है।

११. इमंमि लोए परए य दोसुवि ण विज्जइ बंधण जस्स किंचिवि।
से हु णिरालंबणे अप्पइट्ठिए कलंकली भावपहं विमुच्चइ।।
(आ० चू० १६ : १२)

जिसे इस लोक और परलोक दोनों में किंचित् भी बंधन नहीं है तथा जो सर्व पदार्थों की आकांक्षा से रहित—निरालंब और अप्रतिबद्ध है वह कलंकलीभूत जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो जाता है।

१२. निर्मोह

१. विजहित्तु पुव्वसंजोगं न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा।
असिणेह सिणेहकरेहिं दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू।। (उ० ८ : २)

पूर्व संयोगों को छोड़ चुकने पर फिर किसी भी वस्तु में स्नेह न करे। स्नेह (मोह) करनेवालों के साथ भी निःस्नेह (निर्मोह) होता है, वह भिक्षु दोष-प्रदोषों से मुक्त हो जाता है।

२. दुपरिच्चया इमे कामा नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह संति सुव्वया साहू जे तरंति अतरं वणिया व।। (उ० ८ : ६)

ये काम दुस्त्यज हैं। अधीर पुरुषों द्वारा सहज में त्याज्य नहीं। जो सुव्रती साधु होते हैं, वे इन दुस्तर कामभोगों को उसी तरह तैर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्र को।

३. समणा मु एगे वयमाणा पाणवहं मिया अयाणंता।
मंदा निरयं गच्छंति बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं।। (उ० ८ : ७)

हम साधु हैं—ऐसा कहनेवाले पर प्राणी-वध में पाप नहीं जाननेवाले मृग के समान मन्द-बुद्धि पुरुष अपनी पापपूर्ण दृष्टि से नरक में जाते हैं।

४. न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
एवारिएहिं अक्खायं जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो।।(उ० ८ : ८)

जिन आर्यों ने इस साधु.धर्म का कथन किया है, उन्होंने कहा है कि प्राणि.वध का अनुमोदन करनेवाला अवश्य ही कभी भी सर्व दुःखों से नहीं छूट सकता।

५. इहजीवियं अणियमेत्ता पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।
ते कामभोगरसगिद्धा उववज्जंति आसुरे काए।। (उ० ८ : १४)

जो इस जन्म में जीवन को वश में न रख समाधियोग से परिभ्रष्ट होते हैं,, वे काम-भोग और रसों में गृद्ध जीव असुरकाय में उत्पन्न होते हैं।

६. तत्तो वि य उवट्टित्ता संसारं बहुं अणुपरियडंति।
बहुकम्मलेवलित्ताणं बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं।। (उ० ८ : १५)

वहाँ से निकल जाने पर भी वे संसार में बहु पर्यटन करते हैं। बहुत कर्मों के लेप से लिप्त उनके लिए पुनः बोधि का पाना अत्यन्त दुर्लभ होता है।

१३. शैक्ष-बोध

१. गंथं विहाय इह सिक्खमाणो उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे जे छेए से विप्पमादं ण कुज्जा।।
(सू० १, १४ : १)

आत्मार्थी संसार में आत्म-कल्याण के लिए उद्यत हो धन-धान्यादि का त्याग करे। (नव प्रव्रजित साधु) धर्म-शिक्षा का बोध पाता हुआ, ब्रह्मचर्य का अच्छी तरह पालन करे। वह गुरु की आज्ञा का पालन करता हुआ विनय सीखे। निपुण साधु कभी भी प्रमाद न करे।

२. सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि अणासवे तेसु परिव्वाएज्जा।
णिद्दं च भिक्खू ण पमाय कुज्जा कहं कहं वी वितिगिच्छ तिण्णे।।
(सू० १, १४ : ६)

मधुर या भयंकर शब्दों को सुनकर शिष्य उनमें राग-द्वेष रहित होकर विचरे। साधु निद्रा और प्रमाद न करे और किसी विषय में भ्रम होने पर हर उपाय से मन की डाँवा-डोल स्थिति से उत्तीर्ण हो।

३. डहरेण वुड्ढेण ऽणुसासिते तु रातिणिएणाऽवि समव्वएणं।
सम्मं तयं थिरतो णाभिगच्छे णिज्जंतए वावि अपारए से।।
(सू० १, १४ : ७)

जो बालक या वृद्ध, बड़े या समवस्क साधु द्वारा भूल सुधार के लिए कहे जाने पर अपने को सम्यक् रूप से स्थिर नहीं करता है, वह संसार-प्रवाह में बह जाता है और उसका पार नहीं पा सकता।

४. विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे डहरेण वुड्ढेण ऽणुसासिते तु।
अब्भुट्ठिताए घडदासिए वा अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे।।
ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेजा ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा।।
(सू० १, १४ : ८-६)

परतीर्थिक आदि द्वारा, किसी दूसरे छोटे, बड़े या समवस्क द्वारा, अत्यन्त.हल्का काम करनेवाली दासी या घटवासी द्वारा अथवा गृहस्थ द्वारा भी अर्हत्-दर्शन की ओर अनुशासित किया हुआ साधु उन पर क्रोध न करे और न उन्हें पीड़ित करे। वह उनके प्रति कटु शब्द न कहे, पर 'मैं अब से ऐसा ही करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करे। वह यह सोचकर कि यह मेरे स्वयं के भले के लिए है, कभी प्रमाद न करे।

५. वणंसि मूढस्स जहा अमूढा मग्गाणुसासंति हितं पयाणं।
तेणा वि मज्झं इणमेव सेयं जं मे बुधा सम्मऽणुसासयंति।।
(सू० १, १४ : १०)

वन में दिग्मूढ़ मनुष्य को दिशा-निर्देश करनेवाला अमूढ़ मनुष्य जैसे उसका हित करता है, उसी तरह मेरे लिए भी यह श्रेयस्कर है कि बुद्ध पुरुष शिक्षा देते हैं।

१४. अनासक्ति

१. अण्णयपिंडेणऽहियासएज्जा णो पूयणं तवसा आवहेज्जा।
सद्देहि रूवेहि असज्जमाणे सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं।।
(सू० १, ७ : २७)

साधु अज्ञात पिण्ड से जीवन चलावे। तपस्या के द्वारा पूजा की इच्छा न करे। वह शब्द और रूप में आसक्त न हो और सर्व कामना से चित्त को हटावे।

२. सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणं।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा।।
(सू० १, ७ : २८)

धीर भिक्षु सब सम्बन्धों को छोड़कर सब प्रकार के दुःखों को सहन करता हुआ चारित्र में सम्पूर्ण होता है। वह अगृद्ध और अप्रतिबंध-विहारी होता है। वह प्राणियों को अभय देता हुआ विषयों में अनाकुल रहता है।

३. भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा संगामसीसे व परं दमेज्जा।।
(सू० १, ७ : २६)

मुनि संयम-भार के निर्वाह के लिए आहार करे। वह पूर्व पापों के विनाश की इच्छा करे। परीषह या उपसर्ग आ पड़ने पर धर्म में ध्यान रखे। जैसे सुभट युद्धभूमि में शत्रु को दमन करता है, उसी तरह वह अपनी आत्मा का दमन करे।

४. अवि हम्ममाणे फलगावतट्टी समागमं कंखइ अंतगस्स।
णिद्धूय कम्मं ण पवंचुवेइ अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि।।
(सू० १, ७ : ३०)

हनन किया जाता हुआ साधु छिली जाती हुई लकड़ी की तरह राग-द्वेष रहित होता है। वह शान्त भाव से मृत्यु की प्रतीक्षा करता है। इस प्रकार कर्म-क्षय करनेवाला साधु उसी प्रकार भव-प्रपञ्च में नहीं पड़ता जिस प्रकार गाड़ी धुरा टूटने पर आगे नहीं चलती।

५. सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे रसेसु गंधेसु अदुस्समाणे।
णो जीवियं णो मरणाभिकंखे आयाणगुत्ते वलया विमुक्के।।
(सू० १, १२ : २२)

मनोहर शब्द और रूप में आसक्त न होता हुआ, बुरे रस और गन्ध में द्वेष न करता हुआ तथा जीने और मरण की इच्छा न करता हुआ साधु संयम से गुप्त और माया से रहित रहे।

६. ण य संखयमाहु जीवियं तह वि य बालजणो पगब्भई।
बाले पावेहि मिज्जई इइ संखाय मुणी ण मज्जई।।
(सू० १, २ (२) : २१)

यह जीवन साँधा नहीं जा सकता—ऐसा कहा गया है, तो भी मूर्ख प्राणी प्रगल्भता वश पाप करते रहते हैं। मूर्ख पापों के ढँक जाता है—यह जानकर मुनि मद न करे।

१५. बहु खु मुणिणो भद्दं

१. सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण।। (उ० ६ : १४)

वे हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, सुखपूर्वक रहते और सुख से जीते हैं। मिथिला जल रही है, उसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।

२. चत्तपुत्तकलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि अप्पियं पि न विज्जए।। (उ० ६ : १५)

जो भिक्षु पुत्र और कलत्र को छोड़ चुका और जो व्यापार से रहित है, उसके लिए कोई चीज प्रिय नहीं होती और न कोई अप्रिय।

३. बहुं खु मुणिणो भद्दं अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स एगंतमणुपस्सओ।। (उ० ६ : १६)

जो सर्व प्रकार से मुक्त है, 'कोई किसी का नहीं होता'—इस प्रकार एकान्तदर्शी है, जो गृह-मुक्त है, जो भिक्षु है, उस मुनि को सदा विपुल भद्र (कल्याण) है।

४. छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरप्पमत्तो तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं।।
(उ० ४ : ८)

स्वच्छन्दता के विरोध से जीव उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है जिस प्रकार शिक्षित कवचधारी योद्धा युद्ध में विजय। अतः मुनि पूर्व जीवन में अप्रमत्त होकर रहे। ऐसा कार्य करने से वंचित कर्मों से छुटकारा पाकर वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है।

५. मंदा य फासा बहु-लोहणिज्जा तह-प्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं।।
(उ० ४ : १२)

बुद्धि को मन्द करनेवाले और बहुत लुभानेवाले स्पर्शों में साधु अपने मन को न लगावे। क्रोध को दूर से ही छोड़े, मान को जीते, कपट का सेवन न करे और लोभ को छोड़ दे।

६. मुहुं मुहुं मोह-गुणे जयंतं अणेग-रूवा समणं चरंतं।
फासा फुसंतो असमंजसं च न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से।।
(उ० ४ : ११)

बार-बार मोह.गुण को जीतकर चलनेवाले श्रमण को जीवन में अनेक प्रकार के दुःखदायी स्पर्श पीड़ित करते हैं। भिक्षु उन पर मन से भी प्रद्वेष न करे।

---

१. राजर्षि नमि, जो एक समय मिथिला के स्वामी थे, का साधु होने के बाद इन्द्र के प्रति यह कथन है। 'मिथिला जल रही है' ऐसा दृश्य बताकर इन्द्र नमि से कहता है कि तुम वापस जाओ और मिथिला को पूर्ववत् सम्हालो। नमि राजर्षि इसका उत्तर दे रहे हैं।

१६. निर्ग्रन्थ

१. पंचासवपरिन्नाया तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा निग्गंथा उज्जुदंसिणो।। (उ० ३ : ११)

निर्ग्रन्थ पंचास्रव का निरोध करने वाले, तीन गुप्तियों से गुप्त, छह प्रकार के जीवों के प्रति संयत, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले तथा धीर और ऋजुदर्शी होते हैं।

२. आयावयंति गिम्हेसु हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिया।। (उ० ३ : १२)

सुसमाहित संयमी निर्ग्रन्थ, ग्रीष्मकाल में सूर्य की आतापना लेते हैं, शीतकाल में अप्रावृत अथवा अल्पाच्छन्न होते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन—इन्द्रियों को वश में कर अंदर रहते हैं।

३. परीसहरिऊदंता धुयमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो।। (उ० ३ : १३)

महर्षि निर्ग्रन्थ परीषहरूपी शत्रुओं को जीतने वाले, धुतमोह और जितेन्द्रिय होते हैं तथा सर्व दुःखों के नाश के लिए पराक्रम करते हैं।

४. दुक्कराइं करेत्ताणं दुस्सहाइं सहेत्तु य।
केइत्थ देवलोएसु केई सिज्झंति नीरया।। (उ० ३ : १४)

दुष्कर करनी करते हुए और दुःसह कष्टों को सहते हुए कई निर्ग्रन्थ देवलोक को जाते हैं और कई सम्पूर्णतः निरज—कर्मरज से रहित हो सिद्ध हो जाते हैं।

५. खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता ताइणो परिनिव्वुडा।। (उ० ३ : १५)

त्रायी निर्ग्रन्थ, संयम और तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय कर, सिद्धि-मार्ग को प्राप्त हो, परिनिर्वृत्त—मुक्त होते हैं।

१७. साधु-जीवन-समुच्चय

१. अपरिग्गहा अणिच्छा संतुट्ठा सुट्ठिदा चरित्तम्मि।
अवि णीएवि सरीरे ण करंति मुणी ममत्तिं ते।। (मू० ७८३)

परिग्रह-रहित, इच्छा-रहित, संतोषी, चारित्र में सुस्थित—ऐसे मुनि अपने शरीर में भी ममत्व नहीं करते।

२. वसुधम्मिवि विहरता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु।। (मू० ७६८)

पुत्रों के प्रति माता की तरह सब जीवों के प्रति दया को प्राप्त साधु पृथ्वी पर विहार करते हुए भी किसी जीव को पीड़ित नहीं करते।

३. तो परिहरंति धीरा सावज्जं जेत्तियं किंचिं। (मू० ७६६)

जीव और अजीव को जानकर धीर पुरुष यत्किंचित् भी सावद्य होता है, उसका परिहार करता है।

४. णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु।
अप्पट्ठं चिंतंता हवंति अव्वावडा साहू।। (मू० ८०३)

हिंसा के कारणभूत शस्त्र, दण्ड आदि सब जिन्होंने छोड़ दिए हैं, जो सर्व प्राणियों और भूतों के प्रति सम है, सावद्य व्यापार-रहित हैं, वे श्रमण आत्मार्थ का ही चिंतन करते रहते हैं।

५. उवसंतादीणमणा उवेक्खसीला हवंति मज्झत्था।
णिहुदा अलोलमसठा अविंभिया कामभोगेसु।। (मू० ८०४)

साधु उपशांत, दीनचित्तरहित, उपेक्षाशील, समदर्शी, हाथ.पाँव को संयम में रखने वाले, अलोलुप, अशठ, मायारहित और काम-भोग में अनुत्सुक होते हैं।

६. जिणवयणमणुगणेंता संसारमहाभयंपि चिंतंता।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्ममरणेसु।। (मू० ८०५)

मुनि जिन.वचनों में अत्यन्त प्रीति रखनेवाले, संसार के महाभय का चिंतन करनेवाले, गर्भ में रहने से भयभीत और जन्म-मरण से भी भयभीत होते हैं।

७. दिट्ठपरमट्ठसारा विण्णाणवियक्खणाय बुद्धीए।
णाणकयदीवियाए अगब्भवसदी विमग्गंति।। (मू० ८०७)

जिन्होंने संसार का असली स्वरूप देख लिया है, ऐसे साधु भेदज्ञान में कुशल बुद्धि द्वारा ज्ञानरूपी दीप के सहारे गर्भरहित निवास की खोज करते रहते हैं।

८. भावेंति भावणरदा वइरग्गं वीदरागयाणं च।
णाणेणं दंसणेण य् चरित्तजोएण विरिएण।। (मू० ८०८)

भावना में लीन साधु ज्ञान, दर्शन, चारित्र, ध्यान और वीर्य से युक्त होकर वीतराग पुरुषों के वैराग्य का चिंतन करते हैं।

९. देहे णिरावयक्खा अप्पाणं दमरुई दमेमाणा।
धिदिपग्गहपग्गहिदा छिंदति भवस्स मूलाई।। (मू० ८०९)

देह में ममत्व-रहित, समभाव में रुचिवाले मुनि आत्मा का दमन करते हुए धैर्यरूपी बल से युक्त हो संसार के मूल का छेदन करते हैं।

१०. अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्णू विणीदा य।। (मू० ८३४)

मुनि अभिमानरहित, मदरहित अनुत्सृत लेश्यावाले, गर्वरहित, क्रोधरहित, दांत, मार्दवयुक्त तथा स्वमत-परमत के ज्ञाता और विनयशील होते हैं।

११. ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि। (मू० ८३६)

साधु स्नेह और बंधन को छिन्न करने वाले होते हैं। अतः वे अपने शरीर के प्रति भी निःस्नेह होते हैं।

१२. जं वंतं गिहवासे विसयसुहं इंदियत्थपरिभोये।
तं खु ण कदाइभूदो भुंजति पुणोवि सप्पुरिसा।। (मू० ८५१)

गृह-वास में रूप, रस, गंध, स्पर्श और भोग से उत्पन्न जिन विषय-सुखों को एक बार छोड़ दिया, उन्हें सत्पुरुष फिर कभी भी किसी भी कारण से नहीं भोगते।

१३. भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जये वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा णवि ते भासंति सप्पुरिसा।। (मू० ८५३)

सत्पुरुष विनयरहित, कठोर भाषा का तथा धर्म से विरुद्ध वचनों का वर्जन करते हैं और पूछने अथवा न पूछने पर अन्यथा वचनों को कभी नहीं बोलते।

१४. अच्छीहिंअ पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाय सुणमाणा।
अत्थंति मूमभूया ण ते करंति हु लोइयकहाओ।। (मू० ८५४)

साधु नेत्रों से सब कुछ देखते हुए भी, कानों से बहुत प्रकार की बातों को सुनते हुए भी गूंगे के समान रहते हैं। वे लौकिकी कथा नहीं करते।

१५. विकहाविसोत्तियाणं खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति।
धम्मे लद्धमदीया विकहा तिविहेण वज्जंति।। (मू० ८५७)

मुनि विकथा और मिथ्याशास्त्र का मन से भी चिंतन नहीं करते। धर्म में प्राप्त बुद्धि वाले मुनि विकथा को मन, वचन, काया से छोड़ देते हैं।

१६. णिच्चं च अप्पमत्ता संजमसमिदीसमु झाणजोगेसु।
तवचरणकरणजुत्ता हवंति सवणा समिदपावा।। (मू० ८६२)

श्रमण संयम, समिति, ध्यान, और योगों में प्रमाद-रहित होते हैं। वे तप, चारित्र और करण में उद्यमी होते हैं। पापों के नाश करने वाले होते हैं।

१७. जदिवि य करेंति पावं एदे जिणवयणबाहिरा पुरिसा।
तं सव्वं सहिदव्वं कम्माण खयं करंतेण।। (मू० ८६६)

यद्यपि जिन.वचनों से बाहर ये पुरुष पाप कर्म करते हैं तो भी जिसे कर्मों का नाश करना है, उस साधु को सब उपसर्ग सह लेने चाहिए।

१८. सामयिक

[१]

१. उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं जो अप्पाण भए ण दंसए।।
(सू० १, २ (२) : १७)

उसी के सामायिक कही है, जिसने अपनी आत्मा को ज्ञान आदि के समीप पहुँचा दिया है, जो जीवों का त्राता है, जो शयनासन का सेवन करता है और जो अपनी आत्मा में भय प्रदर्शित नहीं करता।

२. अपडिण्णस्स लवावसक्किणो।
सामाइयामाहु तस्स जं।। (सू० १, २ (२) : २०)

सामायिक उसके कही है, जिसके किसी प्रकार का प्रतिज्ञाफल (कामना) नहीं होता तथा जो कर्म-बंध के हेतु-रूप कार्यों से दूर रहता है।

३. जीविदमरणे लाहालाभे संजोयविप्पओगे य।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामायियं णाम।। (मू० २३)

जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, बंधु-शत्रु में, सुख-दुःख में, उष्ण-समत्व में राग-द्वेष रहित समान परिणाम को ही सामायिक कहते हैं।

४. सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणे।। (मू० ५१६)

सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप—इनसे जीव का जो प्रशस्त समभाव के प्रति गमन है उसको समय कहते हैं। उसी को तुम सामायिक जानो।

[२]

५. विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १२५)

केवली भगवान् के शासन में उसी के सामायिक स्थिर कही कई है, जो सर्व सावद्य योग से निवृत्त है, तीन गुप्तियों से गुप्त हैं और जो इन्द्रियों को जीत चुका है।

६. जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १२७)

केवली भगवान् के शासन में उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में संनिहित है।

७. जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेत्ति दु।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १२८)

केवली भगवान् के शासन में उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जिसमें राग, और द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करते।

८. जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १२९)

केवली भगवान् के शासन में उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जो सदा आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करता है।

९. जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलसासणे।। (नि० सा० १३०)

केवली भगवान् के शासन में उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जो पुण्य और पाप के भावों का सदा वर्जन करता है।

१०. जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १३१)

केवली भगवान् के शासन में उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जो हास्य, रति, शोक और अरति का हमेशा वर्जन करता है।

११. जो दुगंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलसासणे।। (नि० सा० १३२)

केवली भगवान् के शासन में उसी के सामायिक स्थिर में कही गई है, जो जुगुप्सा, भय और वेद—इन सब का हमेशा वर्जन करता है।

१२. जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (नि० सा० १३३)

केवली भगवान् के शासन में उसी के सामायिक स्थिर कही गई है, जो सदा धर्म और शुक्ल ध्यान का ध्याता है।

१६. अनीश्वर

१. गोपालो भंडबालो वा जहा तद्दव्वऽणिस्सरो।
एय अणिस्सरो तं पि सामण्णस्स भविस्ससि।। (उ० २२ : ४५)

जैसे ग्वाल गायों को चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भाण्डपाल धन की संभाल करने से धन का मालिक, वैसे ही केवल वेष के रक्षामात्र से तू साधुत्व का अधिकारी नहीं हो सकेगा।

२. कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ।। (द० २ : १)

जो संकल्प के वश हो पद-पद पर विषाद-युक्त हो जाता है और काम—विषय-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्व का पालन कैसे कर सकेगा?

३. चालणिगयं व उदयं सामण्णं गलइं अणिहुदमणस्स।
कायेण व वायाए जदि पि जधुत्तं चरदि भिक्खू।।
(भग० आ० १३३)

जिसका मन वश में नहीं है, वह साधु भले ही काया और वचन से शास्त्रोक्त विधिपूर्वक संयम का पालन करता हो, पर उसका श्रामण्य वैसे ही जल जाता है, जैसे चालनी में रहा हुआ जल।

४. खंदेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ।
तह भोगत्थं होदि हु संजयपहणं णिदाणेण।।
(भग० आ० १२४७)

निदान करने से मुनि का महान् संयम भोग के लिए ही हो जाता है। उसका श्रामण्य पालन जैसा ही होता है जैसे कोई आसन (बैठने) के लिए भारी शिला को कंधे पर ढोता हो।

: ३७ :

दर्शन

१. समयकत्व-सार

१. णत्थि लोए अलोए वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १२)

ऐसा विश्वास मत रखो कि लोक और अलोक नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि लोक और अलोक हैं।

२. णत्थि जीवा अजीवा वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १३)

ऐसा विश्वास मत रखो कि जीव और अजीव नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि जीव और अजीव हैं।

३. णत्थि पुण्णे व पावे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १६)

ऐसा विश्वास मत रखो कि पुण्य और पाप नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि पुण्य और पाप हैं।

४. णत्थि आसवे संवरे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि आसवे व संवरे वा णेवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १७)

ऐसा विश्वास मत रखो कि आस्रव और संवर नहीं है, पर विश्वास रखो कि आस्रव और संवर हैं।

५. णत्थि वेयणा णिज्जरा वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा एवं सण्णं णिवेसए।।। (सू० २, ५ : १८)

ऐसा विश्वास मत रखो कि वेदना—कर्म-फल और निर्जरा नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि कर्म-फल और निर्जरा हैं।

६. णत्थि बंधे व मोक्खे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा एवं सण्णं णिवेसए।।। (सू० २, ५ : १५)

ऐसा विश्वास मत रखो कि बन्ध और मोक्ष नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि बन्ध और मोक्ष हैं।

७. णत्थि धम्मे अधम्मे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १४)

ऐसा विश्वास मत रखो कि धर्म और अधर्म नहीं है, पर विश्वास रखो कि धर्म और अधर्म हैं।

८. णत्थि किरिया अकिरिया वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : १६)

ऐसा विश्वास मत रखो कि क्रिया और अक्रिया नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि क्रिया और अक्रिया हैं।

९. णत्थि कोहे व माणे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : २०)

ऐसा विश्वास मत रखो कि क्रोध और मान नहीं है, पर विश्वास रखो कि क्रोध और मान हैं।

१०. णत्थि माया व लोभे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : २१)

ऐसा विश्वास मत रखो कि माया और लोभ नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि माया और लोभ हैं।

११. णत्थि पेज्जे व दोसे वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : २२)

ऐसा विश्वास मत रखो कि राग और द्वेष नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि राग और द्वेष हैं।

१२. णत्थि चाउरंते संसारे णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि चाउरंते संसारे एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : २३)

ऐसा विश्वास मत रखो कि चार अन्त—चार गति रूप संसार नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि चार अन्त—चार गति रूप संसार है।

१३. णत्थि सिद्धी असिद्धी वा णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : २५)

ऐसा विश्वास मत रखो कि मोक्ष और अमोक्ष नहीं हैं, पर विश्वास रखो कि मोक्ष और अमोक्ष हैं।

१४. णत्थि सिद्धी णियं ठाणं णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि सिद्धी णियं ठाणं एवं सण्णं णिवेसए।। (सू० २, ५ : २६)

ऐसा विश्वास मत रखो कि सिद्धी—सिद्धों का निर्दिष्ट स्थान नहीं है, पर विश्वास रखो कि सिद्धि-सिद्धों का निर्दिष्ट स्थान है।

२. सम्यक्त्व का महत्त्व

१. सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठो मुणेयव्वो। (द० पा० १६)

जो पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करता है, उसे समयग्दृष्टि जानना चाहिए।

२. सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स।। (द० पा० ७)

जिस पुरुष के हृदय में नित्य समयक्त्व रूपी जल का प्रवाह बहता रहता है, उसके पूर्वबद्ध कर्मरूपी बालु-कणों का आवरण नष्ट हो जाता है।

३. जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।
(द० पा० १०)

जैसे मूल के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के शाखा, पत्र, पुष्प, आदि परिवार की वृद्धि नहीं होती, वैसे ही जो जिन-प्ररूपित समयग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे मूल से विच्छिन्न हैं। उन्हें मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

४. दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं।। (मो० पा० ३६)

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, वही शुद्ध है। समयग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त करता है। जो पुरुष सम्यग्दर्शन से रहित है उसे इच्छित वस्तु—मोक्ष का लाभ नहीं होता।

५. जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।। (द० पा० ११)

जैवे वृक्ष के मूल से शाखा, पत्र आदि परिवारवाला बहुगुणी स्कन्ध उत्पन्न होता है। वैसे ही जिन-दर्शन (सम्यग्दर्शन) को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।

६. सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं।।[1] (द० पा० १६)

श्रेय और अश्रेय को जाननेवाला मनुष्य दुःशील को छोड़ देता है। वह शीलवान् हो जाता है। शील के फलस्वरूप उसे आत्मिक अभ्युदय प्राप्त होता है। उससे फिर वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

७. इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स।।[1] (भा० पा० १४५)

इस प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के गुण और दोष को जानकर सम्यक्त्व रूप रत्न को शुद्ध भाव से धारण करो, जो सम्पूर्ण गुण-रत्नों में उत्तम है और मोक्ष का प्रथम सोपान है।

८. सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।। (द० पा० ५)

सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य भले प्रकार से कठोर तपश्चरण भी करें तो भी हजार करोड़ों वर्षों में भी उन्हें सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

९. सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव।। (द० पा० ४)

जो सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप की आराधना से रहित होने के कारण नरकादि गतियों में ही भ्रमण करते रहते हैं।

१०. दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।। (द० पा० ३)

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे ही भ्रष्ट हैं। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य का निर्वाण नहीं होता। जो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं वे (कालान्तर से) मोक्ष को प्राप्त होते हैं; किंतु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

११. जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुओ लोउत्तरयम्मि चलसवओ।।(भा० पा० १४१)

लोक में जीवरहित शरीर को मुर्दा कहते हैं, किन्तु जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह चलता.फिरता मुर्दा है। मुर्दा लोक में अपूज्य माना जाता है और चलता.फिरता मुर्दा लोकोत्तर पुरुषों में अथवा परलोक में अपूज्य माना जाता है (इसे नीच गति में जन्म लेना पड़ता है)।

---

१. मू० ६०४।

१२. रयणाण महारयणं सव्वजोयाण उत्तमं जोयं।
रिद्धीण महारिद्धि सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं।। (द्वा० अ० ३२५)

सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है। सब योगों में उत्तम योग है। ऋद्धियों में सबसे बड़ी ऋद्धि है। अधिक क्या, यह सम्यक्त्व ही सब सिद्धियों को प्राप्त करानेवाला है।

१३. सम्मत्तगुणपहाणो देविंदणरिंदवंदिओ होदि।
चत्तवओ वि य पावइ सग्गसुहं उत्तमं विविहं।। (द्वा० अ० ३२६)

जो समयक्त्व गुण से प्रधान होता है वह देवेन्द्र तथ नरेन्द्रों द्वारा वन्दनीय होता है। व्रतरहित होने पर भी वह अनेक प्रकार के उत्तम स्वर्गसुखों को प्राप्त करता है।

३. सम्यग्दृष्टि : मिथ्यादृष्टि

२. सम्म विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं।। (र० सा० ४७)

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम से नहीं होते। इसलिए रत्नत्रय के बीच सम्यक्त्व गुण ही उत्कृष्ट है ऐसा जिनवर भगवान् ने कहा है।

३. जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।। (द० पा० २०)

जिनवर भगवान् ने जीव आदि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन कहा है, किन्तु निश्चयनय से आत्मा (का श्रद्धान) ही सम्यक्त्व है।

४. जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केंवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।।(द० पा० २२)

जो किया जा सके उसे करना चाहिए, जिसे करना शक्य न हो उसमें श्रद्धा करनी चाहिए। केवलि भगवान् ने श्रद्धान करनेवाले को सम्यक्त्व कहा है।

५. णिज्जियं दोसं देवं सव्व-जिवाणं दयावरं धम्मं।
वज्जिय.गंथं च गुरु जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी।। (द्वा० अ० ३१७)

जो जीव वीतराग अर्हन्त को देव, सब जीवों की दया को श्रेष्ठ धर्म और निर्ग्रंथ को गुरु मानता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

६. दोस.सहियं पि देवं जीव-हिंसाइ-संजुदं धम्मं।
गंथासत्तं च गुरुं जा` मण्णदि सो हु कद्दिट्ठी।। (द्वा० अ० ३१८)

जो जीव दोषसहित देव को देव, जीव-हिंसादि से युक्त को धर्म और परिग्रह में आसक्त गुरु को गुरु मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

४. द्रव्य-परिभाषा

१. सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का।। (पंचा० ८)

सत्ता एक है। वह सब पदार्थों में स्थित है। विश्वरूप है। अनन्त पर्यायवाली है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। प्रतिपक्ष सहित है।

२. दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्ज्याइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।। (पंचा० ६)

जो उन-उन अपने स्वभाव के अनुकूल पर्यायों को प्राप्त करता है, उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य सत्ता से अभिन्न होता है।

३. दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू।। (पंचा० १०)

सर्वज्ञ ने द्रव्य को सत्ता.लक्षणवाला कहा है, अथवा जो उत्पाद.व्यय.ध्रौव्य से संयुक्त है वह द्रव्य है, अथवा जो गुण और पर्यायों का आश्रय—आधार है, वह द्रव्य है।

४. सदवट्ठिवं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबधो।।(प्र० सा० २ : ७)

द्रव्य का अपने अर्थों में—गुण-पर्यायों में जो परिणमन है, वह ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश से संबद्ध है, वही द्रव्य का स्वभाव है। अपने उस स्वभाव में सदा स्थित रहने से द्रव्य सत् है।

५. ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादोवि य भंगो ण विणा दव्वेण अत्थेण।।(प्र० सा० २ : ८)

बिना व्यय के उत्पाद नहीं होता और बिना उत्पाद के व्यय नहीं होता तथा ध्रौव्य पदार्थ द्रव्य के बिना उत्पाद और व्यय नहीं होते।

६. उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं।। (प्र० सा० २ : ६)

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्याय द्रव्यों में होती है। इसलिए यह निश्चय है कि उत्पाद आदि सब द्रव्यरूप ही हैं।

७. समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एकम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं।। (प्र० सा० २ : १०)

द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक भावों से एकमेक होता है। अतः वे तीनों द्रव्य-स्वरूप ही हैं।

८. उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया।।
(पंचा० ११)

द्रव्य का उत्पाद अथवा विनाश नहीं होता, वह तो सत्स्वरूप है। किन्तु उसी की पर्याय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को करती हैं। अर्थात् द्रव्य दृष्टि से द्रव्य उत्पाद, व्यय रूप नहीं हैं, किन्तु पर्याय की दृष्टि से हैं।

९. पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति।। (पंचा० १२)

पर्यायरहित द्रव्य नहीं है और द्रव्यरहित पर्याय नहीं है। अतः भाव को द्रव्य और पर्याय से अभिन्न कहते हैं।

१०. दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा।। (पंचा० १३)

द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। अतः भाव द्रव्य और गुण से अभिन्न होता है।

११. ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं होदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।
(प्र० सा० २ : १३)

यदि द्रव्य सत् नहीं है तो निश्चय ही असत् है। ऐसी स्थिति में वह द्रव्य कैसे हो सकता है और सत्ता से भिन्न हो सकता है ? इसलिए द्रव्य स्वयं ही सत्स्वरूप है।

१२. दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवजोगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं।। (प्र० सा० २ : ३५)

द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। उनमें से जीव द्रव्य चेतन और उपयोगमय है। पुद्गल आदि पाँच अचेतन द्रव्य अजीव है।

१३. जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।। (नि० सा० ६)

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छः मूल तत्त्व हैं। ये अपने-अपने अनेक गुण और पर्यायों से सहित होते हैं।

५. लोक और द्रव्य

१. जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए।। (उ० ३६ : २)

आकाश के उस भाग को, जिसमें जीव-अजीव दोनों हैं, लोक कहा गया है और उस भाग को, जहाँ केवल अजीव का देश—आकाश ही है और कोई जीव अजीव द्रव्य नहीं, उसे अलोक कहा गया है।

२. धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गलजंतवो।
एस लोगो त्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं।। (उ० २८ : ७)

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल ये पाँच अजीव और छट्ठा जीव ये छः द्रव्य हैं। यह जो षट् द्रव्यात्मक है, वहीं लोक है—ऐसा श्रेष्ठ दर्शन के धारक जिन भगवान् ने कहा है।

३. गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे।। (उ० २८ : ६)

गुण जिसके आश्रित होकर रहें—जो गुणों का आधार हो—उसे द्रव्य कहते हैं। किसी एक द्रव्य का आश्रय कर जो रहें वे गुण हैं तथा द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित होना पर्याय का लक्षण है।

४. गइलक्खणो उ धम्मो अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं।। (उ० २८ : ९)

पदार्थों की गति में सहायक होना यह धर्म का लक्षण है, उनकी स्थिति में सहायक होना यह अधर्म द्रव्य का लक्षण है और सर्व द्रव्यों को अपने में स्थान देना यह आकाश का लक्षण है।

५. वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य।। (उ० २८ : १०)

पदार्थों की वर्त्तना में सहायक होना यह काल का लक्षण है। जीव का लक्षण उपयोग है। जीव ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख से व्यक्त होता है।

६. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं।। (उ० २८ : ११)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।

७. सद्दंधयारउज्जोओ पहा छायातवे इ वा।
वण्णरसगन्धफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं।। (उ० २८ : १२)

शब्द, अंधकार, उद्योत—प्रकाश, प्रभा, छाया, धूप, वर्ण गंध, रस, स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं।

८. एगत्तं च पुहत्तं च संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य पज्जवाणं तु लक्खणं।। (उ० २८ : १३)

एकत्व, पृथकत्व, संख्या, संस्थान, संजोग और विभाग—ये पर्यायों के लक्षण हैं।

६. अजीव

१. रूविणो चेवऽरूवी य अजीवा दुविहा भवे।
अरूवी दसहा वुत्ता रूविणो वि चउव्विहा।। (उ० ३६ : ४)

अजीव दो प्रकार के होते हैं—रूपी और अरूपी। अरूपी अजीव दस प्रकार के कहे गए हैं और रूपी अजीव चार प्रकार के।

२. धम्मत्थिकाए तद्देसे तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए।।
आगासे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव अरूवी दसहा भवे।। (उ० ३६ : ५-६)

धर्मास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश अधर्मास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश; आकाशास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश और अद्धा समय—काल ये सब मिलाकर अरूपी अजीव के दस भेद होते हैं।

३. खंधा य खंधदेसा य तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा रूविणो य चउव्विहा।। (उ० ३६ : १०)

स्कंध—समूची पुद्गलास्तिकाय, उसका देश, उसका प्रदेश और परमाणु ये रूपी अजीव पदार्थ के चार भेद हैं।

४. धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गलजंतवो।। (उ० २८ : ८)

धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनन्त हैं।

५. धम्माधम्मे य दोऽवेए लोगमित्ता वियाहिया।
लोगालोगे य आगासे समए समयखेत्तिए।। (उ० ३६ : ७)

धर्म और अधर्म ये समूचे लोक में व्याप्त हैं। आकाश लोक-अलोक दोनों में विस्तृत—फैला हुआ है और समय-समय क्षेत्र में है।

६. एगत्तण पुहत्तेण खंधा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य भइयव्वा ते उ खेत्तओ।। (उ० ३६ : ११)

अनेक परमाणुओं के एकत्व से स्कंध बनता है। उसके पृथकत्व होने से परमाणु बनते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से वे परमाणु लोक के एक प्रदेश मात्र में और स्कंध एक प्रदेश या समूचे लोक में व्याप्त हैं।

७. धम्माधम्मागासा तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव सव्वद्धं तु वियाहिया।। (उ० ३६ : ८)

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—ये तीनों द्रव्य काल की अपेक्षा अनादि और अनंत हैं अर्थात् सदा काल शाश्वत हैं—ऐसा कहा गया है।

८. समए वि संतइं पप्प एवमेव वियाहिए।
आएसं पप्प साईए सपज्जवसिए वि य।। (उ० ३६ : ६)

समय—काल—भी निरंतर प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अनंत हैं। एक-एक क्षत्र की अपेक्षा से सादि और अंत सहित हैं।

९. संतइं पप्प तेऽणाई अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य।। (उ० ३६ : १२)

प्रवाह की अपेक्षा से पुद्गल अनादि और अनन्त हैं, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि और सांत है।

१०. असंखकालमुक्कोसं एगं समयं जहन्निया।
अजीवाण य रूवीणं ठिई एसा वियाहिया।। (उ० ३६ : १३)

एक स्थान में रहने की अपेक्षा से रूपी अजीव पुद्गलों की स्थिति कम से कम एक और अधिक से अधिक असंख्यात काल की बतलाई है।

११. अणंतकालमुक्कोसं एगं समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीण अतरेयं वियाहियं।। (उ० ३६ : १४)

अजीव रूपी पुद्गलों के अलग-अलग होकर फिर से मिलने का अंतर कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अनन्त काल तक कहा गया है।

१२. वण्णओ गंधओ चेव रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ परिणामो तेसि पंचहा।। (उ० ३६ : १५)

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (आकार) इनकी अपेक्षा से पुद्गलों के परिणाम—अवस्थान्तर भेद—पाँच प्रकार के होते हैं।

७. सिद्ध जीव

१. संसारत्था य सिद्धा य दुविहा जीवा वियाहिया। (उ० ३६ : ४८)

जीव दो तरह के बताए गए हैं—(१) संसारी और (२) सिद्ध।

२. अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं तत्थ गंतूण सिज्झई।। (उ० ३६ : ५६)

सिद्ध अलोक में रुकते हैं। लोक के अग्र भाग में स्थित होते हैं। मनुष्य लोक में शरीर को छोड़ते हैं और लोक के अग्र भाग में जाकर सिद्ध होते हैं।

३. तत्थ सिद्धा महाभागा लोयग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवंच उम्मुक्का सिद्धिं वरगइं गया।। (उ० ३६ : ६३)

महा भाग्यवंत भव-प्रपंच से मुक्त, श्रेष्ठ सिद्धिगति को प्राप्त होनेवाले सिद्ध वहाँ लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं।

४. उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणा तत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे।। (उ० ३६ : ६४)

चरम भव में जीव के शरीर की ऊँचाई होती है, उसके तीन भाग के एक भाग को छोड़कर जो ऊँचाई रहती है, वही उस सिद्ध जीव की ऊँचाई रहती है।

५. एगत्तेण साईया अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया अपज्जवसिया वि य।। (उ० ३६ : ६५)

एक-एक जीव की अपेक्षा से सिद्ध सादि और अंत-रहित हैं। समूचे समुदाय की दृष्टि से सिद्ध अनादि और अंत-रहित हैं।

६. अरूविणो जीवघणा नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहं संपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ।। (उ० ३६ : ६६)

ये सिद्ध जीव अरूपी और जीवनघन हैं। ज्ञान और दर्शन इनका स्वरूप है। जिसकी उपमा नहीं, ऐसे अतुल सुख को वे प्राप्त हैं।

७. लोएगदेसे ते सव्वे नाणदंसणसन्निया।
संसारपारनिच्छिन्ना सिद्धिं वरगइं गया।। (उ० ३६ : ६७)

सर्व सिद्ध जीव लोक के एक देश—भाग विशेष में स्थित हैं। ये केवल ज्ञान और केवल दर्शनमय स्वरूप वाले हैं। ये संसार-समुद्र के पार पहुँचे हुए उत्तम सिद्धि नामक गति को प्राप्त हैं।

८. संसारी जीव

१. जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा।। (पंचा० १०६)

जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और निर्वाण प्राप्त। दोनों ही प्रकार के जीव चैतन्य-स्वरूप और उपयोग लक्षणवाले होते हैं। संसारी जीव देह सहित होते हैं और मुक्त जीव देह-रहित होते हैं।

२. पुढवी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया।
देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं।।
(पंचा० ११०)

जीवसहित पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय अपने आश्रित जीवों को मोह से भरपूर स्पर्श विषय को देती हैं, इनके केवल स्पर्शेन्द्रिय होती है।

३. ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया।। (पंचा० १११)

इनमें से पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावरकाय के संयोग से स्थावर हैं। अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव त्रस हैं, क्योंकि वे गतिशील हैं। ये सभी पाँच प्रकार के जीव मन से रहित एकेन्द्रिय हैं।

४. अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया।। (पंचा० ११३)

अण्डों में बढ़ते हुए और गर्भ में स्थित जीवों और मूर्छित मनुष्यों की जैसी दशा होती है वैसी ही दशा एकेन्द्रियों को जानना। (अर्थात् जैसे अण्डे वगैरह की बढ़ती देखकर उनमें जीव का अस्तित्व जानते हैं, वैसे ही एकेन्द्रियों में भी जानना चाहिए।)

५. संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा।। (पंचा० ११४)

शंबुक, मातृवाह, शंख, सीप, बिना पैर के कृमि, लट वगैरह जो जीव स्पर्श और रस को जानते हैं, वे द्वीन्द्रिय जीव हैं।

६. जूगागुंभीमक्कणपिपीलियाविच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा।। (पंचा० ११५)

जूं, कुम्भी, खटमल, चींटी और बिच्छु आदि कीट स्पर्श, रस और गंध को जानते हैं, इसलिए वे त्रीइन्द्रिय जीव हैं।

७. उद्दंस-मसय-मक्खिय-मधुकरि-भमरा पतंगमादीया।
रूप रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति।। (पंचा० ११६)

डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भंवरा और पतंग वगैरह स्पर्श, रस, गंध और रूप को जानते हैं, अतः वे चतुरिंद्रिय जीव हैं।

८. सुर-णर-णारय-तिरिया वण्ण-रस-प्फास-गंध-सद्दण्हु।
जलचर-थलचर-खचरा बलिया पंचेंदिया जीवा।। (पंचा० ११७)

देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द को जानते हैं। तिर्यंच जलचर, जलचर और नभचर के भेद से तीन प्रकार के हैं। ये सब जीव पंचेन्द्रिय होते हैं। इनमें से कुछ जीव मनोबल सहित होते हैं अर्थात् देव, मनुष्य और नारकी तो मन सहित ही होते हैं, किन्तु तिर्यंच मनसहित भी होते हैं और मनरहित भी होते हैं।

९. संकप्पमओ जीओ सुहदुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
तं चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ।। (द्वा० अ० १८४)

जीव संकल्पमय होता है, संकल्प सुख-दुःखात्मक है। देह में मिला हुआ होने पर भी जीव ही सब जगह सुख-दुःख का अनुभव करता है।

१०. देहेमिलिदो वि पिच्छदि देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं।
देहमिलिदो वि भुंजदि देहमिलिदो वि गच्छेदि।। (द्वा० अ० १८६)

देह से संयुक्त होने पर भी यह जीव आँख से नाना प्रकार के रंगों को देखता है, कानों से नाना प्रकार के शब्दों को सुनता हैं, जीभ से नाना प्रकार के भोजनों का आस्वाद लेता है और देह से मिला हुआ होने पर भी चलता है।

६. कर्मवाद

१. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं नियय‌ऽस्स बंधो संसारहेउं च वयंति बंधं।।
(उ० १४ : १६)

आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है—उनसे नहीं जाना जाता। अमूर्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है। यह निश्चय है कि अज्ञान आदि आत्मा के दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और कर्म-बन्धन ही संसार का कारण कहलाता है।

२. अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहक्कमं।
जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परिवत्तए।। (उ० ३३ : १)

जिन कर्मों[1] से बँधा हुआ यह जीव संसार में परिभ्रमण करता है, वे संख्या में आठ हैं। मैं अनुपूर्वी से यथाक्रम उनका वर्णन करूँगा।

३. नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य।।
नामकम्मं च गोयं च अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं अट्ठेव उ समासओ।। (उ० ३३ : २-३)

(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय—ये संक्षेप में आठ कर्म हैं।[2]

४. सव्वजीवाण कम्मं तु संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धगं।। (उ० ३३ : १८)

सर्व जीव आत्मा से संलग्न छहों दिशाओं में रहे हुए कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्व प्रदेशों के साथ सर्व कर्म सर्व प्रकार से बद्ध होते हैं।

---

१. कर्म का अर्थ साधारण तौर पर 'क्रिया' किया जाता है, परन्तु यहाँ पर कर्म का अर्थ क्रिया नहीं है। जैन परिभाषा में, क्रिया से आत्म-प्रदेशों के साथ जिन पुद्गल-स्कन्धों का सम्बन्ध होता है, उन्हें कर्म कहते हैं। आत्मा के साथ इस प्रकार बँधे हुए जड़ कर्म भिन्न-भिन्न प्रकृति के स्वभाव के होते हैं। समभाव के भेद से कर्मों के ज्ञानावरणीय आदि आठ वर्ग होते हैं।

२. इन आठ कर्मों के अर्थ के लिए देखिए परिच्छेद के अन्त की टिप्पणी पृ० ३७५।

५. जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहि गाहई णो तस्स मुच्चे अपुट्ठवं।।
(सू० १, २ (१) : ४)

इस जगत् में जो भी प्राणी हैं, वे पृथक्-पृथक् अपने-अपने संचित कर्मों से ही संसार में भ्रमण करते हैं और स्वकृत कर्मों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियाँ पाते हैं। फल भोगे बिना उपार्जित कर्मों से प्राणी का छुटकारा नहीं होता।

६. अस्सिं च लोए अदुवा परत्था सयग्गसो वा तह अण्णहा वा।
संसारमावण्ण परं परं ते बंधंति वेयंति व दुण्णियाणि।।
(सू० १, ७ : ४)

इसी जन्म में अथवा पर जन्म में कर्म फल देते हैं। किये हुए कर्म एक जन्म में अथवा सहस्रों—अनेक भवों में भी फल देते हैं। जिस प्रकार वे कर्म किये गए हैं, उसी तरह से अथवा दूसरी तरह से भी फल देते हैं। संसार में चक्कर काटता हुआ जीव कर्मवश बड़े से बड़ा दुःख भोगता है और फिर आर्त्तध्यान कर नये कर्म को बाँधता है। बाँधे हुए कर्मों का फल दुर्निवार्य है।

७. कामेहि य संथवेहि य कम्मसहा कालेण जंतवो।
ताले जह बंधणच्चुए एवं आयुखयम्मि तुट्टई।।
(सू० १, २ (१) : ६)

जिस तरह समय पाकर बन्धन से मुक्त हुआ ताल फल भूमि पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार आयु शेष हो जाने पर मनुष्य मरण को प्राप्त होता है। काम-भोग तथा सम्बन्धियों में आसक्त मनुष्य मरकर अपने कर्मों के साथ परभव में जाता है और उसका फल भोगता है।

८. सव्वे सयकम्मकप्पिया अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिडंति भयाउला सढा जाइजरामरणेहिऽभिद्दुया।।
(सू० १, २ (३) : १८)

सर्व प्राणी अपने कर्मों के अनुसार ही पृथक्-पृथक् योनियों में व्यवस्थित हैं। कर्मों की अधीनता के कारण अव्यक्त दुःख से दुःखित शठ प्राणी जन्म, जरा और मरण से सदा भयभीत और पीड़ित रहते हुए चार गतिरूप संसार-चक्र में भटकते हैं।

९. तेणे जहा संधि-मुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।।
(उ० ४ : ३)

जैसे सेंध के मुंह पर पकड़ा गया पापी चोर अपने कर्मों के कारण छेदा जाता है, उसी तरह से जीव इस लोक या परलोक में अपने कृत कर्मों के कारण ही पीड़ित होता है।

१०. तम्हा एएसि कम्माणं अणुभागे वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव खवणे य जए बुहे।। (उ० ३३ : २५)

अतः इन कर्मों के अनुभाग—फल देने की शक्ति को समझकर बुद्धिमान पुरुष नये कर्मों के संचय को रोकने में तथा पुराने कर्मों के क्षय करने में सदा यत्नवान् रहे।

११. सुक्कमूले जहा रुक्खे सिंचमाणे ण रोहति।
एवं कम्मा ण रोहंति मोहणिज्जे खयं गए।। (दशा० ५ : १४)

जिस तरह मूल सूख जाने के बाद सींचने पर भी वृक्ष हरा-भरा नहीं होता, उसी तरह से मोह कर्म के क्षय हो जाने के बाद कर्म उत्पन्न नहीं होते।

१२. जहा दड्ढाणं बीयाणं ण जायंति पुणअंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा।। (दशा० ५ : १५)

जिस तरह दग्ध बीजों में से पुनः अंकुर प्रगट नहीं होते, उसी तरह से कर्मरूपी बीजों के दग्ध हो जाने से भव-अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं।

१०. लेश्या[1]

१. किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा उ नामाइं तु जहक्कमं।।[2] (उ० ३४ : ३)

यथाक्रम से लेश्याओं के ये नाम हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजस्, (५) पद्म और (६) शुक्ल।

२. पंचासवप्पवत्तो तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारम्भंपरिणओ खुद्दो साहसिओ नरो।।
निद्धंधसपरिणामो निस्संसो अजिइंदिओ।
एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे।।[3] (उ० ३४ : २१-२२)

---

१. प्राणी के उस भाव को लेश्या कहते हैं जिससे जीव अपने-आपको पुण्य और पाप से लिप्त करता है। लिप्पइअप्पीकीरइ एयाए णिय य पुण्यपावं च।
जीवोत्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया।।

२. मिलावें गो०जी० ४६२।

३. उ० से प्रस्तुत लेश्याओं के इस वर्णन के साथ मिलायें दिगम्बर ग्रंथ पंचसंग्रह वर्णित वर्णन। (१ : १४४-१५२)

जो मनुष्य पाँचों आस्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों से अगुप्त है, षट्काय के प्रति अविरत है, तीव्र आरम्भ (सावद्य व्यापार) में संलग्न है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करनेवाला है, लौकिक और पारलौकिक दोषों की शंका से रहित मनवाला है नृशंस है, अजितेन्द्रिय है—जो इन सभी योगों से युक्त है, वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है।

३. इस्साअमरिसअतवो अविज्जमाया अहीरिया य।
गेद्धी पओसे य सढे पमत्ते रसलोलुए साय गवेसए य।।
आरम्भाओ अविरओ खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो नीलसेसं तु परिणमे।।
(उ० ३४ : २३-२४)

जो मनुष्य ईर्ष्यालु है, कदाग्रही है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायावी है, निर्लज्ज है, गृद्ध है, प्रद्वेष करनेवाला है, शठ है, प्रमत्त है, रस.लोलुप है, सुख का गवेषक है, आरम्भ से अविरत है क्षुद्र है, बिना विचारें कार्य करनेवाला है—जो इन सभी योगों से युक्त है, वह नील लेश्या में परिणत होता है।

४. वंके वंकसमायारे नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग ओवहिए मिच्छदिट्ठी अणारिए।।
उप्फालगदुट्ठवाई य तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो काउलेसं तु परिणमे।। (उ० ३४ : २५-२६)

जो मनुष्य वचन से वक्र है, जिसका आचरण वक्र है, कपट करता है, सरलता से रहित है, अपने दोषों को छिपाता है, छद्म का आचरण करता है, मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है, हंसोड है, दुष्ट वचन बोलनेवाला है, चोर है, मत्सरी है—जो इन सभी योगों से युक्त है, वह कापोत लेश्या में परिणत होता है।

५. नीयावित्ती अचवले अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते जोगवं उवहाणवं।।
पियधम्मे दढधम्मे वज्जभीरू हिएसए।
एयजोगममाउत्तो तेउलेसं तु परिणमे।। (उ० ३४ : २७-२८)

जो मनुष्य नम्रता से बर्ताव करता है, अचपल है, माया से रहित है, अकतूहली है, विनय करने में निपुण है, दान्त है, समाधियुक्त है, उपधान (श्रुत अध्ययन करते समय तप) करनेवाला है, धर्म में प्रेम रखता है, धर्म में दृढ़ है, पाप-भीरु है, मुक्ति का गवेषक है—जो इन सभी योगों से युक्त है, वह तेजोलेश्या में परिणत होता है।

६. पयणुक्कोहमाणे य मायालोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा जोगवं उपहाणवं।।

तहा पयणुवाई य उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो पम्हलेसं तु परिणमे।। (उ० ३४ : २६-३०)

जिस मनुष्य के क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त अल्प हैं, जो प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समाधियुक्त है, उपधान करनेवाला है, अत्यल्प भाषी है, उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी योगों से युक्त है, वह पद्मलेश्या में परिणत होता है।

७. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता धम्मसुक्काणि झायए।
पसंतचित्ते दंतप्पा समिए गुत्ते य गुत्तिहिं।।
सरागे वीयरागे वा उपसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे।। (उ० ३४ : ३१-३२)

जो मनुष्य आर्त्त और रौद्र—इन दोनों ध्यानों को छोड़कर धर्म्य और शुक्ल—इन दो ध्यानों में लीन रहता है, प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समितियों से समित है, गुप्तियों से गुप्त है, उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी योगों से युक्त है, वह सराग हो या वीतराग, शुक्ल लेश्या में परिणत होता है।

८. किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ।
पइसइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो।।
(भग० आ० १६०८)

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त लेश्याएँ हैं। इनका त्याग कर मनुष्य अनुत्तर संवेग को प्राप्त होता है।

९. तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि विदुपसत्थाओ।
पडिवज्जेइय कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो।।
(भग० आ० १६०६)

तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएँ हैं। इन्हें क्रमशः प्राप्त कर मनुष्य अनुत्तर संवेग को प्राप्त होता है।

१०. किण्हा नीला काऊ तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो दुग्गइं उववज्जई बहुसो।।
तेऊ पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवों सुग्गइं उववज्जई बहुसो।।
(उ० ३४ : ५६-५७)

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अधर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनों से जीव दुर्गति को प्राप्त होता है।

तेजस् पद्म और शुक्ल—ये तीनों धर्म लेश्याएँ हैं। इन तीनों से जीव सुगति को प्राप्त होता है।

११. तम्हा एयाण लेसाणं अणुभागे वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि।। (उ० ३४ : ६१)

इसलिए इन लेश्याओं के अनुभागों को जानकर मुनि अप्रशस्त लेश्याओं का वर्जन करे और प्रशस्त लेश्याओं को स्वीकार करे।

११. मोक्ष-मार्ग

१. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एव मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं।। (उ० २८ : २)

वस्तु स्वरूप को जानने वाले—परमदर्शी जिनों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुष्टय को मोक्ष-मार्ग कहा है।

२. एयं पंचविहं नाणं दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाणं च सव्वेसिं नाणं नाणीहि देसियं।। (उ० २८ : ५)

सर्व द्रव्य , उन्के सर्व गुण और उनकी सर्व पर्याय के यथार्थ ज्ञान को ही ज्ञानी भगवान ने 'ज्ञान' कहा है। यह ज्ञान पाँच[1] प्रकार से होता है।

३. जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संतेए तहिया नव।। (उ० २८ : १४)

(१) जीव, (२) अजीव, (३) बंध, (४) पुण्य, (५) पाप, (६) आस्रव, (७) संवर, (८) निर्जरा, और (९) मोक्ष—ये नौ तत्त्व—सत् पदार्थ हैं।

४. तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं।। (उ० २८ : १५)

तथ्य भावों के सद्भाव के उपदेश में जो आन्तरिक श्रद्धा—विश्वास करता है, उसे सम्यक्त्व होता है। अन्तःकरण की इस श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा गया है।

५. परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा।। (उ० २८ : २८)

---

१. देखिए पृ० ४१४ टिप्पणी नं० १।

परमार्थ का संस्तव—परिचय, तत्त्वज्ञानी—जो परमार्थ को अच्छी तरह पा चुके उनकी सेवा तथा सन्मार्ग-भ्रष्टता और कुदर्शन का वर्जन—ये ही सम्यक्त्व की श्रद्धा—सत्य श्रद्धान के लक्षणं हैं।

६. निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ठ।।
(उ० २८ : ३१)

(१) निःशंका, (२) निष्कांक्षा, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढदृष्टि, (५) उपवृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना—ये आठ सम्यक्त्व की सच्ची श्रद्धा के अंग हैं।

७. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं।। (उ० २८ : २६)

सम्यक्त्व.विहीन—सच्ची श्रद्धा बिना चारित्र संभव नहीं है, श्रद्धा होने से ही चारित्र होता है। सम्यक्त्व में चारित्र की भजना (विकल्प) है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपत्—एक साथ उत्पन्न होते हैं, और जहां वे युगपत् उत्पन्न नहीं होते, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है।

८. नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।
(उ० २८ : ३०)

जिसके श्रद्धा नहीं है, उसके सम्यक्—सच्चा ज्ञान नहीं होता और सच्चे ज्ञान बिना चारित्र गुण नहीं होते और चारत्रि गणों के बिना कर्म-मुक्ति नहीं होती और कर्म-मुक्ति बिना निर्वाण नहीं होता।

९. नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई।। (उ० २८ : ३५)

ज्ञान से जीव पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से आस्रव का निरोध करता है और तप से कर्मों को झाड़कर शुद्ध होता है।

१०. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयंमग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छंति सोग्गइं।। (उ० २८ : ३)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप--इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव सुगति को जाते हैं।

१२. अज्ञान-क्षय-क्रम

१. ओयं चित्तं समादाय झाणं समुप्पज्जइ।
धम्मे ठिओ अविमणो निव्वाणमभिगच्छइ।। (दशा० ५ : १)

राग-द्वेष रहित निर्मल चित्तवृत्ति को धारण करने से जीव धर्म-ध्यान को प्राप्त करता है। जो शंकारहित मन से धर्म में स्थित होता है, वह निर्वाण-पद की प्राप्ति करता है।

२. ण इमं चित्तं समादाय भुज्जो लोयंसि जायइ।
अप्पणे उत्तमं ठाणं सन्नि-णाणेण जाणइ।। (दशा० ५ : २)

इस प्रकार द्वेषरहित निर्मल चित्त को धारण करने वाला मनुष्य इस लोक में बार-बार जन्म नहीं लेता; वह संज्ञि-ज्ञान से अपने उत्तम स्थान को जान लेता है।

३. अहातच्चं तु सुमिणं खिपं पासेति संवुडे।
सव्वं वा ओहं तरति दुक्ख-दोय विमुच्चइ।। (दशा० ५ : ३)

संवृतात्मा शीघ्र ही यथातथ्य स्वप्न को देखता है और सर्व प्रकार से संसाररूपी समुद्र से पार हो, शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

४. पंताइं भयमाणस्स विवित्तं सययणासणं।
अप्पाहारस्स दंतस्स देवा दंसेंति ताइणो।। (दशा० ५ : ४)

जो अन्त-प्रान्त आहार का भोजन करने वाला होता है, जो एकांत शयनासन का सेवन करता है, जो अल्पाहारी और दांत—इन्द्रियों को जीतनेवाला होता है तथा जो षट्काय के जीवों का त्राता होता है, उसे देव शीघ्र ही दर्शन देते हैं।

५. सव्व-काम-विरत्तस्स खमणो भया-भेरवं।
तओ से ओही भवइ संजयस्य तवस्सिणो।। (दशा० ५ : ५)

जो सर्व काम से विरक्त होता है, जो भय-भैरव को सहन करता है, उस संयमी और तपस्वी मुनि के अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।

६. तवसा अवहट्टुलेस्सस्स दंसणं परिसुज्झइ।
उड्डं अहे तिरियं च सव्वमणुपस्सति।। (दशा० ५ : ६)

जो तप से अशुभ लेश्याओं को दूर हटा देता है, उसका अवधिदर्शन विशुद्ध—निर्मल—हो जाता है और फिर वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक के जीवादि पदार्थों को सब तरह से देखने लगता है।

७. सुसमाहियलेस्सस्स अवितक्कस्स भिक्खुणो।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स आया जाणाइ पज्जवे।। (दशा० ५ : ७)

जो साधु भली प्रकार स्थापित शुभ लेश्याओं को धारण करने वाला होता है, जिसका चित्त तर्क-वितर्क से चंचल नहीं होता—इस तरह जो सर्व प्रकार से विमुक्त होता है, उसकी आत्मा मन के पर्यवों को जान लेती है—उसे मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है।

८. जया से णाणावरणं सव्वं होइ खयं गयं।
तओ लोगमलोगं च जिणो जाणति केवली।। (दशा० ५ : ८)

जिसस समय मुनि का ज्ञानावरणीय कर्म सब प्रकार से क्षय-गत हो जाता हे, उस समय वह केवलज्ञानी और जिन हो लोक-अलोक को जानने लगता है।

९. जया से दरसणावरणं सव्वं होइ खयं गयं।
तओ लोगमलोग च जिणो पासति केवलि।। (दशा० ५ : ९)

जिस समय उस मुनि का दर्शनावरणीय कर्म सब प्रकार से क्षय-गत होता है, उस समय वह जिन और केवली हो लोक-आलोक को देखने लगता है।

१०. पडिमाए विसुद्धाए मोहणिज्जं खयं गयं।
असेसं लोगमलोगं च पासेत्ति सुसमाहिए।। (दशा० ५ : १०)

प्रतिमा के विशुद्ध आराधन से जब मोहनीय कर्म क्षय-गत होता है, तब सुसमाहित आत्मा अशेष—सम्पूर्ण—लोक और अलोक को देखने लगता है।

११. जहा मत्थयसूइए हंताए हम्मइ तले।
एवं कम्माणि हम्मंति मोहणिज्जे खयं गए।। (दशा० ५ : ११)

जिस तरह अग्रभाग रूपी सूची से छेदन करने पर ताल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय होने से सर्व कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

१२. सेणावतिम्मि निहते जहा सेणा पणस्सती।
एवं कम्माणि पणस्संति मोहणिज्जे खयं गए।। (दशा० ५ : १२)

जिस प्रकार सेनापति के मारे जाने पर सारी सेना नाश को प्रापत होती है, उसी तरह मोहनीय कर्म के क्षय होने पर सर्व कर्म नाश को प्राप्त होते हैं।

१३. धूमहीणो जहा अग्गी खीयति से निरिंधणे।
एवं कम्माणि खीयंती मोहणिजजे खयं गए।। (दशा० ५ : १३)

जिस तरह अग्नि ईंधन के अभाव में धूमरहित होकर क्रमशः क्षय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय होने पर सर्व कर्म नाश को प्राप्त होते हैं।

१४. चिच्चा ओरालियं बोंदिं नामगोयं च केवली।
आउयं वेयणिज्ज च छित्ता भवति नीरए।। (दशा० ५ : १६)

केवली भगवान् इस शरीर को छोड़कर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म का छेदन कर कर्म-रज से सर्वथा रहित होता है।

१५. एवं अभिसमागम्म चित्तमादाय आउसो।
सेणि-सुद्धिमुवागम्म आया सुद्धिमुवागई।। (दशा० ५ : १७)

हे शिष्य ! इस प्रकार समाधि के भेदों को जान, राग और द्वेष से रहित चित्त को धारण करने से शुद्धि-श्रेणी को प्राप्त कर आत्मा शुद्धि को प्राप्त करता है।

१३. सिद्धि-क्रम

१. जया जीवे अजीवे य दो वि एए वियाणई।
तया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणई।। (द० ४ : १४)

जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनों को अच्छी तरह जान लेता है तब सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है।

२. जया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणई।
तया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणई।। (द० ४ : १५)

जब मनुष्य सर्व जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है तब पुण्य, पाप, बन्ध, और मोक्ष भी जान लेता है।

३. जया पुण्णं च पाव च बंधं मोक्खं च जाणई।
तया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे।। (द० ४ : १६)

जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है तब जो भी देवों और मनुष्यों के काम-भोग हैं, उन्हें जानकर उनसे विरक्त हो जाता है।

४. जया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं सब्भितबाहिरं।। (द० ४ : १७)

जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है, तब वह अन्दर और बाहर के संयोग—सम्बन्धों को छोड़ देता है।

५. जया चयइ संजोगं सब्भिंतरबाहिरं।
तया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणागारिय।। (द० ४ : १८)

जब मनुष्य बाहर और भीतर के सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता हे, तब मुण्ड हो अनगार वृत्ति को धारण करता है।

६. जया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारियं।
तया संवरमुक्कट्ठ धम्मं फासे अणुत्तरं।। (द० ४ : १६)

जब मनुष्य मुण्ड हो अनगार वृत्ति को धारण करता है, तब वह उत्कृष्ट संयम युक्त अणुत्तर धर्म का स्पर्श करता है।

७. जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं।। (द० ४ : २०)

जब मनुष्य उत्कृष्ट संयमयुक्त अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब वह अबोधि रूप पाप द्वारा संचित की हुई कर्म-रज को धुन डालता है।

८. जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छई।। (द० ४ : २१)

जब मनुष्य अबोधि रूप पाप द्वारा संचित की हुई कर्म-रज को धुन डालता है, तब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

९. जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छई।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली।। (द० ४ : २२)

जब मनुष्य सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब वह जिन (केवली) लोक अलोक को जान लेता है।

१०. जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जए।। (द० ४ : २३)

जब मनुष्य जिन (केवली) होकर अलोक को जान लेता है, तब योगों का निरोध कर वह शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है।

११. जया जाने निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जई।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ।। (द० ४ : २४)

जब मनुष्य योगों का निरोध कर शैलीशी अवस्था को प्राप्त होता है, तब वह कर्मों का क्षय कर नीरज हो सिद्धि को प्राप्त होता है।

१२. जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोग मत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ।। (द० ४ : २५)

जब मनुष्य सर्व कर्मों का क्षय कर नीरज हो सिद्धि को प्राप्त करता है, तब वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है।

१३. सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा जं छेयं तं समायरे।। (द० ४ : ११)

जीव सुनकर कल्याण को जानता है और सुनकर ही पाप को जानता है। पाप और कल्याण दोनों सुनकर ही जाने जाते हैं। सुनकर मनुष्य जो श्रेय हो उसका आचरण करे।

१४. सिद्धि और उनके सुख

१. असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य णाणे य।
सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं।। (औ० १६५ : ११)

सिद्ध शरीररहित होते हैं। वे चैतन्यघन होते हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन से संयुक्त होते हैं। साकार और अनाकार उपयोग उनका लक्षण होता है।

२. केवणाणुवउत्ता जाणंती सव्वभावगुणभावे।
पासंति सव्वओ खलु केवलदिट्ठीहि णंताहिं।। (औ० १६५ : १२)

सिद्ध केवलज्ञान से संयुक्त होने से सर्वभाव, गुणपर्याय को जानते हैं और अपनी अनन्त केवल दृष्टि से सर्वतः देखते हैं।

३. णवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं ण वि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं।।
(औ० १६५ : १३)

न मनुष्य के ऐसा सुख होता है और न सब देवों के, जैसा कि अव्याबाध गुण को प्राप्त सिद्धों के होता है।

४. जह णाम कोइ मिच्छो नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।
न चएइ परिकहेउं उवमाए तहिं असंतीए।।
इय सिद्धाणं सोक्खं अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं।
किंचि विसेसेणेत्तो ओवम्ममिणं सेणह वोच्छं।।
(औ० १६५ : १६, १७)

जैसे कोई म्लेच्छ नगर की अनेक विध विशेषता को देख चुकने पर भी वहां—जंगल में—उपमा न मिलने से उनका वर्णन नहीं कर सकता, इसी तरह सिद्धों का सुख अनुपम होता है। उसकी तुलना नहीं हो सकती।

५. जह सव्वकामगुणियं पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोई।
तण्हाछुहाविमुक्को अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो।।
इय सव्वकालतित्ता अउलं निव्वणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता।।
(औ० १६५ : १८, १६)

जिस प्रकार सर्व प्रकार के पांचों इन्द्रियों के भोगों को प्राप्त हुआ मनुष्य भोजन कर, क्षुधा और प्यास से रहित हो अमृत पीकर तृप्त हुए मनुष्य की तरह होता है, उसी तरह अतुल निर्वाण प्राप्त सिद्ध तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुख को प्राप्त कर अव्याबाधित सुखी रहते हैं।

६. सिद्धत्ति य बुद्धत्ति य पारगयत्ति य परंपरगयत्ति।
उम्मुक्क-कम्म-कवया अजरा अमरा असंगा य।।
(औ० १६५ : २०)

सर्व कार्य सिद्ध होने से वे सिद्ध हैं, सर्व तत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं, संसार-समुद्र को पार कर चुके होने से पारंगत हैं, हमेशा सिद्ध रहेंगे इससे परंपरागत हैं। वे कर्म-बन्धन से मुक्त हैं, वे अजर, अमर और निःसंग हैं।

७. णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं अणुहोंती सासयं सिद्धा।।
(औ० १६५ : २१)

वे सब दुःखों को छेद चुके होते हैं। वे जन्म, जरा और मरण के बन्धन से विमुक्त होते हैं। वे अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं।

८. अतुलसुहसागरगया अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता।
सव्वमणागयमद्धं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता।। (औ० १६५ : २२)

वे अतुल सुख-सागर को प्राप्त होते हैं, वे अनुपम अव्याबाध सुख को प्राप्त हुए होते हैं। अनन्त सुख को प्राप्त हुए वे अनन्त सुखी वर्तमान अनागत सभी काल में वैसे ही सुखी रहते हैं।

१५. मुक्तात्मा और निर्वाण

१. जाइ-जर-मरण-रहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेज्जं।। (नि० सा० १७७)

मुक्त आत्मा जन्म, जरा और मरण से रहित है। यह उत्कृष्ट, आठ कर्मों से रहित और शुद्ध है। वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य—इन चार आत्मिक स्वभावों से युक्त है। वह क्षयरहित, विनाशरहित तथा अछेद्य है।

२. अव्वावाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालम्बं।। (नि० सा० १७८)

मुक्त आत्मा बाधा-रहित है, अतीन्द्रिय है, अनुपम है, पुण्य और पाप से निर्मुक्त है, पुनः संसार में आगमन से रहित है, नित्य है, अचल है, अनालम्बन है।

३. णवि दुःक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।
(नि० सा० १७९)

जहाँ न तो कोई दुःख है, न सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है, वहीं निर्वाण है।

४. विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं।। (नि० सा० १८२)

मुक्तात्मा में केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलवीर्य, अमूर्तत्व, अस्तित्व और प्रदेशत्व—ये गुण रहते हैं।

५. णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोग्गपज्जंतं।। (नि० सा० १८३)

मुक्त जीव ही निर्वाण है और निर्वाण ही मुक्त जीव है, ऐसा कहा है। जो आत्मा कर्मों से मुक्त होती है, वह मुक्त होते ही ऊपर लोक के अग्र भाग तक जाती है।

६. जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायऽभावे तत्तो परदो ण गच्छंति।। (नि० सा० १८४)

जहाँ तक धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य है वहीं तक जीव और पुगद्लों का गमन जानो। लोक के अग्रभाग से आगे धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य का अभाव है। इसलिए उससे आगे मुक्त जीव नहीं जाते।

टिप्पणी

(पृ० ३६१ से सम्बन्धित)

१. ज्ञानावरणीय कर्म—आत्मा की ज्ञान-शक्ति को प्रगट होने से रोके, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। ज्ञान पाँच तरह के होते हैं : (१) इन्द्रिय व मन के सहारे से जो ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान, (२) शास्त्रों के अध्ययन व सुनने से जो ज्ञान होता है, व श्रुतिज्ञान; (३) किसी सीमा के अन्दर के पदार्थों का इन्द्रिय आदि के सहारे बिना ही जो ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान; (४) बिना इन्द्रिय आदि की सहायता के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का ज्ञान होना मनःपर्यवज्ञान और (५) पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान—केवलज्ञान—इस तरह ज्ञान के पाँच भेद हैं।

२. दर्शनावरणीय कर्म—दर्शन—आत्मा को देखने की शक्ति को रोकनेवाले कर्म को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। निद्रा—सजग नींद; निद्रानिद्रा—कठिनाई से जागने वाली नींद; प्रचला—बैठे-बैठे या खड़े-खड़े नींद आना; प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते नींद का आना; स्त्यानगृद्धि—दिन में विचारे हुए काम को नींद में ही कर डालना—नींद के ये पाँच भेद हैं। पाँचों प्रकार के निद्रा-भाव दर्शनावरणीय कर्म के उसी नाम के उपभेद के उदय से होते। निद्रा के भेदों के अनुसार ही इन उपभेदों के नाम निद्रा दर्शनावरणीय आदि कर्म हैं।

चक्षुदर्शन—आँख के द्वारा पदार्थों का सामान्य बोध होना। अवधि अचक्षुदर्शन—आँख बिना त्वचा, कान, जिह्वा आदि से पदार्थों का सामान्य बोध और मन के सहारे बिना ही किसी खास सीमा के अन्दर रहे रूपी पदार्थों का सामान्य बोध। केवलदर्शन—सम्पूर्ण पदार्थों का पूर्ण सामान्य बोध। दर्शनावरणीय कर्म चारों प्रकार के दर्शनों का अवरोध करता है।

३. वेदनीय कर्म—जिस कर्म के सुख-दुःख का अनुभव होता हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। सुखात्मक व दुःखात्मक अनुभूति के भेद से यह कर्म साता वेदनीय व असाता वेदनीय दो प्रकार का होता है।

४. मोहनीय कर्म—जो कर्म आत्मा को मोह-विह्वल करे, स्व-पर विवेक में बाधा पहुँचावे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। आत्मा के सम्यक्त्व या चरित्र-गुण की घात करने से यह कर्म दर्शन व चरित्र मोहनीय दो तरह का होता है।

५. आयुकर्म—जो कर्म प्राणी की जीवन-अवधि—आयु को निर्धारित करे उसे आयु कर्म कहते हैं। जीव की नरकादि गति के अनुसार आयु कर्म के चार भेद हैं।

६. नामकर्म—जो कर्म प्राणी की गति, शरीर, परिस्थिति आदि का निर्मायक हो उसे नामकर्म कहते हैं। शुभ-अशुभ भेद से यह दो तरह का है।

७. गोत्र कर्म—वह कर्म है जो मनुष्य के ऊँच-नीच कुल का निर्धारण करे।

८. अन्तराय कर्म—जो कर्म दान, लाभ, भोग-उपभोग, पराक्रम—इन चार बातों में रुकावट डाले, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

: ३८ :

क्रान्त वाणी

१. जातिवाद

१. से असइं उच्चागोए असइं णीयागोए[1]।
णो हीणे णो अइरित्ते[2] णो पीहए।। (आ० २, (३) : ४६)

यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में उत्पन्न हुआ है और अनेक बार नीच गोत्र में। इससे न कोई हीन हुआ और न अतिरिक्त (बड़ा)। जीव सदा असंख्यात प्रदेशी ही रहा और उसका भव-भ्रमण नहीं छूटा। (जिसका सम्बन्ध भव-भ्रमण के साथ है) उस उच्च गोत्र की स्पृहा मत करो।

२. इति संखाय के गोयावादी ? के माणावादी ?
कसि वा एगे गिज्झे ? ? (आ० २ (३) : ५०)

यह विचार कर कौन अपने गोत्र का वाद करेगा (ढिंढोरा पिटेगा) ? कौन उसका अभिमान करेगा ? वह किस एक वाद में गृद्ध (आसक्त) होगा ?

३. तम्हा पंडिए णो हरिसे णो कुज्झे। (आ० २ (३) : ५०)

अतः पण्डित (अपने उच्च गोत्र का) हर्ष न करे, न (नीच गोत्र के कारण) दूसरे के प्रति कुपित हो।

४. णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तणं पुण उवेइ।
जीवाणं खु कुलाइं पधियस्स व विस्समंताणं।।
(भग० आ० १२२८)

नीच उच्च हो जाता है। और उच्च पुनः नीचत्व को प्राप्त कर लेता है। जीवों के लिए कुल पथिकों के विश्राम-स्थल की तरह है।

---

१. कालमणंतं णीचागोदो होदूण लहइ सुगिमुच्चं।
जोणीमिदससलागं ताओ वि गदा अतंणाओ।। भग० आ० १२३०

२. उच्चासु व णीच्चासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स।
बुद्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव।। भग० आ० १२२६

५. बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चतम्मि विब्भओ णाम।
बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्खं।।
(भग० आ० १२३१)

इस जीव ने बहुत बार उच्च गोत्र पाकर छोड़ा है। अब उच्च गोत्र मिला है, तो उसमें क्या विस्मय है? बहुत बार नीच गोत्र को पाकर छोड़ा हे। अब उसे पाकर दुःख क्यों?

६. उच्चत्तणम्मि पीदी संकप्पवसेण होइ जीवस्स।
णीचत्तणे ण दुक्खं तह होइ कसायबहुलस्स।। (भग० आ० १२३२)

जीव को उच्च गोत्र में प्रीति संकल्प के वश होती है नीच गोत्र में दुःख कषाय-बहुल को होता है।

७. उच्चत्तणं व जो णीचत्तं पिच्छेज्ज भावदो तस्स।
उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज।।(भग० आ० १२३३)

जो उच्च और नीच गोत्र को समान भाव से देखता है उसे उच्चत्व की तरह नीचत्व में भी प्रीति क्यों नहीं होगी?

८. णीचत्तणं व जो उच्चत्तं पेच्छेज्ज भावदो तस्स।
णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्खं ण किं होज्ज।।(भग० आ० १२३४)

जो नीचत्व और उच्चत्व को समान भाव से देखता है, उसे नीचत्व की तरह उच्चत्व में दुःख क्यों नहीं होगा?

९. तह्मा ण उच्चणीचत्तणाइं पीदिं करैति दुःक्खं वा।
संकप्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स।।(भग०आ० १२३५)

अतः उच्चत्व प्रीति उत्पन्न नहीं करता और न नीचत्व दुःख। जीव का संकल्प ही प्रीति करता है अथवा दुःख।

१०. कुणदि य माणो णीचागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु।(भग० आ० १२३६)

अभिमान मनुष्य को अनेक भवों में नीच गोत्र प्राप्त कराता है।

११. सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसई जइविसेस कोई।
(उ० १२ : ३७)

तप की विशेषता तो साक्षात् दीख रही है, जाति की कोई विशेषता नहीं देखी जाती।

२. प्रशस्त यज्ञ और स्नान

१. कहं चरे ? भिक्खु ! वयं जमायो ? पावाइ कम्माइ पणोल्लयामो।
अक्खाहि णे संजय ! जक्खपूइया ! कहं सुजट्ठं कुसला वयन्ति।।
(उ० १२ : ४०)

"हे भिक्षो ! हम किस प्रकार प्राचरण करें, किस प्रकार यज्ञ करें, जिससे पाप-कर्मों का उन्मूलन कर सकें ? यक्ष-पूजित संयत ! आप हमें कहें—कुशल पुरुष सु-इष्ट (श्रेष्ठ यज्ञ) किसे कहते हैं।"

२. छज्जीवकाए असमारभन्ता मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता।।
(उ० १२ : ४१)

(विशुद्ध यज्ञ की कामना करनेवाले) छः प्रकार के जीवकाय का समारम्भ—हिंसा न करते हुए, झूठ और चोरी का सेवन न करते हुए, परिग्रह, स्त्रियाँ और मान-माया का परित्याग करते हुए दमितेन्द्रिय होकर विचरें।

३. सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं इह जीवियं अणवकखमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो महाजयं जयई जन्नसट्ठं।।
(उ० १२ : ४२)

"जो पाँच संवरो से सुसंवृत है, जो असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करता, जो काया का व्युत्सर्ग करता है तथा जो पवित्र और त्यक्त-देह है वह ही महाजय का हेतु श्रेष्ठ यज्ञ करता है।"

४. के ते जोई ? के व ते जोइठाणे ? का ते सुया ? किं व ते कारिसंगं ?।
एहा य ते कयरा सन्ति ? भिक्खू ! कयरेणु होमेण हुणासि जाइं ?।।
(उ० १२ : ४३)

"हे भिक्षो ! तुम्हारी ज्योति (अग्नि) कौन-सी है ? तुम्हारा ज्योति-स्थान (अग्नि-कुण्ड) कौन-सा है ? तुम्हारी करछियाँ कौन-सी हैं ? तुम्हारे कण्डे कौन-से हैं ? तुम्हारा ईंधन कौन-सा है ? तुम्हारा शान्तिपाठ कौन-सा है ? तुम किस प्रकार के होम से ज्योति में हवन करते हो ?"

५. तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोगसन्ती होमं हुणामी इसिणं पसत्थं।।
(उ० १२ : ४४)

"तप ज्योति है, जीव ज्योति-स्थान है। मन, वचन, काया के शुभ योग-करछियाँ हैं, शरीर कारिषांग—कण्डे हैं, कर्म ईंधन है, संयमयोग शान्तिपाठ है। ऐसे ही होम से मैं हवन करता हूँ। ऋषियों ने ऐसे ही होम को प्रशस्त कहा है।"

६. के ते हरए ? के य ते सन्तितित्थे ? कहिंसि ण्हासो व रयं जहासि ?।
आइक्ख णे संजय ! जक्खपूइया ! इच्छामो नाउं भवओ सगासे।।
(उ० १२ : ४५)

"तुम्हारा ह्रद कौन-सा है ? तुम्हारा शान्ति-तीर्थ कौन-सा है ? तुम किसमें स्नान कर कर्म-रज का त्याग करते हो ? यक्ष-पूजित संयत ! हम तुमसे जानना चाहते हैं, तुम बताओ ।"

७. धम्मे हरए बम्भे संतितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हासो विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं।।
(उ० १२ : ४६)

"अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न लेश्या वाला धर्म मेरा ह्रद—जलाशय है। ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, जहाँ नहाकर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्मरज का त्याग करता हूँ।

८. एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहिंसि ण्हाया विमला विसुद्धा महारिसी उत्तम ठाण पत्त।।
(उ० १२ : ४६)

"यह स्नान कुशल पुरुषों द्वारा-दृष्ट है और यही महास्नान ऋषियों के लिए प्रशस्त है। इस धर्म-हद में स्नान कर विमल और विशुद्ध होकर महर्षि उत्तम स्थान को प्राप्त हुए हैं।

[२]

१. उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति सायं च पातं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि।।
(सू० १, ७ : १४)

जो सुबह और शाम जल का स्पर्श करते हुए—जल-स्नान में मुक्ति बतलाते हैं, वे तत्त्व को नहीं जानते। यदि जल-स्पर्श से ही सिद्धि होती हो तो जल में रहने वाले बहुत जीव मोक्ष प्राप्त करें।

२. उदगं जती कम्ममलं हरेज्जा एवं सुहं इच्छामित्तमेव।
अंधं व णेयारमणुस्सरंत्ता पाणापि चेवं विणिहंति मंदा।।
(सू० १, ७ : १६)

जैसे जल से पाप-मल दूर होता होगा वैसे ही पुण्य क्यों नहीं धुलता होगा ? जल-स्नान से पाप- मल धुलने की बात मनोकल्पना मात्र है। जिस तरह अन्धा पुरुष

अन्धे पुरुष का अनुसरण कर अभिप्रेत स्थान को नहीं पहुँच सकता, उसी तरह स्नान आदि से मोक्ष मानने वाले मूर्ख प्राणियों की घात करते हुए सिद्धि नहीं पा सकते।

३. हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति सायं च पायं अगणिं फुसंता।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तेसिं अगणिं फुसंताण कुकम्मिणं पि।।
(सू० १, ७ : १८)

मूढ़ मनुष्य सुबह और संध्या अग्नि का स्पर्श करते हुए हुताशन से सिद्धि बतलाते हैं। अगर इस तरह से मुक्ति मिले तब तो रात-दिन अग्नि का स्पर्श करने वाले लोहारादि कर्मी भी मोक्ष प्राप्त करेंगे।

४. अपरिच्छ दिट्ठिं ण हु एव सिद्धी एहिंति ते घातमबुज्झमाणा।
भूतेहिं जाण पडिवेह सातं विज्ज गहाय तसथावरेहिं।।
(सू० १, ७ : १९)

जो स्नान और होमादि से सिद्धि बतलाते हैं, वे आत्मार्थ को नहीं पहचानते। इस तरह मुक्ति नहीं होती। वे परमार्थ को समझे बिना प्राणी.हिंसा कर संसार में भ्रमण करेंगे। विवेकी पुरुष त्रस-स्थावर सब जीव सुख चाहते हैं'—इस तत्त्व को ग्रहण कर वर्तन करते हैं।

३. परमार्थ

१. जो सहस्सं सहस्सणं मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ अदिंतस्स वि किंचण।। (उ० ६ : ४०)

प्रतिमास दस-दस लाख गायों का दान देनेवाले से कुछ भी न देनेवाले संयमी का संयम श्रेष्ठ है।

२. चीराजिणं नगिणिणं जडी-संघाडि-मुण्डिणं।
एयाणि वि न तायंति दुस्सीलं परियागयं।। (उ० ५ : २१)

वल्कल के चीर, मृग-चर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटी, सिर-मुण्डन इत्यादि नाना वेष दुराचारी पुरुष की जरा भी रक्षा नहीं कर सकते।

३. पिण्डोलए व दुस्सीले नरगाओ न मुच्चई।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कम्मई दिवं।। (उ० ५ : २२)

भिक्षा माँगकर जीवन चलाने वाला भिक्षु भी अगर दुराचारी है तो दुराचारी है तो नरक से नहीं बच सकता। भिक्षु हो या गृहस्थ, जो सुव्रती—सदाचारी होता है वह स्वर्ग को प्राप्त करता है।

४. पडंति नरए धोरे जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति चरित्ता धम्ममारियं।। (उ० १८ : २५)

जो मनुष्य पाप करने वाले हैं वे घोर नरक में गिरते हैं और आर्य-धर्म—सत्य-धर्म का पालन करने वाले दिव्य गति में जोते हैं।

५. एगओ विरइं कुज्जा एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं।। (उ० ३१ : २)

मुमुक्षु एक बात से विरति करे और एक बात में प्रवृत्ति। असंयम—हिंसादिक से निवृत्ति करे और संयम—अहिंसादि में प्रवृत्ति।

६. किरियं च रोयए धीरे अकिरियं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्ने धम्मं चर सुदुच्चरं।। (उ० १८ : ३३)

धीर पुरुष क्रिया में रुचि करे और अक्रिया को छोड़ दे तथा सम्यक्दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न होकर सुदुष्कर धर्म का आचरण करे।

४. अनाथ

१. जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं सम्मं नो फासयई पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे न मूलओ छिंदइ बंधणं से।।
(उ० २० : ३६)

जो प्रव्रजित हो बाद में प्रमाद के कारण महाव्रतों का समुचित रूप से पालन नहीं करता, जो आत्मनिग्रही नहीं होता और रस में गृद्ध होता है, वह संसार-बंधन की जड़ों को मूल से नहीं उखाड़ सकता।

२. चिर पि से मुण्डरुई भवित्ता अथिर व्वए तवनियमेहि भट्ठे।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता न पारए होइ हु सपराए।।
(उ० २० : ४१)

जो व्रतों में स्थिर नहीं होता और तप के नियमों से भ्रष्ट होता है, वह चिरकाल से मुंडन में रुचि रखते हुए भी और चिरकाल तक आत्मा को क्लेश पहुँचाने पर भी इस संसार का पार नहीं पाता।

३. पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे अयंतिए कुडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे अमहग्घए होइ य जाणएसु।।
(उ० २० : ४२)

जिस तरह पोली मुट्ठी और अयंत्रित—बिना छाप का खोटा—सिक्का असार होता है, उसी तरह जो व्रतों में स्थिर नहीं होता उसका गुणहीन वेष असार होता है। वैडूर्य मणि की तरह प्रकाश करता हुआ भी काँच जानकार के सामने मूल्यवान नहीं होता।

४. विसं तु पीयं जह कालकूडं हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसे व धम्मो विंसओववन्नो हणाइ वेयालं इवाविवन्नो।।
(उ० २० : ४४)

जिस तरह पिया हुआ कालकूट विष पीनेवाले का हनन करता है, जिस तरह उल्टा ग्रहण किया हुआ शस्त्र शस्त्रधारी का घात करता है और जिस तरह विधि से वश नहीं किया हुआ वैताल मन्त्रधारी का विनाश करता है, उसी तरह विषयों से युक्त धर्म आत्मा के पतन का ही कारण होता है।

५. न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो।।
(उ० २० : ४८)

दुरात्मा अपना जो अनिष्ट करता है, वह कण्ठछेद करनेवाला वैरी भी नहीं करता। दुराचारी अपनी आत्मा के लिए सबसे बड़ा दयाहीन होता है, पहले उसे अपने कर्मों का भान नहीं होता परन्तु मृत्यु के मुख में पहुँचते समय वह पछताता हुआ इस बात को जान सकेगा।

६. उदगस्स प्पभावेणं सुक्कम्मि घातमेति उ।
ढंकेहि य कंकेहि य आमिसत्थेहिं ते दुही।।
एवं तु समणा एगे वट्टमाणसुहेसिणो।
मच्छा वेसालिया चेव घायमेसंतणंतसो।।
(सू० १, १ (३) : ३,४)

बाढ़ आने पर जल के प्रभाव से सूखे स्थान को प्राप्त वह वैशालिक मत्स्य मांसार्थी ढंक और कंक के द्वारा घात को प्राप्त होता है, वैसे ही वर्तमान सुख की ही इच्छा रखने-वाले जो श्रमण हैं, वे मरने के बाद, सूखी भूमि पर वैशालिक मत्स्य की तरह, अनन्त वार घात को प्राप्त होते हैं।

ग्रंथ-सूची

अनुयोगद्वार—आर्यरक्षित सूरि; प्रका० देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, वि० सं० २०१६।

आचारांग—अंगसुत्ताणि (खं० १)—आयारो, पृष्ठ १-७६, वाचना-प्रमुख आचार्य तुलसी; संपादक, मुनि नथमल, प्रका० जैन विश्व भारती, लाडनूँ, वि० सं० २०३१।

आचारांग चूला—वही; पृ० ८१-२५०

आवश्यक—प्रका० आगमोदय समिति, बम्बई; वि० सं० १९८४।

आवश्यकनिर्यक्ति—भद्रबाहु द्वितीय, उपरोक्त।

इसिभासियम्—

उत्तराध्ययन—उत्तरज्झययाणि, वाचना-प्रमुख आचार्य तुलसी; संपादक, मुनि नथमल, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, ३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट कलकत्ता-१, सन् १९६७।

कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा—(१) षट्प्राभृतादिसंग्रह, पृष्ठ ४२५ से ४४२, सं० पन्नालाल सोनी प्रका० माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, वि० सं० १९७७।
(२) कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह, पृष्ठ १३६ से १५३, सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर; १९६०।

दशवैकालिक—दसवेआलियं, वाचना-प्रमुख आचार्य तुलसी; संपादक, मुनि नथमल; जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१; संवत् २०२०।

दशाश्रुतस्कन्ध—मणिविजयगणि ग्रंथमाला, भावनगर, सं० २००१।

द्रव्य-संग्रह—श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती।

द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा)—सं० ए० एन० उपाध्ये, एवं कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका० श्री परमश्रुत प्रभावक श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्री मद्रराजचन्द्र आश्रम, अगास, वि० सं० २०१६।

औपपातिक—ओववाइयं, वाचना-प्रमुख—आचार्य तुलसी; सम्पादक—मुनि नथमल; जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता:

गोमट्टसार (जीवकांड)—श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, अं० सं० जे० एल० जैनी, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, सन् १९२७।

धवला (षट् खंडागम)—वीरसेनाचार्य; सं० फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; प्रका०, भारत दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा; संवत् २००० से २०२२।

नियमसार—श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य, अनु० श्री मगनलाल जैन, प्रका० श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, ६२-६४, धनश्री स्ट्रीट, बम्बई-३, सन् १९६०।

पंचास्तिकाय (पंचास्तिकाय प्राभृत)—आ० कुन्दकुन्द; (१) टी० आ० अमृतचन्द्र सूरि, प्रका० शांतिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, शांति वीरनगर, श्री महावीरजी, वि० सं० २०२१। (२) सं० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, वि० सं० २०३२।

प्रवचनसार—श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य, अनु० पं० मनोहरलाल, प्रका० श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, वि० सं० १९६९। (२) सं० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० श्री रावजी भाई छगनभाई देसाई, वि० सं० २०२१।

बोध पाहुड—विवरण 'मोक्ष पाहुड' में देखिए।

भगवती आराधना—आचार्य शिवकोटि, अनु० पं० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले, प्रका० धर्मवीर रावजी सखाराम दोशी, फलटण गली, शोलापुर, सन् १९५५।

भगवई—अंगसुत्ताणि (खं० २), वाचना-प्रमुख आचार्य तुलसी, सं० मुनि नथमल, प्रका० जैन विश्वभारती, लाडनूँ, वि० सं० २०३१।

निशीथचूर्णि—ले० जिनदास महत्तर, सं० अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९५७।

मूलाचार—(१) श्री वट्टकेर स्वामी विरचित; सं० पं० मनोहर शास्त्री; मुनि अनन्त-कीर्ति दि० जैन ग्रन्थमाला; जैन ग्रंथ उद्धारक कार्यालय, बम्बई; सं० १९७६।
(२) श्रीमद् वट्टकेराचार्य विरचित, सं० सोनी पं० पन्नालाल और पं० गजाधर लाल श्रीलाल, प्रका० माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला समिति, वि० सं० १९७७।
(३) कुन्दकुन्दाचार्य विरचित, अनु० पार्श्वनाथ फडकुले शास्त्री, प्रका० श्रुत भंडार व० ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन, सातरा, वी० सं० २४८४।

मोक्ष (आदि) पाहुड—अचार्य कुन्दकुन्द, (१) अष्टपाहुड, अनु० जयचन्दजी छाबड़ा, प्रका० श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ (राजस्थान), सन् १९५०।
(२) षट्प्राभृतादि संग्रह, सं० पं० पन्नालाल सोनी, प्रका० श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, समिति, वि० सं० १९०७।
(३) कुन्दकुन्द प्राभृतसंग्रह, सं० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, प्रका० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७०।
(४) अनु० पारसदास जैन न्यायतीर्थ, प्रका० भारतवर्षीय अनाथरक्षक सोसायटी, दरियागंज दिल्ली, सन् १९४३।

विशेषावश्यक भाष्य—ले० जिनभद्रगणि, क्षमाश्रमण, दिव्यर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, सं० १९९४।

समयसार—आ० कुन्दकुन्द, कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह, पृ० १९३ से २६६।

समण-सुत्तं—प्रका० सर्वसेवा संघ, वाराणसी, सन् १९७५।

सूत्रकृतांग—अंगसुत्ताणि (खं० १)—सूयगडो, पृष्ठ २५१-४८६; वाचना-प्रमुख आचार्य तुलसी; संपादक, मुनि नथमल; प्रका० जैन विश्व भारती, लाडनूँ, प्रकाशन-संवत् वि० सं० २०३१।

■■■